हिंदी भाषा श्रौर साहित्य

हिंदी भाषा और साहित्य

लेखक

श्यामसुंदरदास

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९८७

प्रथम संस्करण

मूल्य ६)

भूमिका

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि हिंदी भाषा और साहित्य का एक छोटा सा इतिहास लिखूँ। हिंदी भाषा का इतिहास तो, कई वर्ष हुए, लिख लिया गया था, पर साहित्य का इतिहास अब तक न लिखा जा सका था। हिंदी भाषा का इतिहास पहले पहल पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, पर वह केवल डाक्टर ग्रियर्सन के अनुसंधानों के आधार पर लिखा गया था। उस समय द्विवेदीजी ने अपने स्वतंत्र विचारों, अनुभवों और अनुसंधानों से विशेष काम नहीं लिया था। इससे जैसा चाहिए, वैसा वह न हो सका था। इसके अनंतर पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने एक इतिहास लिखा था पर उसमें भाषा और साहित्य का ऐसा सम्मिश्रण हुआ कि दोनों के इतिहास को अलग अलग करना बहुत कठिन था। मेरी इस वर्तमान पुस्तक में हिंदी भाषा के इतिहास का जो अंश दिया गया है वह पहले पहल "भाषा विज्ञान" नामक पुस्तक के अंतिम अध्याय के रूप में तथा साथ ही अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उसके अनंतर वह परिवर्धित और संशोधित होकर हिंदी शब्दसागर की प्रस्तावना के प्रथम अंश के रूप में प्रकाशित हुआ। अब यह आवश्यक परिवर्तनों तथा संशोधनों के साथ स्वतंत्र रूप से इस पुस्तक के प्रथम अंश की भाँति प्रकाशित किया जाता है। इस इतिहास के लिखने में मुझे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, यह मेरे कहने की बात नहीं है। यह तो विद्वानों के विचार और सम्मति के आश्रित

है। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यद्यपि भाषा और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ संबंध है और दोनों का अलग अलग विवेचन करना कठिन है, फिर भी जहाँ तक मुझसे हो सका है, मैंने दोनों को अलग अलग रखकर उनका विवेचन किया है।

हिंदी साहित्य का इतिहास पहले पहल शिवसिंह सेंगर ने लिखा था। उस समय न इतनी सामग्री ही उपलब्ध थी और न विवेचन का वर्तमान ढंग ही सम्मुख आया था। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शिवसिंह सेंगर का उद्योग सर्वथा स्तुत्य था। उनके इसी ग्रंथ के आधार पर डाक्टर ग्रियर्सन ने अँगरेजी में एक इतिहास लिखा था। इसकी विशेषता यह थी कि प्रमुख कवियों की कृतियों की साधारण समालोचना भी इसमें की गई थी। सन् १९०० ई० से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का काम आरंभ किया। इसके आधार पर तथा स्वतंत्र रूप से भी विशेष सामग्री का संचय करके मिश्र-बंधुओं ने तीन बड़े बड़े भागों में "मिश्रबंधुविनोद" नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ बड़े परिश्रम, खोज और अध्यवसाय से लिखा गया था। हिंदी साहित्य का विवेचन करनेवाले के लिये यह ग्रंथ बहुत आवश्यक और उपयोगी है। इसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। आनंद की बात है कि अब इसका दूसरा संस्करण भी निकल गया है और उसमें यथा-स्थान परिवर्धन और संशोधन भी किया गया है। मिश्रबंधु-विनोद के आधार पर मिस्टर की ने अँगरेजी में हिंदी साहित्य का एक छोटा सा इतिहास लिखा है। इसे हम मिश्रबंधु-

विनोद का संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं। मिस्टर ग्रीव्स ने भी हिंदी साहित्य का दिग्दर्शन एक पुस्तिका के रूप में कराया है। इसकी विशेषता यह है कि मिस्टर ग्रीव्स ने अपने स्वतंत्र विचारों से काम लिया है। इसके अनंतर पंडित रामचंद्र शुक्ल लिखित हिंदी साहित्य का इतिहास निकला है। अब यह मेरा ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। प्रश्न किया जा सकता है कि इतने ग्रंथों के रहते हुए भी मेरे इस इतिहास की क्या आवश्यकता थी। इस इतिहास के प्रस्तुत करने में मेरा उद्देश्य कवियों की कृतियों का अलग अलग विवेचन करना नहीं है। मैंने प्रत्येक युग की मुख्य मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है और यह दिखाने का उद्योग किया है कि साहित्य की प्रगति किस समय में किस ढंग की थी। इस विचार से यह अन्य इतिहासों से भिन्न है और यही इसके प्रस्तुत करने का मुख्य कारण है।

साहित्य का इतिहास भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के विकास का इतिहास है और भाषा का इतिहास उन भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के व्यंजन के ढंग का इतिहास है। जहाँ तक हो सका है, मैंने इस विभेद को ध्यान में रखकर इस पुस्तक के प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें मुझे कहाँ तक सफलता हुई है यह विद्वान् समालोचकों तथा तथ्य-परीक्षकों के विचार की बात है।

इस पुस्तक के प्रस्तुत करने का विचार मैं कई वर्षों से कर रहा था, पर कार्य की अधिकता, समय के अभाव तथा सबसे बढ़कर अस्वस्थता के कारण यह काम न हो सका। अब भी जो यह पुस्तक प्रस्तुत हो सकी, इसका अधिकांश श्रेय मेरे उन

मित्रों को है जिन्होंने अत्यंत उदारतापूर्वक इस कार्य में मेरी सहायता की है। साहित्य के तीसरे अध्याय की समस्त सामग्री राय कृष्णदास की कृपा का फल है और उसे सुचारु रूप से सजाने तथा उस निमित्त सत्परामर्श देने में रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू काशी-प्रसाद जायसवाल, रायबहादुर बाबू हीरालाल, मिस्टर एन० सी० मेहता तथा डाक्टर हीरानंद शास्त्री ने जो मुझ पर कृपा की है, उसके लिये मैं इन मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ। इसी प्रकार भाषा के इतिहास तथा साहित्य के अनेक अंशों को पढ़कर सत्परामर्श देने और आवश्यक सुधार करने की सम्मति देने के लिये मैं अपने सहाध्यापक पंडित केशवप्रसाद मिश्र का अत्यंत अनुगृहीत हूँ। परंतु समस्त पुस्तक के लिये सामग्री के इकट्ठा करने तथा उसे सुचारु रूप से सजाने में मेरी जो सहायता मेरे प्रिय शिष्य नंददुलारे वाजपेयी ने की है, उसके लिये कदाचित् इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके बिना ग्रंथ न जाने कितने वर्षों तक मेरी विचार-गुफा में ही पड़ा रहता, उसे प्रकाश में आने का शीघ्र अवसर ही न मिलता। अंत में बाबू रामचंद्र वर्मा ने समस्त पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़कर प्रेस-कापी तैयार करने तथा पंडित ललीप्रसाद पांडेय और उनके सहयोगियों ने उसके प्रूफ-संशोधन में जो मेरी सहायता की है, उसके लिये मैं इन मित्रों को भी धन्यवाद देता हूँ। अनुक्रमणिका तैयार करने का श्रेय मेरे शिष्य जग-न्नाथप्रसाद शर्मा को प्राप्त है। सारांश यह कि यदि इन सब मित्रों और शिष्यों आदि की उदार सहायता मुझे न प्राप्त होती तो यह ग्रंथ अभी बहुत दिनों तक यों ही पड़ा रहता और

प्रकाशित न हो पाता। इसलिये मैं पुन: इन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक को सुंदर रूप में प्रकाशित करने तथा उसमें अनेक चित्रों के देने में इंडियन प्रेस के स्वामियों ने उदारतापूर्वक जो व्ययसाध्य सहयोग प्रदर्शित किया है उसके लिये वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि सन् १८९३ में जो हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, हिंदी का कोश और हिंदी का व्याकरण प्रस्तुत करने का संकल्प मैंने किया था, वह इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ पूरा होता है। इनमें से प्रथम दो पुस्तकों के प्रस्तुत करने में मेरा हाथ रहा है और तीसरी पुस्तक पंडित कामताप्रसाद गुरु ने तैयार की है।

आशा है, यह इतिहास हिंदी भाषा और साहित्य का मर्म समझाने तथा उनके विकास का तथ्य अवगत करने में सहायक होगा।

काशी
ज्येष्ठ कृष्णा ५, १९८७ } श्यामसुंदरदास

अध्यायों की सूची

हिंदी भाषा

पहला अध्याय

भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ

तीसरा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

हिंदी साहित्य

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

[पृष्ठ १६७–१६५]

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ; भाव तथा कलापक्ष; भावपक्ष; कलापक्ष; विश्व साहित्य; जातीय साहित्य; हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता; हिंदी की विशेषताएँ; साहित्य की देशगत विशेषताएँ; हिंदी की देशगत विशेषताएँ; हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ; हिंदी का शब्दसमूह; हिंदी में भारतीय संगीत; हिंदी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ; प्रगतिशील साहित्य; हिंदी साहित्य का कालविभाग; कालविभाग की त्रुटियाँ; त्रुटियों का प्रतिकार।

दूसरा अध्याय

भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ

[पृष्ठ १९६–२२४]

पूर्वाभास; आदि काल—सांस्कृतिक स्थिति, राजनीतिक अवस्था; सामाजिक अवस्था; पूर्व मध्य काल—राजनीतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, मध्यकालीन धार्मिक उत्थान; उत्तर मध्य काल—राजनीतिक अवस्था, सामाजिक अवस्था, धार्मिक अवस्था; उत्तर काल—राजनीतिक स्थिति, सामाजिक अवस्था, सर्वतोमुखी प्रगति।

तीसरा अध्याय

ललित कलाओं की स्थिति

चौथा अध्याय

वीरगाथा काल

पाँचवाँ अध्याय

भक्तिमार्ग की ज्ञानाश्रयी शाखा

छठा अध्याय

प्रेममार्गी भक्ति शाखा

सातवाँ अध्याय

रामभक्ति शाखा

आठवाँ अध्याय

कृष्णभक्ति शाखा

[पृष्ठ ४०३—४२६]

कृष्णभक्ति की उत्पत्ति और विकास; विद्यापति और मीरा; अष्टछाप और आचार्य वल्लभ; सूरदास; अन्य कवि; हित हरिवंश, हरिदास, रसखान; पीछे के कृष्णभक्त; कृष्णभक्ति काल की अन्य रचनाएँ; गंग और नरहरि; बीरबल और टोडर; सेनापति।

नवाँ अध्याय

रीति काल

[पृष्ठ ४२७—४६३]

भक्ति और रीति; रीति काल का आरंभ; रीति काल की भाषा; साहित्यिक समीक्षा; आचार्यत्व; संस्कृत साहित्यशास्त्र की समीक्षा; रस-संप्रदाय; अलंकार-संप्रदाय; रीति-संप्रदाय; वक्रोक्ति-संप्रदाय; ध्वनि-संप्रदाय; हिंदी में रीति; केशवदास; त्रिपाठी-बंधु; मतिराम; बिहारी; देव; भिखारीदास; पद्माकर; प्रतापसाहि; घनानंद, बोधा, ठाकुर; फुटकर कविगण।

दसवाँ अध्याय

आधुनिक काल

[पृष्ठ ४६४—५१६]

(पद्य) रीति-धारा का अंत; भारतेंदु हरिश्चंद्र; हरिश्चंद्र के समकालीन व्यक्ति; पाठकजी और द्विवेदीजी; उपाध्यायजी और

चित्रों की सूची

हिंदी भाषा

पहला अध्याय

भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

संसार में जितनी भाषाएँ हैं, उन सबका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक है, परंतु जो भाषाएँ जितनी ही अधिक प्राचीन होती हैं और जिन्होंने अपने जीवन में जितने अधिक उलट फेर देखे होते हैं, वे उतनी ही अधिक मनोहर और चित्ताकर्षक होती हैं। इस विचार से भारतीय भाषाओं का इतिहास बहुत कुछ मनोरंजक और मनोहर है। भारतवर्ष ने आज तक कितने परिवर्तन देखे हैं, यह इतिहास-प्रेमियों से छिपा नहीं है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव किसी जाति की स्थिति ही पर नहीं पड़ता, अपितु उसकी भाषा पर भी बहुत कुछ पड़ता है। भिन्न भिन्न जातियों का संसर्ग होने पर परस्पर भावों और उन भावों के द्योतक शब्दों का आदान-प्रदान होता है, तथा शब्दों के उच्चारण में भी कुछ कुछ विकार हो जाता है। इसी कारण के वशीभूत होकर भाषाओं के रूप में परिवर्तन हो जाता है और साथ ही उनमें नए नए शब्द भी आ जाते हैं। इस अवस्था में यदि वृद्ध भारत की भाषाओं की आरंभ की अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक में आकाश पाताल का अंतर हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अब यदि हम इस परिवर्त्तन का

विषय-प्रवेश

तथ्य जान सकें, तो हमारे लिये वह कितना मनोरंजक होगा, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। साथ ही भाषा अपना आवरण हटाकर अपने वास्तविक रूप का प्रदर्शन उसी को कराती है, जो उसके अंग प्रत्यंग से परिचित होने का अधिकारी है। इस प्रकार का अधिकार उसी को प्राप्त होता है जिसने उसके विकास का क्रम भली भाँति देखा है।

भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो उनके इतिहास को और भी जटिल, पर साथ ही मनोहर, बना देता है। भाषाओं के विकास की साधारणतः दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—एक वियोगावस्था और दूसरी संयोगावस्था। वियोगावस्था में सब शब्द अपने अपने वास्तविक या आरंभिक रूप में अलग अलग रहते हैं और प्रायः वाक्यों में उनके आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा अथवा स्वराघात से उनका पारस्परिक संबंध प्रकट होता है। क्रमशः परिवर्तन होते होते कुछ शब्द तो अपने आरंभिक रूप में रह जाते हैं और कुछ परिवर्तित होकर प्रत्यय, विभक्ति आदि का काम देने लगते हैं। फिर ये प्रत्यय आदि घिस घिसाकर मूल शब्द के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता, अर्थात् जो शब्द पहले स्वतंत्र रहकर वाचक थे, वे अब संक्षिप्त तथा विकृत रूप धारण करके द्योतक मात्र रह जाते हैं। इस प्रकार भाषाएँ वियोगावस्था से संयोगावस्था में आ जाती हैं। पर जैसे जातियों की स्थिति में परिवर्तन होता रहता है, वैसे ही भाषाएँ भी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाती रहती हैं। हमारा विषय भाषाओं का विवरण उपस्थित करना नहीं है, हमें तो केवल इस बात पर विचार करना है कि हमारी हिंदी

भाषा का कैसे विकास हुआ है। अतएव पहले हम भारतीय भाषाओं का, प्राचीन अवस्था से लेकर अब तक का, संक्षिप्त इतिहास देकर तब मुख्य विषय पर आवेंगे।

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या था, इसका पता लगना बहुत कठिन है। उस प्राचीन भाषा की कोई पुस्तक या लेख आदि नहीं मिलते। आर्य जाति की सबसे प्राचीन पुस्तक, जो इस समय प्राप्त है, ऋग्वेद है। इसकी ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न समयों और भिन्न भिन्न स्थानों में हुई है। किसी में कंधार में बसनेवाले आर्य-समूह के राजा दिवोदास का उल्लेख है, तो किसी में सिंधु नद के किनारे बसे हुए आर्यों के राजा सुदास का। अतएव वेदों में दिवोदास तथा सुदास के समयों के बने हुए मंत्रों का समावेश है। साथ ही कुछ मंत्र कंधार में रचे गए, कुछ सिंधु के किनारे, और कुछ यमुना-तटों पर। पीछे से जब सब मंत्रों का संपादन करके उनका क्रम लगाया गया, तब रचना-काल और रचना-स्थान का ध्यान रखकर यह कार्य नहीं किया गया। यदि उस समय इन दोनों बातों का ध्यान रखा जाता तो हम अत्यंत सुगमता से प्राचीनतम भाषा का नमूना उपस्थित कर सकते। फिर भी ध्यान देने से मंत्रों की भाषा में विभेद देख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में जब आर्य सप्तसिंधु प्रदेश में थे, तभी उनकी बोलचाल की भाषा ने कुछ कुछ साहित्यिक रूप धारण कर लिया था, पर तो भी उसमें अनेक भेद बने रहे। वेदों के संपादन-काल में मंत्रों का भाषा-विभेद बहुत कुछ दूर किया गया।

प्राचीन आर्यों की भाषाएँ— वैदिक, संस्कृत

तिस पर भी यह स्पष्ट है कि वेदों की भाषा पर उस समय की कुछ प्रांतीय अथवा देश-भाषाओं का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा था। केवल अनेक व्यक्तियों के अनेक प्रकार के उच्चारणों के कारण ही यह भेद नहीं हुआ था, अपितु देशी या अन्यान्य शब्दों का संमिश्रण भी इसका एक प्रधान कारण था।

ज्यों ज्यों आर्यगण अपने आदिम स्थान से फैलने लगे और तत्कालीन अनार्यों से संपर्क बढ़ाने लगे, त्यों त्यों भाषा भी विशुद्ध न रहकर मिश्रित होने लगी। विभिन्न स्थानों के आर्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। कोई "क्षुद्रक" (छोटा) कहता था तो कोई "क्षुल्लक"। "तुम दोनों" के लिये कोई 'युवां' बोलते थे, कोई "युवं" और कोई केवल "वां"। "पश्चात्—पश्चा", "युष्मासु—युष्मे", "देवाः—देवासः", "श्रवणा—श्रोणा", "अवद्योतयति—अवज्योतयति", "देवैः—देवेभिः" आदि आदि अनेक रूप बोले जाते थे। कुछ लोग विभक्ति न लगाकर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे, (यथा, "परमे व्योमन्") तो कुछ शब्द के ही अंग भंग करने पर सन्नद्ध थे। "आत्मना" का "त्मना" इसका अच्छा निदर्शन है। कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप में बोलता तो दूसरा दूसरे रूप में। एक "ड" भिन्न भिन्न स्थलों में ल, ळ, ढ, ल्ह, सभी बोला जाता। यों ही अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस प्रकार जब विषमता उत्पन्न हुई और एक स्थल के आर्यों को अन्य स्थल के अधिवासी अपने ही सजातीयों की बोली समझने में कठिनता होने लगी, तब उन लोगों ने मिलकर अपनी भाषा में व्यवस्था करने का उद्योग किया। प्रांतीयता

का मोह छोड़कर सार्वदेशिक, सर्वबोध्य और अधिक प्रचलित शब्द ही टकसाली माने गए। भाषा प्रादेशिक से राष्ट्रीय बन गई। अपनी अपनी डफली अपना अपना राग बंद हुआ। सभी कम से कम साहित्यिक और सार्वजनिक व्यवहारों में टकसाली भाषा का प्रयोग करने लगे, इसलिये भाषा भी मँज सँवरकर संस्कृत (= शुद्ध) हो गई। जो स्थान आजकल हमारी हिंदी को प्राप्त है, एवं प्राकृत-काल में जो महाराष्ट्री को प्राप्त था, वही स्थान उस समय संस्कृत का था। आर्याधिष्ठित सभी प्रदेशों में यह बोली और समझी जाती थी। जो लोग इसे नहीं बोल सकते थे, वे समझ अवश्य लेते थे। आज भी खड़ी बोली बोलनेवाले नागरिक और अपनी ठेठ हिंदी का ठाठ दिखानेवाले देहाती के संवाद में वही झुटपुटी झलक रहती है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी ही नहीं, वह तो केवल ब्राह्मणों की गढ़ी यज्ञ में बोली जानेवाली पाधा पुरोहितों की बोली—क्या ठठोली—थी, उनको इस पर विचार करना चाहिए। पाणिनि मुनि ने शब्दानुशासन किया है, शब्दशासन नहीं। शब्दों पर शासन करते हैं—वक्ता, लेखक और कवि। वैयाकरण बेचारा तो उन्हीं के राज्य में रहकर केवल लेखा लिया करता है। इसलिये पाणिनि ने जो अपने व्याकरण में खेती पाती, लेन देन, वणिज व्यापार, चुंगी झरी, कर पोत, लुहारी सुनारी, बढ़ईगिरी, ढोल ढमक्का, चिड़िया चुनमुन, फूल पत्ती, नाप जोख आदि आदि के अतिरिक्त पूर्वी उत्तरी प्रयोग, मुहाविरे बोलचाल आदि लिखे हैं, कात्यायन तथा पतंजलि ने जो अनेक व्यवहार-सात्विक सूक्ष्म विवेचन किए हैं, वे उनके मन के मनसूबे नहीं,

किंतु गंभीर गवेषणा, सारवान् सर्वेक्षण, व्यापक विचार और उस व्याकरणपटुता के परिणाम हैं जो अभी अभी थोड़े दिन हुए अँगरेजी जैसी समृद्ध राजभाषा में फलीभूत हुए हैं।

पहले संस्कृत शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। "संस्कृता वाक्"* ठीक उसी भाषा को कहते थे जिसे उर्दू-वाले "शुस्ता ज़ुबान" या अँगरेजीदाँ Refined speech कहते हैं। प्रत्येक भाषा यदि वह व्यवहारक्षम, शिष्टप्रयुक्त और व्यापक है तो समय पाकर संस्कृत बन जाती है। हमारी आज की हिंदी यदि संस्कृत कही जाय तो कोई अनुचित नहीं। पीछे जैसे "उर्दू-हिंदी" से केवल "उर्दू" रह गई, वैसे ही "संस्कृत-वाक्" से केवल 'संस्कृत' शब्द ही उस विशिष्ट भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी; एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। इस प्रकार साहित्यकारों की कृति और वैयाकरणों की व्याकृति से संस्कृत परिष्कृत होकर बहुत दिनों तक अखंड राज्य करती रही।

सब दिन बराबर नहीं जाते। संस्कृत सर्व-गुण-संपन्न थी सही, पर धीरे धीरे उसका चलन कम होने लगा। वह राष्ट्रीय से सांप्रदायिक हो चली। इसके कई कारण थे। एक तो वह सर्व साधारण की भाषा न होने के कारण प्रयोक्ता के मुख अथवा लेखनी से प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये अबुद्धिपूर्व

---

* यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
बा० रा०, सुं० ३०। १८।

न निकलकर उसकी अभिज्ञता की अपेक्षा रखती थी। दूसरे, इसके प्रयोगकर्त्ता आर्यजन किसी एक प्रदेश में ही अवरुद्ध न होकर उत्तरोत्तर अपना विस्तार करते, अन्य भाषा-भाषियों से संपर्क बढ़ाते तथा नित्य नए भावों और उनके अभिव्यंजक साधनों का आदान प्रदान करते जाते थे। तीसरा और सबसे प्रधान कारण धार्मिक विप्लव था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने प्रांतीय बोलियों में ही अपना धर्मोपदेश आरंभ किया। साधारण जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनके बहुत से अनुयायी हो गए। उनका धर्म भी भिन्न हो गया, भाषा भी भिन्न हुई। इस प्रकार इन दो धर्म-संस्थापकों का आश्रय पाकर प्रांतीय बोलियाँ भी चमक उठीं और संस्कृत से बराबरी का दावा करने लगीं। उधर वैदिक धर्मानुयायी और अधिक दृढ़ता से अपनी भाषा की रक्षा करने लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत एक संप्रदाय की भाषा बन गई।

हम पहले कह चुके हैं कि वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार, बन गई। अपनी योग्यता से उसने अमरवाणी का पद तो पाया, पर आगे कोई न होने के कारण उसकी वह अमरता एक प्रकार का भार हो गई। उधर उसकी दूसरी बहिन जो रानी न बनकर प्रजापक्ष के हितचिंतन में निरत थी, जो केवल आर्यों के अवरोध में न रहकर अन्य अनार्य रमणियों से भी स्वतंत्रतापूर्वक मिलती जुलती थी, संतानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होने के कारण उसने अपनी माता से समय समय पर जो संपत्ति प्राप्त की, वह निःसंतान संस्कृत को

न मिल सकी। यदि रूपक का परदा हटाकर सीधे शब्दों में कहें तो बात यह हुई कि वेदकालीन कथित भाषा से ही संस्कृत भी उत्पन्न हुई और अनार्यों के संपर्क का सहकार पाकर अन्य प्रांतीय बोलियाँ भी विकसित हुईं। संस्कृत ने केवल चुने हुए प्रचुरप्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भंडार भरा, पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति-स्वच्छंदता को भरपेट अपनाया। यही उनके प्राकृत (स्वाभाविक या अकृत्रिम) कहलाने का कारण है, यही उनमें वैदिक भाषा की उन विशेषताओं के उपलब्ध होने का रहस्य है जो संस्कृत में कहीं देख नहीं पड़तीं।

वैदिक भाषा की विशेषताएँ जो संस्कृत में न मिलकर प्राकृतों में ही उपलब्ध होती हैं उनके विषय में थोड़े से उदाहरणों का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। प्राकृत में व्यंजनांत शब्द का प्राय: प्रयोग नहीं होता। संस्कृत के व्यंजनांत शब्द का अंतिम व्यंजन प्राकृत में लुप्त हो जाता है। जैसे—संस्कृत के 'तावत्' 'स्यात्' 'कर्मन्' प्राकृत में क्रमश: 'ताव' 'सिया' 'कम्म' हो जायँगे। प्राकृत में यह निरपवाद है। अब वैदिक भाषा लीजिए। उसमें दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। 'कर्मण: कर्मणा' आदि भी और 'देवकर्मेभि:' (ऋ० १० । १३० । १) भी; 'पश्चात्' (अथ० ४ । १० । ३) भी और 'पश्चा' (अथ० १० । ४ । ११, शत० ब्रा० १ । १ । २ । ५) भी; (प्राकृत में इसी से 'पच्छा' और हिंदी में 'पाछ' या 'पाछा' निकला है) 'युष्मान्' (ऋ० १ । १६१ । १४, तै० सं० १ । १ ५) भी और 'युष्मा' (वा० सं० १ । १३ । १, श० ब्रा० १ । २ । ६) भी; 'उच्चात्' के स्थान में 'उच्चा' (तै० सं० २ । ३ । १४) और 'नीचात्' के स्थान में 'नीचा' (तै० सं०

१ । २ । १४) भी । पर संस्कृत में इस प्रकार व्यंजन का लोप नहीं होता । 'पश्चार्ध' शब्द का प्रयोग देखकर कात्यायन को एक नया वार्तिक कहना पड़ा । प्राकृत में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया करते हैं । जैसे—'कर्तव्य = कातव्व', 'निश्वास = नीसास', 'दुर्हार = दूहार,' (हिंदी–'घर्म = घाम', 'चर्म = चाम', 'दुर्लभ = दूलह', 'भिल्ल = भील', 'शुष्क = सूखा', 'मुद्ग = मूँग,' 'निम्ब = नीम,' इत्यादि) । वैदिक भाषा में भी ऐसा होता है—'दुर्दभ = दूडभ,' (वा० सं० ३ । ३६, ऋ० ४ । ६ । ८) 'दुर्णाश = दूणाश' (शु० य० प्रातिशा० ३ । ४३) । स्वरभक्ति का प्रयोग दोनों भाषाओं में प्रचुरता से होता है । प्राकृत—'क्लिन्न = किलिन्न', 'स्व = सुव,' (हिंदी–'मिश्र = मिसिर' 'धर्म = धरम,' 'गुप्त = गुपुत', 'गलास = गिलास,') वैदिक–'तन्वः = तनुवः' (तैत्ति० आर० ७ । २२ । १), 'स्वः = सुवः' (तैत्ति० आर० ६ । २ । ७) 'स्वर्गः = सुवर्गः' (तैत्ति० सं० ४ । २ । ३, मैत्र० ब्रा० १ । १ । १) 'रात्र्या = रात्रिया', 'सहस्र्यः = सहस्रियः' इत्यादि । दोनों ही में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे फिर संकुचित कर देते हैं । प्राकृत–'राजकुल = राउल' (मि० पु० हिं० राउर), 'कालायस = कालास' इत्यादि; वैदिक—'शतक्रतवः = शतक्रत्वः,' 'पशवे = पश्वे,' 'निविविशिरे = निविविश्रे' इत्यादि । शौरसेनी प्राकृत में अकारांत शब्द प्रथमा के एकवचन में ओकारांत हो जाता है । जैसे 'देवः = देवो,' 'सः = सो' इत्यादि । वैदिक भाषा में भी ऐसा प्रयोग दुर्लभ नहीं । 'सः चित् = सो चित्' (ऋ० १ १६ । १), 'संवत्सरः अजायत = संवत्सरो अजायत' इत्यादि ।

इस बात की पुष्टि में और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं। यद्यपि लोगों ने समय समय पर प्राकृत को नियमित और बद्ध करने का प्रयत्न किया, तथापि बोलचाल की उस भाषा का प्रवाह किसी न किसी रूप में चलता रहा, उसमें कोई रुकावट न हो सकी। यही 'प्राकृत' अथवा बोलचाल की आर्य-भाषा क्रमशः आधुनिक भारतीय देशभाषाओं के रूपों में प्रकट हुई।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जन साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद-मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण-ग्रंथों तथा सूत्र-ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोलचाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ, वह भी बनी रही; पर इस समय हमें उसके प्राचीन-तम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो इस समय हमें प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में है। उसी को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य होते हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। यह नाम भाषा के साहित्यारूढ़ होने के पीछे का है जब कि इस पर शौरसेनी का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा और उसी के अनुसार ओकारांत रूप इसमें प्रयुक्त होने लगे। पहले त्रिपिटक की मूल पंक्तियों के लिये इसका प्रयोग होता था।

भी यह 'पंक्ति' शब्द से ही निकला हुआ। 'पंक्ति' से 'पंत्ति' 'पत्ती' (दे० धेनुपत्ती; विदग्धमाधव पृ० १८); 'पत्ती'

से 'पट्टी', (इसका प्रयोग 'कतार' के अर्थ में अब भी होता है) 'पट्टी' से 'पाटी' और उससे 'पाली'। इस पाली को तंत्ति, मागधी या मागधी निरुक्ति भी कहते थे। पर यह मागधी अर्वाचीन मागधी से बहुत भिन्न थी। यही उस समय बोलचाल की भाषा थी। बुद्धदेव यही बोलते थे। बौद्ध इसी को आदि भाषा मानते और बड़े गर्व से पढ़ा करते हैं—

'सा मागधी मूलभाषा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्माणो च स्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे॥'

'आदि कल्प में उत्पन्न मनुष्यगण, ब्रह्मगण, संबुद्धगण, एवं वे व्यक्तिगण जिन्होंने कभी कोई शब्दालाप नहीं सुना, जिसके द्वारा भाव प्रकाशन किया करते थे वही मागधी भाषा मूल भाषा है।' वैदिक भाषा में नहीं किंतु इसी भाषा में बुद्धदेव अपना धर्मचक्र प्रवर्त्तन करना चाहते थे, इस संबंध में विनयपिटक में एक कहानी है। उसमें लिखा है—यमेल और उतेकुल नाम के दो ब्राह्मण भ्राता भिक्षु थे। उन्होंने एक दिन बुद्धदेव से निवेदन किया कि "भगवन्! इस समय भिन्न भिन्न नाम गोत्र और जाति-कुल के प्रव्रजित अपनी अपनी भाषा में कहकर आपके वचन दूषित कर रहे हैं। हम उन्हें छंद (=वेदभाषा=संस्कृत) में परिवर्तित करना चाहते हैं।" बुद्धदेव ने उनका तिरस्कार कर कहा—"भिक्षुओ! बुद्ध-वचन को छंद में कभी परिणत न करना। जो करेगा, वह दुष्कृत का अपराधी होगा। हे भिक्षुगण! बुद्धवचन को अपनी ही भाषा में ग्रहण करने की मैं अनुज्ञा करता हूँ।" "अपनी भाषा" से बुद्धघोष ने यहाँ मागधी भाषा ली है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धदेव जान बूझकर संस्कृत का वर्जन करना चाहते थे और अपना धर्म

देशभाषा ही के द्वारा फैलाना चाहते थे। उसके अनंतर मध्य काल की प्राकृत और अंत में उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश का समय आता है। इसी उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक देशभाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ है।

पहली प्राकृत या पाली

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पहली प्राकृत या पाली के उदाहरण हमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथों तथा शिलालेखों में मिलते हैं। शिलालेखों में अशोक के लेख बड़े महत्त्व के हैं। ये खरोष्ट्री और ब्राह्मी दो लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेख तो खरोष्ट्री में लिखे हुए हैं और शेष सब ब्राह्मी लिपि में हैं। इन सब लेखों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक के समय में कम से कम चार बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें से सबसे मुख्य मगध की पाली थी, जिसमें पहले पहल ये लेख लिखे गए होंगे, और उन्हीं के आधार पर गिरनार, जौगढ़ तथा मानसेरा के लेख प्रस्तुत किए गए होंगे। यद्यपि एक ओर शहबाजगढ़ी और गिरनार के लेखों की भाषा में और दूसरी ओर धौली, जौगढ़ आदि के लेखों की भाषा में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है, और इसी समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह माना है कि अशोक के समय की पाली दो मुख्य भागों में विभक्त हो सकती है, तथापि इनमें विभिन्नता भी कम नहीं है। अतएव इन्हें एक ही कहना ठीक नहीं।

पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्धमागधी। इनमें से महाराष्ट्री सबसे प्रधान

मानी गई है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री के विषय में विशेष रूप से लिखा है; और दूसरी प्राकृतों के विशेष नियम देकर यही लिख दिया है कि शेष सब बातें महाराष्ट्री के समान हैं। प्राकृत का अधिकांश साहित्य भी महाराष्ट्री ही में लिखा मिलता है। एक प्रकार से महाराष्ट्री उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी; इसलिये महाराष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है।

दूसरी या साहित्यिक प्राकृत

शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत है और शूरसेन देश (आधुनिक व्रज-मंडल) में इसका प्रचार होने के कारण यह शौरसेनी कहलाई। मध्य देश में ही साहित्यिक संस्कृत का अभ्युदय हुआ था, और यहीं की बोल-चाल की भाषा से साहित्य की शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ। अतएव यह अनिवार्य था कि इस प्राकृत पर संस्कृत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता। इसी कारण शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत में बहुत समानता देख पड़ती है। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था।

प्राचीन काल में कुरु पंचाल तथा पश्चिम के अन्य लोग कोशल (अवध), काशी (बनारस के चारों ओर), विदेह (उत्तर बिहार) और मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) वालों को प्राच्य कहते थे। अब भी दिल्ली मेरठ आदि के रहनेवाले इधरवालों को पूर्बिया और यहाँ की भाषा को पूरबी हिंदी कहा करते हैं। इन्हीं प्राच्यों की प्राच्या भाषा का विकास दो रूपों में हुआ। एक पश्चिम प्राच्या, दूसरी पूर्व प्राच्या। पश्चिम प्राच्या का अपने समय में बड़ा प्रचार था, पर पूर्व प्राच्या एक विभाग मात्र की भाषा थी। प्राकृत वैयाकरणों के

अनुसार हम पश्चिम प्राच्या को अर्ध-मागधी और पूर्व प्राच्या को मागधी कह सकते हैं। यह प्राचीन अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी, अतः बुद्धदेव की यही मातृ-भाषा थी। इसी से मिलती जुलती भारतवर्ष के पूर्व-खंडवासी आर्यों की भाषा थी जिसमें महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने धर्मोपदेश किया था और जिसका उस समय के राजकुल तथा राज-शासन में प्रयोग होता था। मध्य तथा पूर्व देशों में उपलभ्य-मान एवं अशोक सम्राट् के शिलालेखों में प्रयुक्त तथा उसके राजकुल की भाषा में भी इस अर्ध-मागधी भाषा की बहुत सी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उस समय राजभाषा होने के कारण इसका प्रभाव आजकल अँगरेजी की तरह प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं पर था। इसी से इस अर्ध-मागधी की छाप गिरनार, शहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के लेखों पर भी काफी पाई जाती है। पिपरहवा का पात्र-लेख, सोहगौरा का शिला-लेख तथा अशोक की पूर्वीय धर्मलिपियाँ एवं मध्य-एशिया में प्राप्त बौद्ध संस्कृत नाटक के लुप्तावशिष्ट अंश इसके प्राचीनतम प्रयोगस्थल हैं। जैनों के "समवायंग" में लिखा है कि महा-वीर स्वामी ने अर्ध-मागधी में धर्मोपदेश किया और वह भाषा प्रयोग में आते आते सभी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग के हित, कल्याण तथा सुख के लिये परिवर्तित होती गई, अर्थात् इसी मूल भाषा से प्राणिमात्र की भाषा का जन्म हुआ। जान पड़ता है कि महावीर स्वामी ने इस भाषा को 'सर्वबोध्य बनाने के लिये तत्काल प्रचलित अन्य भाषाओं के सुप्रसिद्ध शब्दों का भी इसमें यथेष्ट सन्निवेश किया, जैसे कि आजकल के रमते साधु लोग भी धर्मोपदेश

में ऐसी ही खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया करते हैं। ऊपर के अर्थवाद का रहस्य तथा अर्ध-मागधी नाम का अभिप्राय यही है। मागधी तो थी ही, अन्य भाषाओं के मेल से वह पूरी मागधी न रही, अर्ध-मागधी हो गई। इसी अर्ध-मागधी से अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश और उससे आजकल की पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी निकली हैं।

अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी और कोशल शूर-सेन तथा मगध के बीच में पड़ता है। अतः यह अनुमान हो सकता है कि वह शौरसेनी और मागधी के मिश्रण से बनी होगी; अनुमान क्या मार्कंडेय ने स्पष्टतः लिखा भी है कि "शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी" (प्राकृ० सर्व० १०३), पर वास्तव में यह बात नहीं है। अनेक अंशों में वह मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से मिलती है और कुछ अंशों में उसका इनसे विभेद भी है, पर शौरसेनी से उसका बहुत विभेद है। क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार (५।९८) में स्पष्ट ही लिखा है— "महाराष्ट्री मिश्रार्धमागधी" अर्थात् महाराष्ट्री के मेल से अर्ध-मागधी हुई। आधुनिक देश-भाषाओं के विचार से पश्चिमी हिंदी और बिहारी के बीच की भाषा पूर्वी हिंदी है और उसमें दोनों के अंश वर्त्तमान हैं। आधुनिक भाषाओं के विवेचन के आधार पर अंतरंग, बहिरंग और मध्यवर्त्ती भाषाओं के ये तीन समूह नियत किए गए हैं। यदि हम अर्ध-मागधी को मध्य-वर्ती भाषाओं की स्थानापन्न मान लें, तो प्राकृत काल की भाषाओं का विभाग इस प्रकार होगा—

बहिरंग प्राकृत—महाराष्ट्री और मागधी।

मध्यवर्ती प्राकृत—अर्ध-मागधी।

अंतरंग प्राकृत—शौरसेनी।

अनेक विद्वानों ने पैशाची भाषाओं को भी प्राकृतों में गिना है। वररुचि ने प्राकृतों के अंतर्गत चार भाषाएँ गिनाई हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचंद्र ने केवल तीन प्रकार की प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—आर्ष अर्थात् अर्ध-मागधी, चूलिका-पैशाचिका और अपभ्रंश। दूसरी भाषा का दूसरा नाम भूतभाषा भी है, जो गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) से अमर हो गई है, पर यह ग्रंथ इस समय नहीं मिलता। हाँ, दो कश्मीरी पंडितों, क्षेमेंद्र और सोमदेव, के किए हुए इसके संस्कृत अनुवाद अवश्य मिलते हैं। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच या पिशाश (कच्चा मांस खानेवाला) देश कहलाता था, और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने के कारण पैशाची भाषा वहीं की भाषा मानी जाती है। कुछ लोग इसे पश्चिम-उत्तर प्रदेश की और कुछ राजपूताना और मध्यभारत की भाषा भी मानते हैं। किंतु प्राचीन ग्रंथों में पिशाच के नाम से कई देश गिनाए गए हैं—

पैशाची प्राकृत

पाण्ड्यकेकयबाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः ।
सुदेष्ण-वोट-गन्धार-हैव-कन्नौजनास्तथा ।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत् ॥

इसमें कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक न हो सकी। मार्कंडेय ने अपने व्याकरण 'प्राकृतसर्वस्व' में पैशाची के जो नियम लिखे हैं, उनमें से एक है—'पञ्चस्वाद्यावितरयोः'। इसका अर्थ यह है—पाँचों वर्गों में तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान में प्रथम और द्वितीय वर्ण होते हैं। इसकी प्रवृत्ति

पंजाबी भाषा में देख पड़ती है। उसमें साधारणतः लोग भाई का पाई, अध्यापक का हत्तापक, घर का कर, धन्य का तन्न या इससे कुछ मिलता जुलता उच्चारण करते हैं। उसमें एक और नियम "युक्तविकर्षो बहुलम्" (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) भी देख पड़ता है। कसट, सनान, परस, पतनी आदि उदाहरण पंजाबी में दुर्लभ नहीं। इससे जान पड़ता है कि चाहे पैशाची पंजाब की भाषा न भी रही हो, पर उसका प्रभाव अवश्य पंजाबी पर पड़ा है।

राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय की भाषाओं का स्थल-निर्देश है—गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाट (गुजरात) देशियों की रुचि प्राकृत में परिमित है, मरुभूमि, टक्क (टाँक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक (संभवतः यह राजपूताना का कोई प्रांत था) के वासी भूत भाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है। इससे उस समय किस भाषा का कहाँ अधिक प्रचार था, इसका पता चल जाता है। मार्कंडेय और रामशर्मा ने अपने व्याकरणों में इस भाषा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने एक लेख में रामशर्मा के प्राकृत-कल्पतरु के उस अंश का विशेष रूप से वर्णन किया है, जिसमें पैशाची भाषा का विवरण है। उस लेख में बतलाया गया है कि रामशर्मा के अनुसार पैशाची या पैशाचिका भाषा के दो मुख्य भेद हैं—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण। पहली तो शुद्ध पैशाची, जैसा

कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, और दूसरी मिश्र पैशाचा है। पहली के सात और दूसरी के चार उपभेद गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कैकेय पैशाचिका,
(२) शौरसेनी पैशाचिका,
(३) पांचाल पैशाचिका,
(४) गौड पैशाचिका,
(५) मागध पैशाचिका,
(६) व्राचड पैशाचिका,
(७) सूक्ष्मभेद पैशाचिका।

संकीर्ण पैशाचिका पहले दो प्रकार की कही गई है— शुद्ध और अशुद्ध, फिर शुद्ध के दो उपभेद किए गए हैं—एक भाषा-शुद्ध और दूसरी पद-शुद्ध। पद-शुद्ध पैशाचिका के पुनः दो भेद किए गए हैं—अर्द्ध-शुद्ध और चतुष्पद-शुद्ध। संक्षेप में इस पैशाचिका के भेद और उपभेद इस प्रकार हैं—
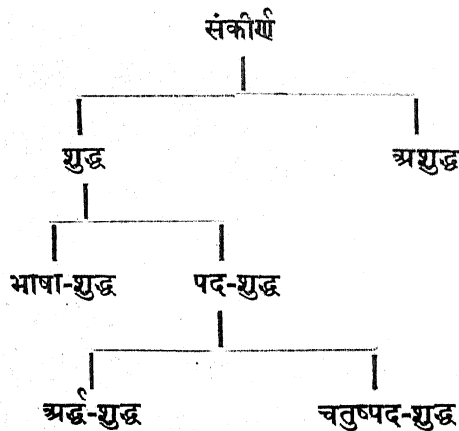
ऊपर हम प्राकृत की पूर्वकालिक और मध्यकालिक अवस्थाओं का विवेचन कर चुके हैं। यह एक निर्विवाद सिद्धांत है कि बोल-चाल की भाषा में जितना शीघ्र परिवर्तन होता है, उतना शीघ्र साहित्य की भाषा में नहीं होता। जब प्राकृत ने साहित्य में पूर्णतया प्रवेश पा लिया और वह शिष्ट लोगों के पठन-पाठन तथा ग्रंथ-निर्माण की भाषा हो गई, तब बोलचाल की भाषा अपनी स्वतंत्र धारा में बहती हुई जन-समुदाय के पारस्परिक भाव-विनिमय में सहायता देती रही। इसी बोलचाल की भाषा को वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' नाम दिया है। भामह और दंडी के उल्लेख तथा वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख से पता लगता है कि ईसा की छठी शताब्दी में 'अपभ्रंश' नाम की भाषा में कुछ न कुछ साहित्यिक रचना होने लगी थी। यों तो ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखित पउमचरिअ नामक प्राकृत ग्रंथ में भी अपभ्रंश के कुछ लक्षण मिलते हैं; पर और पोषक प्रमाण न मिलने के कारण विद्वान् 'अपभ्रंश' की इतनी प्राचीनता नहीं स्वीकार करते। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में विक्षिप्त पुरूरवा की उक्ति में छंद और रूप दोनों के विचार से कुछ कुछ अपभ्रंश की छाया देख पड़ती है, और इसलिये अपभ्रंश का काल और भी दो सौ वर्ष पहले चला जाता है; पर उसमें अपभ्रंश के अत्यंत साधारण लक्षण—जैसे, पदांतर्गत 'म' के स्थान में 'वँ' और स्वार्थिक प्रत्यय 'इल्ल' 'अल्ल' तथा 'ड'—न मिलने के कारण उसे भी याकोबी आदि बहुत से विद्वान् पाठांतर या प्रक्षिप्त मानते हैं। जो कुछ हो, पर यह कहने

तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश

में कोई संकोच नहीं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य विद्यमान थे।

आरंभ में अपभ्रंश शब्द किसी भाषा के लिये नहीं प्रयुक्त होता था। साक्षर लोग निरक्षरों की भाषा के शब्दों को अपभ्रंश, अपशब्द या अपभाषा कहा करते थे। पतंजलि मुनि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग महाभाष्य में इस प्रकार किया है—भूयांसो ह्यपशब्दा: अल्पीयांस: शब्दा:। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा:। तद्यथा। गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशा:। अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश पाए जाते हैं; जैसे—गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं। यहाँ अपभ्रंश शब्द से पतंजलि उन शब्दों का ग्रहण करते हैं जो उनके समय में संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर बोले जाते थे। ऊपर के अवतरण में जिन अपभ्रंशों का उल्लेख है, उनमें 'गावी' बँगला में 'गाभी' के रूप में और 'गोणी' पाली से होता हुआ सिंधी में ज्यों का त्यों अब तक प्रचलित है। शेष शब्दों का पता अन्वेषकों को लगाना चाहिए। आर्य अपने शब्दों की विशुद्धता के कट्टर पक्षपाती थे। वे पहले अपशब्द ही के लिये म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। पतंजलि ने लिखा है—न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द:। अर्थात् म्लेच्छ = अपभाषण न करना चाहिए, क्योंकि अपशब्द ही म्लेच्छ है। अमर ने इसी धातु से उत्पन्न म्लिष्ट शब्द का अर्थ 'अविस्पष्ट' किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आर्य शुद्ध उच्चारण करके अपनी भाषा की रक्षा का बड़ा प्रयत्न करते थे; और जो लोग उनके शब्दों का ठीक

उच्चारण न कर सकते थे, उन्हें और उनके द्वारा उच्चरित शब्दों को म्लेच्छ कहते थे। म्लेच्छ शब्द उस समय आजकल की भाँति घृणा वा निंदाव्यंजक नहीं था।

अस्तु; जब मध्यवर्ती भाषाओं (पाली, शौरसेनी, तथा अन्य प्राकृतें) का रूप स्थिर होकर साहित्य में अवरुद्ध हो गया एवं संस्कृत के समान शिष्टों के प्रयोग में वह आने लगा, तब साधारण जनता ने फिर प्रचलित तथा प्रादेशिक रूपों को अपनाना आरंभ कर दिया। भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उकारांत संज्ञा शब्द तथा अन्य नए रूप, जो पाँचवीं या छठी शताब्दी में प्रयुक्त नहीं होते थे, प्रचुरता से काम में लाए जाने लगे; और पूर्व-निर्धारित प्राकृतों से भेद करने के लिये इस नवीन लक्षणवती भाषा का नाम अपभ्रष्ट या अपभ्रंश पड़ गया। पहले तो साक्षर इसका आदर नहीं करते थे, पर पीछे इसका भी मान हुआ और इसमें भी प्रचुरता से साहित्यरचना होने लगी। आजकल जैसे खड़ी बोली की कविता जब छाया की माया में पड़कर दुर्बोध हो चली है, तब साधारण जन अपना मनोरंजन आल्हा, बिरहा, लुरकी, लचारी, चाँचर, रसिया अथवा भैरो की कजली से कर रहे हैं और जैसे इनका प्रचार कहीं ग्राम्यगीतों के संग्रह के रूप में और कहीं भैरो-संप्रदाय के रूप में बढ़ रहा है, ठीक वही दशा उस समय अपभ्रंश की भी थी। हेमचंद्र ने प्राचीन तथा प्रचुरप्रयुक्त पदावली का अनुसरण कर साहित्य में प्रतिष्ठित इस भाषा का व्याकरण भी लिख डाला। इस प्रकार अपभ्रंश, नाटकों की प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के मध्य में वर्त्तमान, सर्वमान्य भाषा हो गई।

यों तो पूर्वी भाषाएँ भी अपभ्रंश के पुट से बची नहीं हैं; पर गुजरात, राजपूताना तथा मध्यदेश (दोआब) में बोली जानेवाली भाषाओं में विशेष कर अपभ्रंश के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। दसवीं और परवर्ती शताब्दियों में मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा रही। मध्यदेश तथा गंगा की तराई में प्रतिष्ठित राजपूतों के राज्य तथा उनकी शक्ति ही इसका मूल कारण थी। गुजरात के जैनों ने भी इसकी बड़ी उन्नति की। यह प्राय: एक प्रकार की खिचड़ी भाषा हो गई थी। प्राकृतसर्वस्व में मार्कंडेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंशों का निश्चय किया है। पहली नागर अपभ्रंश जो प्राय: राजस्थानी-गुजराती की मूलभूत उन बोलियों पर आश्रित है जिनमें प्रचुरता से शौरसेनी का भी मेल पाया जाता था। दूसरी ब्राचड जो सिंध में प्रचलित थी; और तीसरी उपनागर, नागर और ब्राचड भाषाओं का मिश्रण थी जिसका प्रचार पश्चिमी राजपूताने तथा दक्षिणी पंजाब में था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जितने प्रकार की प्राकृत थी, उतने ही प्रकार की अपभ्रंश भी थी और देशभेद के कारण ही उसके भेद उपभेद भी हुए थे। पर उनके उदाहरण नहीं मिलते। पूर्व में अशोक के अनंतर वहाँ की प्रादेशिक भाषा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई। कम से कम मागधी की तो नहीं ही हुई। यह एक बहुत ही हीन भाषा मानी जाती थी, जैसा नाटकों में नीच पात्रों के लिये इसके प्रयोग का निर्देश बतलाता है। अर्ध-मागधी और मागधी के प्रदेशों में भी शौरसेनी ही साहित्य के लिये उपयुक्त समझी जाती थी। अपभ्रंश काल के पूरब के कविजन भी अपनी

प्रांतीय विभाषा का प्रयोग न कर शौरसेनी अपभ्रंश ही का प्रयोग करते थे। यह परंपरा बहुत दिनों तक चली। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की पुरानी बँगला कविताओं में भी इसी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। मिथिला के विद्यापति (१४५० वि०) ने मैथिली के साथ साथ "अवहट्ठ" या "अपभ्रष्ट" में भी कविता की। यह 'अवहट्ठ' शौरसेनी अपभ्रंश का ही अर्वाचीन रूप था। इधर व्रज-भाषा को भी उसी अपभ्रंश की विरासत मिली थी, जिसे अब खड़ी बोली-वाले छीनना चाहते हैं। इस प्रकार यह अपभ्रंश उस समय के समस्त आर्यों की राष्ट्र-भाषा थी, जो गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक प्रचलित थी।

डाक्टर कीथ ने अभी थोड़े दिन हुए "संस्कृत साहित्य का इतिहास" लिखा है। उसके पहले खंड में उन्होंने भाषाओं का विवेचन किया है। अपभ्रंश के विषय में उनकी सम्मति हमारे निष्कर्ष के प्रतिकूल है। अतएव उस संबंध में यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने दंडी और रुद्रट का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश कभी किसी रूप में देश-भाषा न थी। वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमण-कारियों की भाषा थी और उन्हीं के साथ-साथ उसका प्रसार और उसकी प्रतिष्ठा हुई, अतएव उसे मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्य-भाषाओं की बिचली कड़ी मानना ठीक नहीं है। इस मत के प्रवर्तक पिशल और ग्रियर्सन दोनों ने भ्रम फैलाया है, इत्यादि। हमें यहाँ पिशल और ग्रियर्सन का पक्ष लेकर उनके मत का समर्थन नहीं करना है, हमें तो केवल यह कहना है कि अप-

भ्रंश देश-भाषा क्या एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा थी और उसका प्रचार समस्त उत्तरापथ में था। डाक्टर कीथ ने जिनके आधार पर अपना मत स्थिर करने का प्रयत्न किया है उनका आशय ही कुछ और है, जो डाक्टर कीथ के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दंडी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि काव्यों (दृश्य और श्रव्य दोनों) में आभीर आदि की बोली को तथा शास्त्रों (व्याकरण आदि) में संस्कृत-भिन्न भाषामात्र को अपभ्रंश कहते हैं। केवल इस उल्लेख के आधार पर यह सिद्धांत नहीं निकाला जा सकता कि अपभ्रंश आभीर आदि विदेशियों की बोली थी। नाट्य ग्रंथों में जहाँ जहाँ भिन्न-भिन्न पात्रों की बोलियों का निर्देश रहता है उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उस पात्र की परंपराप्राप्त अथवा जातीय बोली वही है। नाट्यकार इस विषय में केवल पूर्वाचार्यों का अनु-सरण कर पात्रविशेष की भाषा का निर्देश कर देते हैं। उससे यह कदापि न समझना चाहिए कि जिस पात्र की जो भाषा नाट्यशास्त्र में लिखी है वह उसकी मातृभाषा है। अथवा यदि यह मान भी लिया जाय कि आरंभ में जब आभीर आदि जातियों ने भारत में प्रवेश किया उस समय यहाँ प्रचलित प्राकृतों में उन्हीं के विकृत उच्चारण और उन्हीं के कुछ स्वकीय शब्दों के मेल से भ्रष्टता उत्पन्न हुई हो और इसी नाते अप-भ्रंश का संबंध आभीर आदि जातियों से जोड़ा गया हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आरंभ से अंत तक अपभ्रंश उन्हीं की बोली थी और उस दशा में भी उसमें इतना अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हुआ कि भारतवर्ष के प्रामाणिक अलंकारियों ने संस्कृत और प्राकृत के समान ही अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख

करना भी आवश्यक समझा। जिस प्रकार विदेशी मुसलमानों के संसर्ग से बनी हुई 'हिंदुस्तानी' भाषा मुसलमानों की भाषा नहीं किंतु समस्त देश की राष्ट्र-भाषा है उसी प्रकार आभीर आदि के संपर्क से उत्पन्न अपभ्रंश भी समस्त देश की भाषा थी जिसमें प्रचुरता से साहित्य निर्माण हुआ। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में आभीरी को विभाषा लिखकर अपभ्रंश का पृथक् निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि आभीरों की जो बोली थी वह साहित्यिक भाषा नहीं थी। मार्कंडेय ने 'प्राकृतचंद्रिका' के श्लोक उद्धृत कर बहुत सी अपभ्रंशों का उल्लेख किया है जो सब प्रांतीय विभाषाएँ जान पड़ती हैं। आजकल की हिंदी की भी तो बहुत सी विभाषाएँ संप्रति भी व्यवहार में आती हैं। इससे यह कोई नहीं कह सकता कि अवधी हिंदी ही हिंदी है, प्रायः समस्त उत्तरापथ में प्रचलित हिंदी हिंदी नहीं है। कीथ ने दूसरा प्रमाण रुद्रट का दिया है और उससे मालूम नहीं क्या समझकर यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रंश कभी देश-भाषा नहीं थी। आश्चर्य है कि जब रुद्रट ने स्पष्ट शब्दों में "षष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" लिखकर देशभेद के कारण अपभ्रंश की विभिन्नता का उल्लेख किया है और उसके टीकाकार नमिसाधु ने इस विषय को उदाहरणों के द्वारा नितांत विशद कर दिया है तब भी कीथ को कैसे संदेह हुआ। उसे पढ़कर कोई दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता। देशभेद के कारण जिस भाषा का भेद हो उसको देश-भाषा नहीं तो और क्या कहते हैं। अस्तु, इस प्रसंग को हम और अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि कीथ ने

जिन आधारों पर अपने नए मत का निश्चय किया है वे ठीक नहीं हैं, अतएव वे सिद्धांत भी भ्रमात्मक हैं।

आगे चलकर प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई और केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी। पर उसका स्वाभाविक प्रवाह चलता रहा। क्रमशः वह भाषा एक ऐसे रूप को पहुँची जो कुछ अंशों में तो हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलता है और कुछ अंशों में अपभ्रंश से। आधुनिक हिंदी भाषा और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था कभी कभी 'अवहट्ठ' कही गई है। 'प्राकृतपैंगल' में उदाहरण रूप से सन्निविष्ट कविताएँ इसी अवहट्ठ भाषा में हैं। इसी अवहट्ठ को पिंगल भी कहते हैं और राजपूताने के भाट अपनी डिंगल के अतिरिक्त इस पिंगल में भी कविता करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने इसे 'पुरानी हिंदी' नाम भी दिया है। यद्यपि इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है कि इस अपभ्रंश का कब अंत होता है और पुरानी हिंदी का कहाँ से आरंभ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है।

पुरानी हिंदी

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट-छँट या सुधर-कर साहित्यिक रूप धारण किया; पर साथ ही वह बोल-चाल की भाषा भी बनी रही। प्राचीन काल की बोल-चाल की भाषा को कुछ विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है। हमने उसका उल्लेख मूल भाषा के नाम से किया है। आगे

चलकर यह पहली प्राकृत या मूल भाषा दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्त्तित हुई, जिसकी तीन अवस्थाओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन्हीं तीन अवस्थाओं का हमने पहली प्राकृत या पाली, दूसरी प्राकृत या शौरसेनी आदि प्राकृतें, और अपभ्रंश नामों से उल्लेख किया है। जब इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें भी साहित्य की रचना आरंभ हुई, तब बोल-चाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये आधुनिक देश-भाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं। इस इतिहास का यहाँ तक विवेचन करके यह कहना पड़ता है कि बोल-चाल की भाषा तथा साहित्य की भाषा में जब विशेष अंतर होने लगता है, तब वे भिन्न भिन्न मार्गों पर लग जाती हैं और उनका पृथक् पृथक् विकास होने लगता है।

आर्यों के सप्तसिंधु में बस जाने के उपरांत उनके वहाँ रहते समय ही उनकी भाषा ने वह रूप धारण किया था, जिसे आजकल लोग प्राचीन संस्कृत कहते हैं। पर उस समय भी उसके कई प्रांतीय भेद और उपभेद थे। आजकल भारतवर्ष में जितनी आर्यभाषाएँ बोली जाती हैं, उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं प्रांतीय भेदों और उपभेदों से हुई है। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों में जो संस्कृत भाषा मिलती है, उसका विकास भी उन्हीं भेदों से हुआ था।

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विवेचन से सिद्ध होता है कि कुछ भाषाएँ तो पूर्वागत आर्यों की भाषाओं से संबंध रखती हैं, जो इस समय भी मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं, और कुछ परागत आर्यों की भाषाओं से संबद्ध हैं। इस आधार पर हार्नले और ग्रियर्सन ने भारत की आधुनिक भाषाओं के दो मुख्य विभाग किए हैं। उनमें से एक विभाग की भाषाएँ तो उन प्रदेशों में बोली जाती हैं जो इस मध्य देश के अंतर्गत हैं; और दूसरे विभाग की भाषाएँ उन प्रदेशों के चारों ओर के देशों में अर्थात् कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिंध, महाराष्ट्र, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा आसाम में बोली जाती हैं। एक गुजरात प्रदेश ही ऐसा है, जिसमें बोली जानेवाली भाषा का संबंध बहिरंग भाषाओं से नहीं, वरन् अंतरंग भाषाओं से है; और इसका कारण कदाचित् यही है कि किसी समय इस गुजरात प्रदेश पर मथुरावालों ने विजय प्राप्त की थी और मथुरा नगरी उसी मध्य देश के अंतर्गत है।

अंतरंग और बहिरंग भाषाएँ

इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं में कई ऐसे प्रत्यक्ष अंतर और विरोध हैं, जिनसे इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट प्रकट होता है। पहले तो दोनों के उच्चारण में एक विशेष अंतर है।

अंतरंग भाषाओं में बहुधा "स" का ठीक उच्चारण होता है; पर बहिरंग भाषाओं के भाषी शुद्ध दंत्य "स" का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते। वे उसका उच्चारण कुछ कुछ तालव्य "श" अथवा मूर्द्धन्य "ष" के समान करते हैं।

दोनों भाषाओं में भेद

ईरानी शाखा की फारसी आदि भाषाओं में बहुत प्राचीन काल से "स" के स्थान में "ह" कर देने की प्रवृत्ति देखने में आती है; जैसे, सप्त के स्थान में हप्त। यही बात बहिरंग भाषाओं में भी पाई जाती है। पंजाबी और सिंधी में "कोस" का "कोह" हो जाता है। इधर बँगला तथा मराठी में दंत्य "स" के स्थान में प्राय: "श" बोला जाता है। पूर्वी बंगाल तथा आसाम में वही "च" और "स" के बीच का एक नया उच्चारण हो जाता है; और पश्चिमी सीमा-प्रांत तथा कश्मीर आदि में वही शुद्ध "ह" हो जाता है। दोनों विभागों की संज्ञाओं के रूपों में भी एक विशेष अंतर देखने में आता है। अंतरंग भाषाओं के प्राय: सभी मूल प्रत्यय नष्ट हो गए हैं और उनका काम विभक्तियों से लिया जाता है, जो शब्दों के साथ जोड़ी जाती हैं; जैसे का, को, से, ने आदि। पर बहिरंग भाषाएँ इनकी अपेक्षा कुछ अधिक विकसित हैं।

भाषा-विज्ञान का सिद्धांत है कि भाषाएँ पहले वियोगावस्था में रहती हैं; और तब क्रमश: विकसित होते होते संयोगावस्था में आती हैं। प्राय: सभी अंतरंग भाषाएँ इस समय वियोगावस्था में हैं; पर बहिरंग भाषाएँ विकसित होते होते संयोगात्मक हो गई हैं। बहिरंग भाषाओं और अंतरंग भाषाओं में एक और अंतर यह है कि बहिरंग भाषाओं की
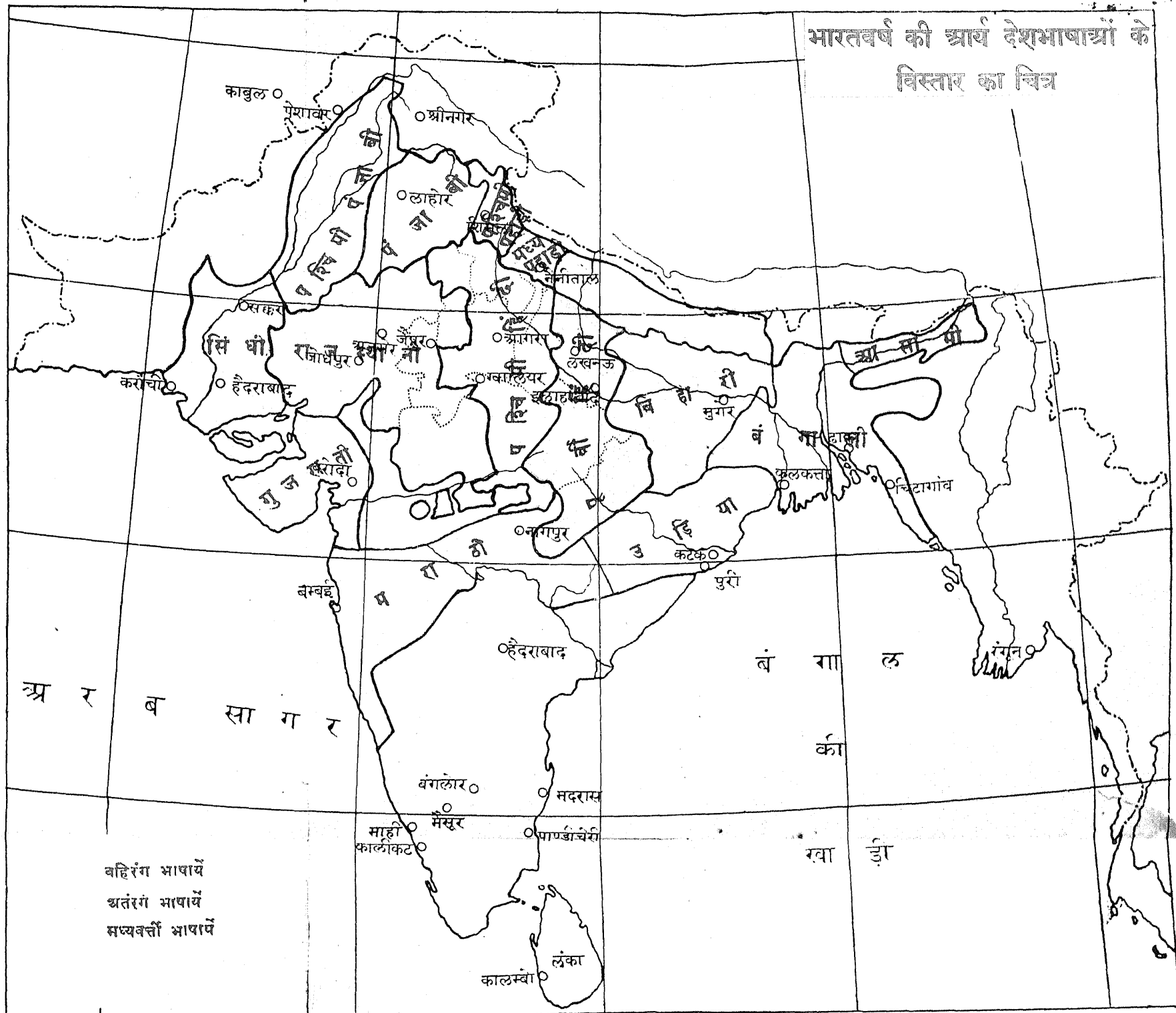
भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उनका पुरुष और वचन मालूम हो जाता है; पर अंतरंग भाषाओं में सभी पुरुषों में उन क्रियाओं का रूप एक सा रहता है। हिंदी में "मैं गया" "वह गया" और "तू गया" सबमें "गया" समान है; पर मराठी में "गेलों" से ही "मैं गया" का बोध होता है; और "गेला" से "वह गया" का। बँगला का "मारिलाम्" शब्द भी यही सूचित करता है कि उसका कर्त्ता उत्तम पुरुष है। तात्पर्य यह कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी अंतर्भुक्त होता है; पर अंतरंग भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

पर इस मत का अब खंडन होने लगा है और दोनों प्रकार की भाषाओं के भेद के जो कारण ऊपर दिखाए गए हैं, वे अन्यथा-सिद्ध हैं, जैसे 'स' का 'ह' हो जाना केवल बहिरंग भाषा का ही लक्षण नहीं है, किंतु अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी ऐसा ही होता है। इसके तस्य–तस्स–तास = ताह = ता (ताको, ताहि इत्यादि), करिष्यति–करिस्सदि–करिसइ–करिहइ–करिहै एवं केसरी से केहरि आदि बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार बहिरंग मानी जानेवाली भाषाओं में भी 'स' का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—राजस्थानी (जयपुरी)–करसी, पश्चिमी पंजाबी—करेसी इत्यादि। इसी प्रकार संख्या-वाचकों में 'स' का 'ह' प्रायः सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्यभाषाओं में पाया जाता है। यथा पश्चिमी हिंदी में—ग्यारह, बारह, चौहत्तर इत्यादि; एवं बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अंतर्भुक्त होना और अंतरंग भाषाओं में ऐसा न

होना जो बड़ा भारी भेदक माना गया है, वह भी एक प्रकार से दुर्बल ही है। उस विषय का थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं (पाली, प्राकृत आदि) से तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का लोप हो चला था। सकर्मक क्रियाओं का भूतकाल भूतकाल-वाची धातुज विशेषणों की सहायता से बनाया जाने लगा था। कर्म इन धातुज विशेषणों का विशेष्य होता था और कर्त्ता में करण की विभक्ति लगाई जाती थी। सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में इस प्रकार का कर्मणि-प्रयोग प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं ने अपनी अपनी मूलभूत अपभ्रंशों से प्राप्त किया है। यह कर्मणि-प्रयोग बहिरंग मानी जानेवाली पश्चिमी और दक्षिणी भाषाओं अर्थात् पश्चिमी पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और मराठी में जिस प्रकार प्रचलित है उसी प्रकार अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी है। हाँ, पूर्वी हिंदी तथा मागधी की सुताओं ने अवश्य इसका पूर्ण रूप से परित्याग कर कर्तरि-प्रयोग ही को अपनाया है। इनमें भी उन्हीं धातुज विशेषणों के रूपों में पुरुषबोधक प्रत्यय लगाकर तीनों पुरुषों के पृथक् पृथक् रूप बना लिए जाते हैं। पश्चिमी पंजाबी और सिंधी में इस प्रकार के प्रत्यय तो लगते हैं, पर उनमें कर्मणि-प्रयोग की पद्धति ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। यह इसलिये प्रतीत होता है कि क्रिया-बोधक धातुज के लिंग और वचन कर्म ही के अनुसार बदलते हैं। इन भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय लगाने का कारण यह जान पड़ता है कि इनमें सप्रत्यय कर्त्ता का प्रयोग नहीं होता, अपितु उसका केवल विकारी अप्रत्यय रूप काम में लाया जाता है। अतः पुरुष

बोधन के लिये तादृश प्रत्यय लगा देना सप्रयोजन समझा जाता है। इस विषय में इनकी पड़ोसी ईरानी भाषाओं का भी कुछ न कुछ हाथ है। मिलाइए फारसी कर्दम् (मैंने किया), पश्तो—कूडम्। चाहे जैसे हो, पश्चिमी हिंदी और पश्चिमी पंजाबी आदि में सांसिद्धिक साधर्म्य अवश्य है। अब यदि इन भाषाओं का भेद कर सकते हैं तो यों कर सकते हैं कि पूर्वी भाषाएँ कर्त्तरिप्रयोग-प्रधान और पश्चिमी कर्मणि-प्रयोग-प्रधान होती हैं।

पश्चिमी भाषाएँ

(कर्मणि-प्रयोग)

पश्चिमी हिंदी—मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती—में पोथी वाँची।
मराठी—मीं पोथी वाचिली।
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ा-मे।
पश्चिमी पंजाबी—(मैं) पोथी पढ़ी-म्।

(यहाँ में, मीं, मूँ, मैं सभी 'मया' से निकले हुए करण विभक्त्यंत रूप हैं। 'मैंने' में करण की दोहरी विभक्ति लगी है)।

पूर्वी भाषाएँ

(कर्त्तरि-प्रयोग)

पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ।
भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं।
मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ।
बँगला—आमि पुथी पोड़िलाम्।
(मुइ पुथी पोड़िली—लुम्)
उड़िया—आम्भे पोथि पोढ़िलुँ (मुँ पोथि पोढ़िली)

विचार करने की बात है कि इस प्रकार भेद रहते हुए बँगला आदि पूर्वी भाषाओं को सिंधी, पश्चिमी पंजाबी आदि के साथ नाथकर सबको बहिरंग मान लेना कहाँ तक ठीक है। एवं अंतरंग और बहिरंग भेद का प्रयोजक आर्यों का भारतवर्ष में अनुमित पूर्वागमन और परागमन भी असंदिग्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध आर्यों का पहले ही से सप्त-सिंधु में निवास करना एक प्रकार से प्रमाणित हो चला है। अस्तु; यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है। कोई पक्ष अभी तक सर्वमान्य नहीं हुआ है। इस अवस्था में आधुनिक आर्यभाषाओं के अंतरंग और बहिरंग विभेदों को ही मानकर हम आगे बढ़ते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण

अंतरंग भाषाओं के दो मुख्य विभाग हैं—एक पश्चिमी और दूसरा उत्तरी। पश्चिमी विभाग में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी ये चार भाषाएँ हैं; और उत्तरी विभाग में पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी ये तीन भाषाएँ हैं। बहिरंग भाषाओं के तीन मुख्य विभाग हैं—उत्तर-पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी। इनमें से उत्तर-पश्चिमी विभाग में कश्मीरी, कोहि-स्तानी, पश्चिमी पंजाबी और सिंधी ये चार भाषाएँ हैं। दक्षिणी विभाग में केवल एक मराठी भाषा है; और पूर्वी विभाग में उड़िया, बिहारी, बँगला और आसामी ये चार भाषाएँ हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं के बीच में एक और विभाग है, जो मध्यवर्ती कहलाता है और जिसमें पूर्वी हिंदी है। इस मध्य-वर्ती विभाग में अंतरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं और

बहिरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं। यहाँ हम इनमें से केवल पश्चिमी हिंदी, बिहारी और पूर्वी हिंदी के संबंध की कुछ मुख्य मुख्य बातें दे देना चाहते हैं।

पश्चिमी हिंदी

पश्चिमी हिंदी पश्चिम में पंजाब के सरहिंद नामक स्थान से पूर्व में प्रयाग तक बोली जाती है। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय की तराई तक और दक्षिण में बुंदेलखंड और मध्य प्रदेश के कुछ उत्तरी भागों तक है। इसकी हिंदी या हिंदुस्तानी, व्रज भाषा, कन्नौजी, बुँदेली आदि कई मुख्य बोलियाँ हैं, जिनमें दक्षिण-पूर्वी पंजाब की बाँगड़ू और पूर्वी राजपूताने की कुछ बोलियाँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं। आधुनिक हिंदी की इन बोलियों के संबंध में पूरा विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

शुद्ध हिंदी भाषा दिल्ली और मेरठ के आस पास के प्रांतों में बोली जाती है और यही प्रायः सारे उत्तरी भारत की साहित्य की भी भाषा है। हिंदी और उर्दू का समस्त आधुनिक साहित्य इसी हिंदुस्तानी या शुद्ध हिंदी बोली में है। रुहेलखंड में पहुँचकर यही भाषा कन्नौजी का रूप धारण कर लेती है, अंबाले से आगे बढ़ने पर पंजाबी हो जाती है और गुड़गाँव के दक्षिण-पूर्व में व्रज भाषा बन जाती है। यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि इस भाषा का यह हिंदुस्तानी नाम अँगरेजों का रखा हुआ है; इसका शुद्ध भारतीय नाम हिंदी ही है। उर्दू या रेख़ता और दक्खिनी आदि इसके वही रूपांतर हैं, जो इसमें संस्कृत शब्दों की न्यूनता और अरबी तथा फारसी शब्दों की अधिकता करने से प्राप्त होते हैं। उत्तरी भारत के मुसलमानों ने इसे अपनाने के लिये उर्दू या

रेखता नाम दे दिया है और दक्षिणी भारत के मुसलमान इसे दक्खिनी कहते हैं। पर हैं ये सब शुद्ध हिंदी के ही रूपांतर मात्र। कुछ लोग स्वयं "हिंदी" शब्द को फारसी बतलाते हैं और कहते हैं कि इसमें हिंद शब्द के अंत में जो "ई" है, वह फारसी की "याए निस्बती" (संबंध-सूचक य या ई) है। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि फिर अवधी, बिहारी और मराठी आदि में जो ई है वह कैसी है? दूसरे इस अर्थ का बोधक ई प्रत्यय पाली में भी लगता है। जैसे—अप्पमत्तो अयं गंधो यायं तगरचंदनी (धम्मपद ४।५६)। अतः यह कहना कि यह फारसी का प्रत्यय है ठीक नहीं है। यह विषय हमारे प्रस्तुत प्रसंग से कुछ बाहर है, इसलिये इसे हम यहीं छोड़ देते हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यह हमारी भाषा है और इस समय सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो रही है।

इटावा, मथुरा और आगरा आदि व्रज भाषा के प्रधान क्षेत्र हैं। यह ग्वालियर के उत्तर-पश्चिमी विभाग और भरतपुर तथा काँकरौली में भी बोली जाती है। अधिक पश्चिम अथवा दक्षिण जाने पर यही राजस्थानी का रूप धारण कर लेती है। इस भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से है। इसका प्राचीन प्रसिद्ध साहित्य अवधी के साहित्य से भी अधिक और बढ़ा चढ़ा है; और उत्तर भारत के इधर चार पाँच सौ वर्षों के अधिकांश कवियों ने इसी भाषा में कविताएँ की हैं। उनमें से सूर, तुलसी, बिहारी आदि अनेक ऐसे कवि भी हो गए हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं के कारण ही बहुत दूर दूर तक ख्याति प्राप्त कर ली है और जो इसी कारण अमर हो गए हैं।

कन्नौजी भाषा का विस्तार इटावे और प्रयाग के बीच के प्रदेश में है। यह हरदोई और उन्नाव के भी कुछ विभागों में बोली जाती है। इसे व्रज भाषा का ही एक विकृत रूप समझना चाहिए। इसका साहित्य प्रायः नहीं के समान है; क्योंकि इसके अधिकांश भाषियों ने व्रज भाषा में ही कविता की है। यह भाषा कुछ जल्दी जल्दी नष्ट होती हुई दिखाई देती है; क्योंकि इधर थोड़े दिनों के अंदर ही इसके अनेक प्रयोग नष्ट हो गए हैं। अब अन्यान्य अनेक प्रांतीय बोलियों की भाँति यह भी शुद्ध हिंदी या हिंदुस्तानी का रूप धारण कर रही है।

बुंदेलखंड और उसके आस पास जालौन, झाँसी, हमीरपुर, और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बुँदेली बोली जाती है, पर बाँदे की बोली बुँदेली नहीं, बघेली है। पन्ना के महाराज छत्रसाल के समय से बुँदेली में भी कुछ साहित्य पाया जाता है। इस प्रकार व्रज भाषा, कन्नौजी और बुँदेली का आपस में बहुत संबंध है।

पंजाब के दक्षिण-पूर्व में जो भाषा बोली जाती है, उसके कई स्थानिक नाम हैं। हिसार और झींद के आस पास के हरियाना प्रांत की बोली "हरियानी" कहलाती है; और रोहतक, दिल्ली तथा करनाल की भाषा हिंदी मानी जाती है। इसके भाषी मुख्यतः जाट हैं, इसलिये इसे जाटू भी कहते हैं। जिस प्रांत में यह बोली जाती है, उसका नाम बाँगड़ है, इसलिये इसे बाँगड़ू भी कहते हैं। इसका यही नाम कुछ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसे पश्चिमी हिंदी, पंजाबी और मारवाड़ी का मिश्रण कहना चाहिए; और इसके चारों ओर ये ही तीनों भाषाएँ बोली भी जाती हैं।

सारे बिहार प्रदेश और उसके आस पास संयुक्त प्रदेश, छोटा नागपुर और बंगाल में कुछ दूर तक बिहारी भाषा बोली जाती है। यद्यपि बँगला और उड़िया की भाँति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से ही निकली है, तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिंदी में होती है और ठीक होती है। इस भाषा का हिंदी के अंतर्गत माना जाना इसलिये ठीक है कि बँगला, आसामी और उड़िया आदि की भाँति इसमें "स" का उच्चारण "श" नहीं होता, बल्कि शुद्ध "स" होता है; पर बिहारी या कैथी लिपि में लिखा अब तक "श" ही जाता है, "स" अथवा "ष" के लिये उसमें कोई चिह्न ही नहीं है। इसके अतिरिक्त इसकी बहुत सी बातें पूर्वी हिंदी से बहुत अधिक मिलती जुलती हैं। पहले जिन स्थानों में मागध अपभ्रंश बोली जाती थी, अब ठीक उन्हीं स्थानों में उससे उत्पन्न बिहारी भाषा बोली जाती है। बिहारी भाषा में मैथिली, मगही और भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। मिथिला या तिरहुत और उसके आस पास के कुछ स्थानों में मैथिली बोली जाती है, पर उसका विशुद्ध रूप दरभंगे में पाया जाता है। इस भाषा के प्राचीन कवियों में विद्यापति ठाकुर बहुत ही प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कवि हो गए हैं, जिनकी कविता का अब तक बहुत आदर होता है। इस कविता का अधिकांश सभी बातों में प्रायः हिंदी ही है। दक्षिणी बिहार और हजारीबाग की भाषा मगही कहलाती है। प्राचीन काल में यही प्रदेश मगध कहलाता था। इस भाषा में कोई साहित्य नहीं है। भोजपुरी बोली शाहाबाद और उसके चारों ओर दूर दूर तक पश्चिमी बिहार, पूर्वी संयुक्त

बिहारी भाषा

प्रांत, पालामऊ, राँची, आजमगढ़ आदि स्थानों या उनके कुछ अंशों में थोड़े बहुत परिवर्तित रूपों में बोली जाती है। इस बोली के तीन उपविभाग किए जा सकते हैं—शुद्ध भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी और नागपुरिया। संयुक्त प्रांतवालों ने पश्चिमी भोजपुरी का नाम "पूर्बी" रख छोड़ा है, जो बहुत ही उपयुक्त और सुंदर है। पर कभी कभी इस "पूर्बी" से ऐसी भाषाओं का भी बोध होता है, जिनका भोजपुरी से कुछ संबंध ही नहीं है।

मैथिली और मगही में परस्पर कुछ विशेष संबंध है; और भोजपुरी इन दोनों से अलग है। मैथिली बोली में "अ" का उच्चारण प्राय: "ओ" का सा और बंगालियों के "अ" के उच्चारण से बहुत कुछ मिलता हुआ होता है। मगही के उच्चारण में यह बात उतनी अधिक नहीं है, और भोजपुरी में तो बिलकुल नहीं है। मैथिली और मगही में मध्यम पुरुष के लिये आदर-सूचक शब्द "अपने" है; पर भोजपुरी में उसके लिये "रौरे" शब्द का व्यवहार होता है। मैथिली और मगही में क्रियाओं के रूप बनाने के जो नियम हैं, वे बहुत ही जटिल हैं; पर भोजपुरी के ये नियम अपेक्षाकृत सरल हैं। इन तीनों बोलियों के विकास और उन्नति के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि मैथिली और मगही बोली बोलनेवाले लोग पुरानी लकीर के फकीर हैं और वे सहसा कोई नई बात ग्रहण नहीं करते। पर भोजपुरी के बोलनेवाले उद्यमी और क्रियाशील होते हैं और अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेना जानते हैं। अत: इन भाषाओं में परस्पर जो कुछ अंतर है, वह भी इसी अंतर के अनुसार है। मैथिली भाषा

मिथिला-अक्षरों में लिखी जाती है, जो बँगला अक्षरों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। शेष बिहार में बिहारी अथवा कैथी लिपि का प्रयोग होता है, जो बहुत कुछ देवनागरी के ही समान होती है; पर शीर्ष-रेखा के अभाव के कारण वह गुजराती अक्षरों से भी बहुत कुछ मिल जाती है।

पूर्वी हिंदी

अब हम अंतरंग और बहिरंग भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा पूर्वी हिंदी को लेते हैं। यह भाषा अर्धमागधी की स्थानापन्न मानी जाती है और अवध, बघेलखंड, बुंदेलखंड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बोली जाती है। इसमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी ये तीन बोलियाँ सम्मिलित हैं। बघेली और अवधी में परस्पर बहुत थोड़ा अंतर है; पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ने के कारण छत्तीसगढ़ी इन दोनों से बहुत भिन्न जान पड़ती है। पर फिर भी अवधी के साथ उसका घनिष्ठ संबंध देखने में आता है। अवधी-बघेली बोली संयुक्त प्रांत के पूर्व बुंदेलखंड, बघेलखंड और जबलपुर तथा मंडला आदि जिलों में बोली जाती है। फतहपुर और बाँदे के बीच में, जहाँ यमुना नदी बहती है, उसके उत्तर में और इलाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा तक अवधी बोली का प्रचार है और उसके दक्षिण के प्रांतों में बघेली का। छत्तीसगढ़ और उसके आस पास उदयपुर, कोरिया और सरगुजा आदि रियासतों में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। तात्पर्य यह कि उत्तर में नेपाल की तराई से लेकर दक्षिण में बस्तर रियासत तक पूर्वी हिंदी का प्रचार है। पर इसका जितना अधिक विस्तार उत्तर दक्षिण में है, उतना अधिक पूर्व-पश्चिम में नहीं है।

पूर्वी हिंदी इसलिये अंतरंग और बहिरंग भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा कही जाती है कि इसमें कुछ कुछ बातें दोनों प्रकार की भाषाओं की पाई जाती हैं। इसमें संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप प्रायः उसी प्रकार बनते हैं, जिस प्रकार बहिरंग वर्ग की पूर्वी भाषाओं में बनते हैं। क्रियाओं के रूप बनाने में कुछ तो अंतरंग भाषाओं में की पश्चिमी हिंदी का और कुछ बहिरंग भाषाओं में की बिहारी भाषा का ढंग लिया जाता है। पश्चिमी हिंदी में कहते हैं—"उसने मारा"। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, अंतरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रिया का रूप सभी पुरुषों में एक सा होता है; पर बहिरंग भाषाओं में उसके रूप में उसका पुरुष भी अंतर्हित होता है। इसी नियम के अनुसार बिहारी में—"उसने मारा" के लिये—"मरलस" कहेंगे। इसमें अंत का "स" उसके पुरुष का द्योतक है, जिससे उसका अर्थ होता है—"उसने मारा"। बहिरंग भाषाओं की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी क्रियाओं के अंत में ल या ला होता है, जो इस बिहारी "मरलस" में स्पष्ट है। पर पूर्वी हिंदी में यह विशेषता है कि उसमें यह ल तो नहीं होता, किन्तु पुरुष का बोधक स होता है। पूर्वी हिंदी में कहते हैं—"मारिस"। इसी प्रकार पश्चिमी हिंदी में कहेंगे—"उसने दिया"। बिहारी में कहा जायगा—"देहलस", और पूर्वी हिंदी में उसका रूप होगा—"दिहिस"। इन सब में "स" "वह" का बोधक है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार किसी समय अर्धमागधी मध्यवर्ती भाषा थी, उसी प्रकार उसकी स्थानापन्न यह पूर्वी हिंदी भी मध्यवर्ती भाषा है।

तीसरा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

ऊपर हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक प्राकृत से भिन्न भिन्न प्राकृतों का विकास हुआ और इनके साहित्यिक रूप धारण करने पर अपभ्रंशों का कैसे उदय हुआ; तथा जब ये अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब आधुनिक देश-भाषाओं की कैसे उत्पत्ति हुई। हिंदी के संबंध में विचार करने के समय यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका उदय क्रमशः शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों तथा शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से हुआ है। अतएव जब हम हिंदी के शब्दों की उत्पत्ति तथा उसके व्याकरण के किसी अंग पर विचार करते हैं, तब हमें यह जान लेना आवश्यक होता है कि प्राकृतों या अपभ्रंशों में उन शब्दों के क्या रूप या व्याकरण के उस अंग की क्या व्यवस्था होती है। हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल में शब्दों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन हुआ है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस बात पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है कि शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से हुई है। यास्क का कहना था कि सब शब्द धातु-मूलक हैं; और धातु वे क्रियावाचक शब्द हैं जिनमें प्रत्यय आदि लगाकर धातुज शब्द बनाए जाते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा गया कि सब शब्द धातु-

धातु-भेद

मूलक नहीं हैं; क्योंकि यदि सब शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मान ली जाय, तो "अश्" धातु से, जिसका अर्थ 'चलना' है, अश्व शब्द बनकर सब चलनेवाले जीवों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। इसका उत्तर यास्क ने यह दिया है कि जब एक क्रिया के कारण एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है, तब वही क्रिया करनेवाले दूसरे पदार्थों का वही नाम नहीं पड़ता। फिर किसी पदार्थ का कोई मुख्य गुण लेकर ही उस पदार्थ का नाम रखा जाता है, उसके सब गुणों का विचार नहीं किया जाता। इसी मत का अनुसरण पाणिनि ने भी किया है और इस समय सब भाषाओं के संबंध में यही मत माना भी जाता है। संस्कृत में १७०८ धातु हैं जिनके तीन मुख्य विभाग हैं—

(क) प्रथम प्रकार के धातु (१) या तो एक स्वर के बने होते हैं, जैसे 'इ'; (२) या एक स्वर और एक व्यंजन से, जैसे "अद्"; (३) अथवा एक व्यंजन और एक स्वर से, जैसे "दा"। किसी भाषा के इतिहास में इस प्रकार के धातु, जिन्हें हम मूल धातु कह सकते हैं, सबसे प्रधान होते हैं; पर विकासोन्मुख विचारों और भावों को व्यंजित करने में इनकी शक्ति साधारणतः बहुत अस्पष्ट होती है। इसलिये क्रमशः इनका स्थान दूसरे प्रकार के धातु और दूसरे प्रकार के धातुओं का स्थान तीसरे प्रकार के धातु ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के धातु एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन से बने होते हैं; जैसे 'तुद्'। आर्य भाषाओं में इस श्रेणी के धातुओं का अंतिम व्यंजन प्रायः बदलकर अनेक अन्य धातुओं की सृष्टि करता है। जैसे, तुप्, तुभ्, तुज्,

तुट्, तुर्, तुह्, तुस्। इन सब धातुओं के अर्थ में मूल भाव एक ही है, पर विचारों और भावों के सूक्ष्म भेद प्रदर्शित करने के लिये इन धातुओं के अंतिम व्यंजन का परिवर्तन करके शब्दों की शक्ति की व्यापकता का उपाय किया गया है।

(ग) तीसरी श्रेणी के धातुओं के चार उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार बनते हैं—

(१) व्यंजन, व्यंजन और स्वर; जैसे "प्लु"।

(२) स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "अर्द्"।

(३) व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन; जैसे "स्पश्"।

(४) व्यंजन, व्यंजन, स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "स्पन्द्"।

इस श्रेणी के धातुओं में यह विशेषता होती है कि दो व्यंजनों में से एक अंतस्थ, अनुनासिक या ऊष्म होता है और उसमें विपर्यय होकर अनेक धातु बन जाते हैं, जो भावों या विचारों के सूक्ष्म भेद व्यंजित करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार धातुओं से संस्कृत के शब्द-भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। प्रोफेसर मैक्समूलर का अनुमान है कि यदि विचार और परिश्रम किया जाय, तो संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार १७०८ से घटकर प्राय: ५०० धातुओं पर अवलंबित हो जाय।

इन्हीं धातुओं से संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार बनता है। संस्कृत शब्दों में से अनेक शब्द हमारी हिंदी में मिल गए हैं। ऐसे शब्दों को, जो सीधे संस्कृत से हमारी भाषा में आए हैं, तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आजकल की भाषा में ऐसे शब्दों का समावेश दिनों दिन बढ़ता जाता है। भाषा की उन्नति के लिये

शब्द-भेद

यह एक प्रकार से आवश्यक और अनिवार्य भी है। ये तत्सम शब्द अधिकतर संस्कृत के प्रातिपदिक रूप में लिए जाते हैं; जैसे, देव, फल; और कुछ संस्कृत की प्रथमा के एकवचन के रूप में हिंदी में सम्मिलित होकर प्रयुक्त होते हैं और उसके व्याकरण के अनुशासन में आते हैं; जैसे—राजा, पिता, दाता, नदी आदि।

इनके अतिरिक्त हिंदी में ऐसे शब्दों की बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे—साँप, काज, बच्चा आदि। इस प्रकार के शब्दों में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे संस्कृत से प्राकृत में आए हुए तद्भव शब्द हैं अथवा प्राकृतों के ही तत्सम शब्द। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ये शब्द प्राकृत से हिंदी में आए हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें अर्ध-तत्सम कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत शब्द आते हैं जिनका प्राकृत-भाषियों द्वारा युक्त विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) या प्रतिभासमान वर्ण-विकार होते होते भिन्न रूप हो गया है। जैसे, अगिन, बच्छ, अच्छर, किरपा आदि।

इन तीनों प्रकार के शब्दों की भिन्नता समझने के लिये एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है। संस्कृत का "आज्ञा" शब्द हिंदी में ज्यों का त्यों आया है, अतएव यह तत्सम हुआ। इसका अर्धतत्सम रूप आग्याँ हुआ। प्राकृत में इसका रूप "आणा" होता है जिससे हिंदी का 'आन' शब्द निकला है। इसी प्रकार "राजा" शब्द तत्सम है और 'राय'

या 'राव' उसका तद्भव रूप है। ये तीनों प्रकार के—अर्थात् तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव—शब्द हिंदी में मिलते हैं; परंतु सब शब्दों के तीनों रूप नहीं मिलते। क्रियापद और सर्वनाम प्रायः तद्भव हैं, परंतु संज्ञा शब्द तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार के मिलते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दों के कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तत्सम	**अर्ध-तत्सम**	**तद्भव**
वत्स	वच्छ	बच्चा
स्वामी		साईं
कर्ण		कान
कार्य	कारज	काज
पक्ष		पंख, पाख
वायु		बयार
अक्षर	अच्छर	अक्खर, आखर
रात्रि	रात	
सर्व		सब
दैव	दई	

कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता ही नहीं चलता। संभव है कि भाषा-विज्ञान की अधिक चर्चा होने तथा शब्दों की व्युत्पत्ति की अधिक खोज होने पर इनके मूल आधार का भी पता चल जाय। ऐसे शब्दों को 'देशज' कहते हैं। जैसे, तेंदुआ, खिड़की, (खडक्किका—कादम्बरी टीका ?) घूआ, ठेस इत्यादि। पर इस समय तक तो इन शब्दों का देशज माना जाना अल्पज्ञता का ही सूचक है।

हिंदी भाषा में एक और प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जो किसी पदार्थ की वास्तविक या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें 'अनुकरण' शब्द कहते हैं, जैसे—खटखटाना, चट-चटाना, फड़फड़ाना, धमकाना इत्यादि। संसार की सब भाषाओं में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। इसी अनुकरण सिद्धांत पर मनुष्यों की भाषा का विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त हिंदी में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें कहने को तो तत्सम कहते हैं, पर वे तत्सम नहीं हैं। इनमें से कुछ शब्द तो बहुत दिनों से चले आते हैं; जैसे—श्राप, प्रण, छत्राणी, सिंचन, अभिलाषा, सृजन, मनोकामना आदि; और अधिक आजकल अल्प-संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चल रहे हैं; जैसे—राष्ट्रीय, जागृत, पौर्वात्य, उन्नायक आदि आदि। इन्हें चाहें तो तत्समाभास कह सकते हैं।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिन्हें न तत्सम कह सकते हैं, न तद्भव और न देशज। जैसे, संस्कृत 'मातृष्वसा' से प्रसिद्ध स्त्रीत्व-व्यंजक 'ई' प्रत्यय लगाकर जो 'मौसी' शब्द बना है वह तो तद्भव है, पर उससे बना पुंलिङ्ग 'मौसा' शब्द न तत्सम है, न तद्भव और न देशज। ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव या तद्भवाभास कहें तो कह सकते हैं। किंतु अब तक विद्वानों ने इन्हें कोई नाम नहीं दिया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो या तो दो भाषाओं के शब्दों के समास से, जैसे—'कौंसिल निर्वा-चन', 'सबूट पादप्रहार', 'अमन सभा', 'जगन्नाथ-बख्श', 'राम-चीज़' आदि आदि; या विजातीय प्रकृति अथवा प्रत्यय के योग से; जैसे—उजड्डता, रसदार, अकाट्य, गुरुडम, लाटत्व आदि बनते हैं। दो भाषाओं से बने होने के कारण

यदि इन्हें 'द्विज' कह दिया जाय तो, आशा है, किसी को बुरा न लगेगा।

कभी कभी किसी शब्द का प्रकार, सादृश्य या संबंध बोधन करने के लिये आंशिक आवृत्ति कर दी जाती है, जैसे, लोटा ओटा अर्थात् लोटा और तत्सदृश अन्य वस्तुएँ। इसी प्रकार की प्रकारार्थक द्विरुक्ति आधुनिक आर्यभाषा एवं द्रविड़ भाषाओं में ही देखी जाती है। जैसे—हिंदी—घोड़ा-ओड़ा; बँगला—घोड़ा-टोड़ा; मैथिली—घोड़ा-तोड़ा; गुजराती—घोड़ो-बोड़ो; मराठी—घोड़ा-बोड़ा; सिंहली—अश्वया-बश्वया; तामिल—कुदिरइ-किदिरइ; कनड़ी—कुदिरे-गिदिरे; तेलुगु—गुर्रमु-गिर्रमु। इसी प्रकार, हिंदी—जल-वल या जल-ओल अर्थात् जल-जलपान; बँगला—जोल्-टोल्; मराठी—जल-बिल; तामिल—तण्णीर-किण्णीर; कनड़ी—नीरु-गीरु आदि। हिंदी में इस प्रकार के प्रतिध्वनि शब्दों की सृष्टि पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव समझना चाहिए।

तत्सम और तद्भव शब्दों के रूप-विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में भी विभेद हो गया है। विशेषता यह देखने में आती है कि तत्सम शब्द कभी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसी का तद्भव रूप विशेष अर्थ देता है; जैसे—गर्भिणी और गाभिन; स्थान और थान। कभी तत्सम शब्द से महत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है और उसी के तद्भव रूप से लघुता का, जैसे—देखना और दर्शन। यह भी देखने में आता है कि कभी कभी एक ही द्व्यर्थक शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं; जैसे—'वंश' शब्द के तत्सम रूप का अर्थ कुटुंब और तद्भव रूप बाँस का

अर्थ तृण-विशेष ही लिया जाता है। एक ही शब्द नानार्थक कैसे हो जाता है अथवा एक ही प्रकार के भाव का द्योतन करने के लिये अनेक पर्यायों की कैसे सृष्टि होती है, या किसी एक पर्याय की अवयवार्थ-बोधकता अन्य पर्याय को, चाहे उसका अवयवार्थ कुछ और ही हो, कैसे प्राप्त हो जाती है, जैसे—भोगी साँप को भी कहते हैं और भोग करनेवाले विलासी को भी। साँप का पर्याय-वाचक भुजंग शब्द वेश्या का उपभोग करनेवाले विलासी के लिये प्रयुक्त होता है, यद्यपि भुजंग का अवयवार्थ है टेढ़ी चाल चलनेवाला। इन अनेक बातों की स्वतंत्र विवेचना होनी चाहिए। पर इस प्रसंग को हम यहाँ नहीं छेड़ना चाहते।

आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं; पर तत्सम शब्दों से क्रियापद नहीं बनते। उनमें 'करना' या 'होना' जोड़कर उनके क्रियापद रूप बनाए जाते हैं; जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' या 'दर्शन होना'। पुरानी कविता में तत्सम शब्दों से क्रियापद बनाए गए हैं और उनका प्रयोग भी बहुत कुछ हुआ है। आजकल कुछ क्रियापद तत्सम शब्दों से बनकर प्रयोग में आने लगे हैं; जैसे,'दर्शाना'। ज्यों ज्यों खड़ी बोली में कविता का प्रचार बढ़ेगा, त्यों त्यों उसमें ऐसे क्रियापदों की संख्या भी बढ़ेगी। भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ाने और उसके संक्षेप में भाव प्रकट करने में समर्थ होने के लिये ऐसे नामधातुओं की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार हम हिंदी के शब्द-भांडार का विश्लेषण करके इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) संस्कृत या प्राकृत

भाषाओं से आगत शब्दों, (२) देशज शब्दों तथा (३) अनुकरण शब्दों के अतिरिक्त (४) तत्समाभास, (५) अर्द्ध-तद्भव या तद्भवाभास, (६) द्विज और (७) प्रतिध्वनि शब्द भी पाए जाते हैं।

विदेशी प्रभाव

हमारी भाषा पर भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशियों की भाषाओं का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। द्रविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं और उनमें से होते हुए हमारी भाषा में आ गए हैं। टवर्गी अक्षरों के विषय में बहुतों का यह कहना है कि इनका आगमन संस्कृत और प्राकृत में तथा उनसे हमारी भाषा में द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्रविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषा में नहीं मिल गए हैं, वरन् उनके व्याकरण का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिंदी की कुछ विभक्तियाँ भी द्रविड़ भाषाओं की विभक्तियों के अनुरूप बनाई गई हैं; जैसे—कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्ति यों तो संस्कृत के "कृते" से निकलकर "कहुँ" होती हुई 'को' हो गई है। पर द्रविड़ भाषाओं में इन्हीं दोनों कारकों की विभक्ति 'कु' है। विभक्तियों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि हिंदी विभक्ति 'को' की द्राविड़ विभक्ति 'कु' से बहुत कुछ समानता है; पर इससे यह सिद्धांत नहीं निकल सकता कि वह द्रविड़ भाषाओं से हिंदी में आई। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यह सिद्धांत नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि द्रविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी

विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई, वही रूप अधिक ग्राह्य समझा गया। मिस्टर केलाग का कहना है कि टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले अधिकांश शब्द द्रविड़ भाषा के हैं और प्राकृतों से हिंदी में आए हैं। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रेमसागर के टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले ८६ शब्दों में से २१ संस्कृत के तत्सम और ६८ प्राकृत के तद्भव हैं; और 'क' से आरंभ होनेवाले १२८ शब्दों में से २१ तद्भव और १०७ तत्सम हैं। इससे वे यह सिद्धांत निकालते हैं कि भारतवर्ष के आदिम द्रविड़ निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है, वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अब कई आधुनिक आर्य-भाषाओं के भी शब्द हिंदी में मिलने लगे हैं; जैसे—मराठी के लागू, चालू, बाजू आदि; गुजराती के लोहनी, कुनबी, हड़ताल आदि और बँगला के प्राणपण, चूड़ांत, भद्र लोग, गल्प, नितांत, सुविधा आदि। इसी प्रकार कुछ अनार्य-भाषाओं के शब्द भी मिले हैं, जैसे—तामिल पिल्हई से पिल्ला, शुलुट्टु से चुरुट; तिब्बती—चुंगी; चीनी—चाय; मलय—साबू इत्यादि।

हिंदी के शब्द-भांडार पर मुसलमानों और अँगरेजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों की भाषाएँ फारसी, अरबी और तुर्की मानी जाती हैं। इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मुसलमानों द्वारा अधिक होने के कारण तथा मुसलमानों का उत्तरी भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण ये शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में बहुत अधिकता से मिल गए हैं और इसी कारण साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग चल पड़ा है। पर

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश शब्दों का रूपात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार मुसलमानी शब्दों का भी हिंदी में रूपांतर हुआ है। ये परिवर्तन हम संक्षेप में नीचे देते हैं—

(१) ط और ت हिंदी में त हो जाते हैं; जैसे طلب का तलब और تکرار का तकरार।

(२) ص ث और س हिंदी में स हो जाते हैं; जैसे ثابت का साबित, سائیس का साईस, صاحب का साहिब या साहब। ش का प्रायः श हो जाता है, यद्यपि बोलचाल की भाषा में वह भी प्रायः स ही रहता है।

(३) ذ ز ض और ظ सब हिंदी में ज हो जाते हैं; जैसे ذرہ का जरा, زمین का जमीन, ضامن का जामिन, ظاهر का जाहिर। कहीं कहीं अंतिम ذ द में भी परिवर्तित होता है; जैसे کاغذ का कागद।

(४) ح और ه हिंदी में ह हो जाते हैं; जैसे حال का हाल, هر का हर। शब्दों के अंत में आया हुआ ه जो प्रायः विसर्ग के समान उच्चरित होता है, हिंदी में आ में परिवर्तित हो जाता है; जैसे شبه का शुभा, پرده का पर्दा या परदा, مرده का मुर्दा या मुरदा, پیاده का प्यादा।

(५) ق خ और غ हिंदी में क्रमशः क, ख और ग हो जाते हैं; जैसे قول का कौल, حق का हक, خاک का खाक, غم का गम, غلام का गुलाम, غریب का गरीब।

(६) ف हिंदी में फ हो जाता है; जैसे فایدہ का फायदा, فکر का फिकर, شریف का शरीफ। इस अक्षर के विदेशी उच्चारण का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक जान पड़ता है। यद्यपि यह प्रायः फ हो जाता है, पर बोलचाल में इसने अपना प्रभाव कुछ कुछ बना रखा है; और कहीं कहीं तो शुद्ध संस्कृत शब्दों के फ का भी लोग धोखे से ف के समान उच्चारण कर बैठते हैं; जैसे 'फूल' को 'फूल' न कहकर 'फ़ूल' और 'फिर' को 'फिर' न कहकर 'फ़िर' कहते हैं। प्रायः गुजरातियों के उच्चारण में यह दोष अधिक पाया जाता है।

(७) ع और و का कभी कभी लोप हो जाता है। जब ع शब्द के बीच में आता है, तब उसका लोप होकर उसके पूर्व का अर्धोच्चरित अ दीर्घ हो जाता है; जैसे معلوم का मालूम, موافق का माफिक।

ये सब उदाहरण भाषा के रूप-विकास के भिन्न भिन्न भेदों के अंतर्गत आते हैं। मुसलमानी भाषाओं से आए हुए शब्दों में आगम, विपर्यय और लोप संबंधी भेद भी प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं; जैसे मर्द से मरद, फिक्र से फिकर, अमानत से अनामत।

इन भाषाओं से आए हुए कुछ शब्दों का यदि यहाँ निर्देश कर दिया जाय तो अनुचित न होगा। सुभीते के लिये इनके विभाग कर दिए जायँ तो और अच्छा हो।

राजकाज, लड़ाई, आखेट आदि के—

अमीर, उमरा, खानदान, खिताब, ख्याल, खास, तख्त, ताज, दरबार, दौलत, नकीब, नवाब, बादशाह, मिर्जा, मालिक, हजूर, हजरत, कूच, कतार, काबू, खंजर, जखम, जंजीर, जमादार, तबक, तंबू, तोप, दुश्मन, नगद, नेजा,

फौज, फौत, बहादुर, वजीर, मनसबदार, रसद, रिसाला, शिकार, शमशेर, सरदार, हलका, हिम्मत आदि आदि।

राजकर, शासन, और दंडविधान आदि के—

औलाद, मर्दुमशुमारी, आबाद, इस्तमरारी, वासिल, कब्जा, कसबा, खजाना, खारिज, गुमाश्ता, चाकर, जमा, जमीन, जायदाद, तहबील, ताल्लुक, दारोगा, दफ्तर, नाजिर, प्यादा, फिहरिस्त, बाब, बीमा, महकमा, माफ, मोहर, रैयत, शहर, सन, सरकार, सजा, हद, हिसाब, हिस्सा, आइना, अदालत, इजहार, इलाका, उज्र, कसूर, काजी, कानून, खिलाफ, सिरिश्ता, सुलहनामा, जौजे, जबान, जब्त, जारी, जिरह, तकरार, तामील, दरखास्त, दलील, दस्तखत, नाबालिग, नालिश, पेशा, फरियादी, करार, बखरा, बाजाब्ता, मुकदमा, मुंसिफ, रद, राय, रुजू, शिनाख्त, सफाई, सालिस, हक, हाकिम, हाजत, हुलिया, हिफाजत आदि।

धर्म संबंधी आदि—

वजू, औलिया, अल्ला, इंजील, इबादत, ईमान, इसलाम, ईद, कबर, कफन, कलंदर, काफिर, कावा, गाजी, जल्लाद, जुम्मा, तोबा, ताजिया, दरगाह, दरवेश, दीन, दुआ, नबी, नमाज, निकाह, नूर, फरिश्ता, रोजा, बिस्मिल्ला, बुजुर्ग, मसजिद, मुहर्रम, मुरीद, मोमिन, मुल्ला, शरीयत, शहीद, शिरनी, शिया, हदीस, हलाल आदि।

विद्या, कला, साहित्य संबंधी—

अदब, आलिम, इज्जत, इम्तिहान, इल्म, खत, गजल, तरजुमा, दरद, कसीदा, मजलिस, मुंशी, रेखता, शरम, सितार, हरूफ आदि।

विलासिता, व्यवसाय, शिल्प आदि संबंधी—

अस्तुरा, आइना, अखनी, अंगूर, अचकन, अतर, आतिशबाजी, आबनूस, अर्क, इमारत, कागज, कलफ, कुलुफ, कीमख्वाब, किशमिश, बर्फी, कोर्मा, कसाई, खरबूजा, खाल, खानसामाँ, खस्ता, गज, गिर्दा, गुलाब, गोश्त, चरखा, चश्मा, चपकन, चाबुक, चिक, जरी, जर्दा, जवाहिरात, जामा, जुलाब, ताफता, तकमा, तराजू, तसवीर, तकिया, दालान, दस्ताना, दवा, दूर्बीन, दवात, नारंगी, परदा, पाजामा, पुलाव, फर्राश, फानूस, फुहारा, बरफ, बागीचा, बादाम, बुलबुल, मखमल, लबादा, मलहम, मसाला, मलाई, मिश्री, मीना, मेज, रफू, रूमाल, रिकाब, रेशम, लगाम, शहनाई, शाल, शीशी, संदूक, सुर्खी, सुराही, हौदा, हलुवा, हुक्का, हौज आदि।

भिन्न भिन्न देशवासियों के नाम—

अरब, अरमनी, यहूदी, उजबक, तिब्बती, विलायती, हबशी इत्यादि।

साधारण वस्तुओं और भावों के लिये—

अंदर, आवाज, अक्सर, आबहवा, आसमान, असल, इल्लत, कदम, कम, कायदा, कारखाना, कमर, खबर, खुराक, गरज, गरम, गुजरान, चंदा, जलदी, जानवर, जहाज, जिद, तलाश, ताजा, दखल, दम, दरकार, दगा, दाना, दुकान, नगद, नमूना, नरम, निहायत, नशा, पसंद, परी, फुरसत, बदजात, बंदोबस्त, बादहवाई, बेवकूफ, मजबूत, मियाँ, मुर्गा, मुलुक, यार, रकम, रोशनाई, वजन, सादा, साफ, हफ्ता, हजार, हजम, होशियार, हजूम आदि।

थोड़े से तुर्की शब्दों का पृथक् दिग्दर्शन कराना भी उपयोगी होगा—

आगा, उजबक (ओज़बेक), उर्दू (ओर्दू = खेमा), कलँगा (क़लग:), कैंची (क़ैंची), काबू (क़ापू = चाल, अवसर, अधीनता, अधिकार, पकड़), कुली (क़ुली = ग़ुलाम), कोतका = ठेंगा (कुतका = दंडा), कोर्मा (क़ुबुर्मा), खातुन = महिला (ख़ातून), खान, खाँ (ख़ान, ख़ाकान), गलीचा (क़लीचा), चकमक (चक़मक़), चाकू (चाक़ू), चिक (फा० चिग, तु० चिक़), तकमा (तमगा), तुपक, तोप, तगाड़ = सुर्खी चूने का गड्ढा (तगार), तुरुक (तुर्क), दरोगा (दारोग़ा), बक्सी (फा० बख़्शी, तु० बक्सी), बाबर्ची (बावर्ची), बहादुर, बीबी, बेगम (बेगुम), बकचा = बंडल (बक़्चा), मुचलका, लाश, सौगात, सुराक = पता (सुराग़), और 'ची' प्रत्यय जैसे मशालची, ख़ज़ानची इत्यादि। इनके अतिरिक्त पठान (पश्तान), रोहिल्ला (पश्तो 'रोह' = पहाड़) आदि कुछ शब्द पश्तो भाषा के भी मिलते हैं।

युरोपियन भाषाओं के शब्द भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारी भाषा में मिल गए हैं; और वर्तमान समय में तो बहुत अधिकता से मिलते जाते हैं। इन शब्दों में से थोड़े से शब्द तो पुर्तगाली भाषा के हैं, जैसे Camera से कमरा, Martello से मारतौल, Lelloo से नीलाम, कुछ फ्रेंच भाषा के, जैसे Cartouche से कारतूस, Franchis से फरासीसी, Anglais से अँगरेज; कुछ डच भाषा के, जैसे Troef से तुरुप (ताश का खेल), Boom से बम (गाड़ी का); पर अँगरेजी भाषा के शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बहुत अधिक हो गई

है और नित्य बढ़ती जा रही है। इनमें से कुछ शब्द तो तत्सम रूप में आए हैं, पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आए हैं। तत्सम रूप में आए हुए शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं— इंच, फुट, अमोनिया, बेंच, बिल, बोर्ड, वोट, बार्डर, बजेट, बटन इत्यादि। तद्भव शब्दों के संबंध में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है; जैसे (१) Sample से सैंपुल, Recruit से रंगरूट, Dozen से दर्जन; (२) General से जनरल, Desk से डेकस, (३) Report से रपट, Pantaeoon से पतलून, Magistrate से मजिस्टर, Lantern से लालटेन, Hundredweight से हंडर या हंडरवेट; Town-duty से टून डूटी, Time से टेम, Ticket से टिकट, Quinine से कुनैन, Kettle से केतली। इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्दों के रूपात्मक विकास में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द के रूप के परिवर्तित होने में नहीं लगता, वरन् दो या अधिक नियम एक साथ लगते हैं। यदि हम प्रत्येक शब्द के संबंध में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें, तो सब काम चल जाता है। वह नियम यह है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्त्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों को जोड़कर उसके अनुकूल बना लिया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह मुख्य सिद्धांत निकलता है कि हिंदी भाषा में प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के जो शब्द आए हैं, वे या तो तत्सम रूप में आए हैं अथवा तद्भव रूप में। अधिकांश शब्द तद्भव रूप में ही आए हैं, तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। पर साथ ही यह प्रवृत्ति भी देख पड़ती है कि जो लोग प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं, वे उन भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में ही व्यवहृत करने का उद्योग करते हैं। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि रूपात्मक विकास के सिद्धांतों की भी परवा न करके लोग उन शब्दों को शुद्ध विदेशी या प्राचीन रूप में ही अपनी भाषा में रक्षित रखना चाहते हैं। इससे एक ओर तो नए उच्चारणों के लिये, जो हमारी भाषा में वर्तमान नहीं हैं, नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है और दूसरी ओर हमारी भाषा की पाचन-शक्ति में व्याघात पहुँच रहा है। जिस प्रकार कोई जीवधारी पाचन-शक्ति के मंद पड़ जाने अथवा उसके क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण अपनी शारीरिक क्रियाएँ संपन्न करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी भाषा की पाचन-शक्ति का नाश हो जाता है, अर्थात् जब उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर तथा उन्हें अपने नैसर्गिक रूप में परिवर्तित करके अपना अंग बनाने की शक्ति नहीं रह जाती, तब वह क्रमशः क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है अथवा ऐसा विकृत रूप धारण करने लगती है कि उसके पूर्व-ऐतिहासिक रूप का पता लगना भी कठिन हो जाता है। संस्कृत, फारसी और अँगरेजी के विद्वानों को यह ध्यान रखना चाहिए

कि अपने पांडित्य की कौंध के आगे वे कहीं अपनी मातृभाषा को विवर्ण और छिन्न भिन्न न कर दें।

यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जहाँ नई जातियों के संसर्ग तथा नए भावों के उदित होने से हमारी भाषा में नए शब्दों का आगम रोकना असंभव है, वहाँ अपने पूर्व रूप को न पहचानने के कारण अपने प्राचीन शब्द-भांडार से सहायता न लेना भी अस्वाभाविक है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अपना नैसर्गिक रूप न भूला जाय और भाषा को दासत्व की बेड़ी न पहनाई जाय।

हम पहले लिख चुके हैं कि हिंदी में प्राचीन आर्यभाषाओं के शब्द भी तत्सम, अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में आए हैं।

प्राचीन भारतीय भाषाओं का प्रभाव

जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, अनेक अवस्थाओं में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रयोग में आते हैं। पर ऐसे दोनों रूपों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म विभेद हो गया है; जैसे, मेघ—मेह, स्थान—थान या थाना, दर्शन—देखना। इनमें से कहीं तो प्राय: ऐसा देखा जाता है कि तद्भव शब्द के अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जाती है और कहीं तत्सम शब्द आदर अथवा महत्ता का सूचक हो जाता है। तत्सम संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द संस्कृत से अधिकतर प्रातिपदिक रूप में और कुछ संस्कृत के प्रथमा एकवचन के रूप में आकर हिंदी व्याकरण के शासनाधीन होते हैं। फल, घृत, पशु, सुंदर, कुरूप आदि शब्द प्रातिपदिक रूप में ही लिए हुए हैं। दाता, सरिता, राजा, धनवान्, तेजस्वी आदि प्रथमा एकवचन के रूप में आते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि

हिंदी के कारक चिह्न स्वतंत्र हो गए हैं और संस्कृत के कारक चिह्नों का प्रयोग हिंदी में लुप्त हो गया है।

विशेषणों के तारतम्य-सूचक प्रत्यय भी हिंदी में प्रायः लुप्त हो गए हैं, और उनके स्थान पर अप्रत्यय शब्दों से काम लिया जाता है। कहीं कहीं इन प्रत्ययों का जो प्रयोग भी होता है, वह सब तत्सम शब्दों के साथ। जैसे, श्रेष्ठतर, पुण्यतर, मंदतम।

हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा सर्वनामों में बहुत विकार हो गया है। अब वे सर्वथा तद्भव हो गए हैं। तत्सम नामधातुज क्रियाओं के रूप कविता में तो मिलते हैं, पर गद्य में नहीं मिलते। इधर किसी किसी का प्रयोग गद्य में होने लगा है; पर अधिकांश क्रियाएँ तद्भव ही हैं; और जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तत्सम संज्ञावाचक शब्द के साथ करना, होना, लेना आदि तद्भव क्रियाएँ लगा दी जाती हैं।

हिंदी में तद्भव शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ये संस्कृत से प्राकृत या अपभ्रंश द्वारा विकृत होकर हिंदी में आए हैं। इनके विकृत होने में आगम, लोप, विपर्यय तथा विकार के नियम लगते हैं। ये विकार शब्द के आदि, मध्य या अंत में होते हैं। सबसे अधिक परिवर्त्तन शब्दों के मध्य में होता है; इसके अनंतर आरंभ के परिवर्त्तनों की संख्या है; और अंत में तो बहुत कम परिवर्त्तन होते हैं। इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है; अतः हम यहाँ केवल यही बतला देना चाहते हैं कि प्रधानतः प्रयत्नलाघव, स्वरसाम्य और गुणसाम्य आदि के कारण ही अनेक प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

चौथा अध्याय

हिंदी का नादात्मक विश्लेषण और विकास

हिंदी का नादात्मक विश्लेषण

हिंदी में मूल स्वर चार हैं—अ, इ, उ, ऋ। इनके दीर्घ आ, ई, ऊ होते हैं। ऋ के दीर्घ रूप ॠ का हिंदी में प्रयोग नहीं होता; और ह्रस्व ऋ भी केवल तत्सम शब्दों में ही प्रयुक्त होता है। पुरानी हिंदी कविता में ह्रस्व ऋ का भी प्रयोग नहीं मिलता। जहाँ इसकी आवश्यकता होती थी, वहाँ 'रि' लिखा जाता था। पर इधर तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग होने से उनमें सदा ऋ प्रयुक्त होता है। संयुक्त स्वर चार हैं जो इस प्रकार बनते हैं—

अ या आ + इ या ई = ए।

अ या आ + उ या ऊ = ओ।

इस प्रकार के संयुक्त स्वरों को गुण कहते हैं। पर जब इन गुण रूपों का साधारण स्वरों से संयोग होता है, तब उन्हें वृद्धि कहते हैं। जैसे—

अ या आ + ए या ऐ = ऐ।

अ या आ + ओ या औ = औ।

अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी में चार मूल स्वर, तीन दीर्घ स्वर और चार संयुक्त स्वर हैं। इनका कहीं तो पूर्ण उच्चारण होता है और कहीं अपूर्ण। अपूर्ण उच्चारण कहाँ कहाँ होता है, यह नीचे बतलाया जाता है—

(१) हिंदी में अंत्य अ का उच्चारण प्राय: अपूर्ण हल् के समान होता है; जैसे गुण, रात, घन। परंतु यदि अकारांत शब्द का अंत्याक्षर संयुक्त हो, तो अंत्य अ का पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे सत्य, इंद्र, गुरुत्व, धर्म, अशक्त। इसी प्रकार यदि इ, ई या ऊ के आगे अंतिम अक्षर य हो, तो उसके अ का पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे प्रिय, सीय, राजसूय। एकाक्षरी अकारांत शब्दों के अंत्य अ का भी पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे न, व।

(२) कविता में अंत्य अ का उच्चारण कुछ अधिक स्पष्ट होता है; परंतु यदि अक्षर पर यति होती है, तो उच्चारण बहुधा अपूर्ण ही रहता है। इसी प्रकार दीर्घ स्वरांत त्र्यक्षरी शब्दों में यदि दूसरा अक्षर अकारांत हो, अथवा यदि चार अक्षरों के ह्रस्व-स्वरांत शब्दों में दूसरा अक्षर अकारांत हो, अथवा चार अक्षरों के दीर्घ-स्वरांत शब्दों में तीसरा अक्षर अकारांत हो, तो इन सब अवस्थाओं में अ का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे बकरा, कपड़ा, करना, गड़बड़, मानसिक, सुरलोक, समझना, सुनहला, कचहरी आदि। परंतु यदि चार अक्षरों के ह्रस्व स्वरांत शब्दों में दूसरा अक्षर संयुक्त हो अथवा पहला अक्षर कोई उपसर्ग हो, तो दूसरे अक्षर के अ का उच्चारण पूर्ण होता है; जैसे पुत्रलाभ, धर्महीन, आचरण, प्रचलित आदि।

(३) समस्त-शब्दों के पूर्वपद के अंत्य अ का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे सुरलोक, अन्नदाता, सुखदायक।

(४) हिंदी के तत्सम शब्दों में ऐ और औ का उच्चारण तो संस्कृत के समान ही होता है, पर तद्भव शब्दों में यह अय

और अव का सा होता है। पूर्वी हिंदी में 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' और औ का उच्चारण 'अउ' के सदृश होता है।

(५) कहीं तो ए, ऐ, ओ और औ का आधा उच्चारण होता है और कहीं पूरा। अपूर्ण उच्चारण में प्रयत्नलाघव का सिद्धांत काम करता है। पर इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इन संयुक्त स्वरों की मात्राएँ होने से इनकी गिनती दो अक्षरों के समान होनी चाहिए। डाक्टर ग्रियर्सन ने इस संबंध में ये नियम बताए हैं—

(क) जब कभी आ किसी शब्द के अंत से पूर्व तीसरा वर्ण होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है; जैसे नाउआ, आगिया और पानिया के ना, आ और या का आ। इसके अपूर्ण उच्चारण होने के कारण यह आ प्रायः अ ही लिखा जाता है; जैसे नउआ, अगिया, पनिआ।

[पर वास्तव में यह नियम सर्वत्र नहीं लगता, केवल वहीं लगता है, जहाँ पूर्वी हिंदी में स्वार्थ, अन्वादेश (किसी संबंध में एक बार निर्दिष्ट किसी वस्तु या व्यक्ति का पुनः दूसरे संबंध में निर्देश) या परिचित अथवा ज्ञात अर्थ में 'वा' अथवा 'या' लगाते हैं; जैसे—देसवा, पनिया इत्यादि। 'जालिया' 'सितारिया' आदि शब्दों में 'जा' या 'ता' के ह्रस्व करने की कोई प्रवृत्ति नहीं रहती।]

(ख) जब कोई दीर्घ या संयुक्त स्वर शब्द के अंत से पूर्व तीसरा होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है, यदि उसके अनंतर य और व से भिन्न कोई व्यंजन हो; जैसे नेनुआँ में का 'ने'।

(ग) कोई दीर्घ या संयुक्त स्वर जब तीसरे वर्ण से पूर्व होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है, चाहे उसके पीछे व्यंजन आवे या नहीं; जैसे देखवाना।

पर ये नियम प्राय: तद्भव शब्दों के संबंध में ही लगते हैं। कविता में उक्त लघुप्रयत्न का ही अधिक प्रयोग पाया जाता है।

हिंदी में स्वराघात

हिंदी में शब्दों के उच्चारण में कहीं कहीं स्वरों पर जोर दिया जाता है। इसके लिये भी कुछ नियम निर्धारित किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) यदि शब्द के अंत में अपूर्णोच्चरित अ आवे, तो उसके पूर्ववर्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे घर, झाड़, सड़क।

(२) यदि शब्द के मध्य में अपूर्णोच्चरित अ आवे तो उसके पूर्ववर्त्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे अनबन, बोलकर।

(३) संयुक्त व्यंजनों में पूर्ववर्त्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे हल्ला, आज्ञा, चित्र।

(४) विसर्ग या अनुस्वार-युक्त अक्षरों के उच्चारण पर भी जोर पड़ता है; जैसे दु:ख, अंत:करण, अंक, अंश।

(५) यौगिक शब्दों में मूल अवयवों के अक्षरों का जोर जैसे का तैसा बना रहता है; जैसे गुणवान्, जलमय, प्रेमसागर।

(६) शब्दों के आरंभ का अ सदा पूर्ण उच्चरित होता है।

(७) इ, उ वा ऋ के पूर्ववर्त्ती स्वर का उच्चारण कुछ लंबा होता है; जैसे हरि, साधु, समुदाय, पितृ।

(८) यदि शब्द के एक ही रूप से भिन्न अर्थ निकलते हों, तो उनका अंतर स्वराघात से सूचित किया जाता है। जैसे, 'उसने ढिठाई की' और 'उसकी घड़ी'। यहाँ क्रियात्मक 'की' के रूप पर जोर दिया जाता है, विभक्ति 'की'

पर नहीं। इसी प्रकार 'बढ़ा' शब्द विधि और सामान्य भूत काल दोनों में आता है। इनका भेद करने के लिये विधि काल के सूचक 'बढ़ा' पर जोर दिया जाता है, सामान्य भूत काल के रूप पर नहीं।

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। पर पिछली अपभ्रंश में भी हिंदी के बीज बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, इसी लिये इस मध्यवर्त्ती नागर अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई भी मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम अर्ध भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु॥ १॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥ २॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं जिनका जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२९ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥

ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत ॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता कुछ प्राचीन है और चंद की उसकी अपेक्षा कुछ अर्वाचीन। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं; पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए ही नहीं हैं। संभव है कि इनमें से कुछ स्वयं उनके बनाए हुए हों; पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उसके पहले के हैं।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाक्पतिराज परमार मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहाँ कैद था। कैद ही में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और उसने कारागृह से निकल भागने का अपना भेद अपनी प्रणयिनी को बतला दिया। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और अधिक कड़ाई होने लगी। निम्नलिखित दोहे मुंज की तत्कालीन रचना हैं—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥

(जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो, तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।)

सायर खाई लंक गढ़ गढ़वइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ ॥

(सागर खाई, लंका गढ़, गढ़पति दशकंधर राजा भाग्य-क्षय होने पर सब चौपट हो गए। मुंज विषाद मत कर।)

ये दोहे हिंदी के कितने पास पहुँचते हुए हैं, यह इन्हें पढ़ते ही पता लग जाता है। इनकी भाषा साहित्यिक है, अतः रूढि के अनुसार इनमें कुछ ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप भी रखे हुए हैं जो बोलचाल में प्रचलित न थे, जैसे संपज्जइ, सायर, मुणालवइ, बिसाउ। इन्हें यदि निकाल दें तो भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था; अतएव हिंदी का आदि काल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिंदी के आदि काल के कवि मानने में संकोच होता है। पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का पृथ्वीराज रासो बहुत पीछे का बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। उसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन जान पड़ते हैं।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ है जो बुंदेलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है

कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "आल्हखंड" की रचना हुई थी। अभी तक इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलता गया है और भाषा में भी फेरफार होता गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष के राजनीतिक उलट-फेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्ष-वर्धन में उत्साही और दृढ़संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की चिंता लगी हुई थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त हों तथा सेना के अग्रभाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे, इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई सौ वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि काल संवत् १०५० के लगभग आरंभ होकर १३७५ तक चलता है। इस काल में विशेष कर वीर-काव्य रचे गए थे। ये काव्य दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले

रहते थे। यह भाषा जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान् कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देशव्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी व्रजभाषा का होता था जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे 'पिंगल' भाषा कहने लगे थे। वास्तव में हिंदी का संबंध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। बीसलदेव रासो की भाषा साहित्यिक नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसके कवि ने जगह-जगह अपनी राजस्थानी बोली में इस सामान्य साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

डिंगल के ग्रंथों में प्राचीनता की झलक उतनी नहीं है जितनी पिंगल ग्रंथों में पाई जाती है। राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा को प्राचीनता का गौरव देने के लिये जान बूझकर प्राकृत अपभ्रंश के रूपों का अपनी कविता में प्रयोग किया है। इससे वह भाषा वीरकाव्योपयोगी अवश्य हो जाती है, पर साथ ही उसमें दुरूहता भी आ जाती है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य काल आरंभ होता है जो ५२५ वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३७५ से १७०० तक और दूसरा १७०० से १९०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदल-कर व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं; और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा अंत में

अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है और काव्य भाषा का एक सामान्य रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डाँवाँडोल हो गई। हिंदी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १९०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिंदी गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ है और खड़ी बोली का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होने लगा है।

मध्य काल के पहले भाग में हिंदी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर व्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण किया और व्रज तथा अवधी ने साहित्यिक बाना पहनकर प्रौढ़ता प्राप्त की। पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यंत कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़ मरोड़ सहनी, तथा उन्हें घटाने बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखनी, पड़ी होगी। मध्य युग के धार्मिक प्रचार संबंधी आंदोलन ने प्रचारकों को जनता के हृदय तक पहुँचने की आवश्यकता का अनुभव कराया। इसके लिये जन-साधारण की भाषा का ज्ञान और उपयोग उन्हें अनिवार्य ज्ञात हुआ। इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर निर्गुणपंथी संत कवियों ने जन-साधारण की भाषा को अपनाया और उसमें कविता की, परंतु वे उस कविता को माधुर्य आदि गुणों से अलंकृत न कर सके और न किसी एक बोली को अपनाकर

उसके शुद्ध रूप का उपयोग कर सके। उनके अपढ़ होने, स्थान स्थान के साधु-संतों के सत्संग और भिन्न भिन्न प्रांतों तथा उसके उपखंडों में जिज्ञासा की तृप्ति के लिये पर्यटन एवं प्रवास ने उनकी भाषा में एक विचित्र खिचड़ी पका दी। काशी-निवासी कबीर के प्रभाव से विशेष कर पूरबी भाषा (अवधी) का ही उसमें प्राबल्य रहा, यद्यपि खड़ी बोली और पंजाबी भी अपना प्रभाव डाले बिना न रहीं। इन साधु-संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा को हम सधुक्कड़ी अवधी अथवा साहित्य में प्रयुक्त उसका असंस्कृत अपरिमार्जित रूप कह सकते हैं। आगे चलकर इसी अवधी को प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियों ने अपनाया और उसको किंचित् परिमार्जित रूप में प्रयुक्त करने का उद्योग किया। इसमें उनको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। अंत में स्वाभाविक कोमलता और सगुण भक्ति की रामोपासक शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि तुलसीदास ने उसे प्रौढ़ता प्रदान करके साहित्यिक आसन पर सुशोभित किया। प्रेमाख्यानक कवियों ने नित्य के व्यवहार में आने-वाली भाषा का प्रयोग किया और तुलसीदास ने संस्कृत के योग से उसको परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया।

व्रजभाषा एक प्रकार से चिर-प्रतिष्ठित प्राचीन काव्य-भाषा का विकसित रूप है। पृथ्वीराज रासो में ही इसके ढाँचे का बहुत कुछ आभास मिल जाता है—"तिहि रिपुजय पुरहरन को भए प्रथिराज नरिंद।"

सूरदास के रचना-काल का आरंभ संवत् १५७५ के लग-भग माना जाता है। उस समय तक काव्य-भाषा ने व्रजभाषा

का पूरा पूरा रूप पकड़ लिया था, फिर भी उसमें क्या क्रिया क्या सर्वनाम और क्या अन्य शब्द सबमें प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। पुरानी काव्य-भाषा का प्रभाव ब्रजभाषा में अब तक लक्षित होता है। रत्नाकर जी की कविता में भी अभी तक 'मुक्ताहल' और 'नाह' ऐसे न जाने कितने शब्द मिलते हैं। तुलसीदासजी की रचना में जिस प्रकार अवधी ने प्रौढ़ता प्राप्त की उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में ब्रजभाषा भी विकसित हुई। घनानंद, विहारी और पद्माकर की कविता में तो उसका पूर्ण परिपोष हुआ।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अवधी में मिश्रण के कारण साधु-संत हुए उसी प्रकार ब्रजभाषा में मिश्रण के कारण राजा लोग हुए। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रजभाषा पुरानी सार्वदेशिक काव्य-भाषा का विकसित रूप है। उत्तर भारत की संस्कृति का केंद्र सदा से उसका पश्चिम भाग रहा। बड़ी बड़ी राजधानियाँ तथा समृद्धि-शालिनी नगरियाँ, जहाँ राजा लोग मुक्तहस्त होकर दान देने के प्रभाव से दूर दूर देश के कवि-कोविदों को खींच लाते थे, वहीं थीं। इसी से वहीं की भाषा ने काव्य-भाषा का रूप प्राप्त किया, साथ ही दूर दूर देशों की प्रतिभा ने भी काव्य-भाषा के एकत्व स्थापित करने में योग दिया। इस प्रकार का कल्पित एकत्व प्रायः विशुद्धता का विरोधी होता है। यही कारण है कि ब्रजभाषा भी बहुत काल तक मिश्रित रही। रासो की भाषा भी मिश्रित ही है। चंद ने स्वयं कहा है—"षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।"

इस षट् भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिये भिखारीदास का निम्नलिखित पद्यांश विचारणीय है—

"ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥"

मागधी से पूरबी (अवधी और बिहारी) का तात्पर्य है, अमर से संस्कृत का, और यमन से अरबी का, पर नागभाषा कौन सी है यह नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो, पर यह मिश्रण ऐसा नहीं होता था कि भाषा अपनापन छोड़ दे।

ब्रज भाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥

प्रत्येक कवि की रचनाओं में इस प्रकार का मिश्रण मिलता है, यहाँ तक कि तुलसीदास और गंग भी, जिनका काव्य-साम्राज्य में बहुत ऊँचा स्थान है, उससे न बच सके। भिखारीदासजी ने इस संबंध में कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिली भाषा बिबिध प्रकार॥

अब तक तो किसी चुने उपयुक्त विदेशी शब्द को ही कविगण अपनी कविता में प्रयुक्त करते थे, परंतु इसके अनंतर भाषा पर अधिकार न रहने, भावों के अभाव, तथा भाषा की आत्मा और शक्ति की उपेक्षा करने के कारण अरुचिकर रूप से विदेशी शब्दों का उपयोग होने लगा और भाषा का नैसर्गिक रूप भी परिवर्तन के आवर्त्त में फँस गया। फारसी के मुहाविरे भी ब्रजभाषा में अजीब स्वाँग दिखाने लगे। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा में भी एक विशुद्धतावादी आंदोलन का आरंभ हो गया। हिंदी भाषा के मध्यकालीन

विकास के दूसरे अंश की विशेषता व्रजभाषा की विशुद्धता है। भाषा की इस प्रगति के प्रमुख प्रतिनिधि घनानंद हैं। व्रजभाषा का यह युग अब तक चला आ रहा है, यद्यपि यह अब क्षीणप्राय दशा में है। वर्तमान युग में इस विशुद्धता के प्रतिनिधि पंडित श्रीधर पाठक, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और पंडित रामचंद्र शुक्ल आदि बताए जा सकते हैं।

किसी समय भी बोलचाल की व्रजभाषा का क्या रूप था इसका पता लगाना कठिन है। गद्य के जो थोड़े बहुत नमूने चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता तथा वैद्यक और साहित्य के ग्रंथों की टीका में मिलते हैं वे संस्कृत-गर्भित हैं। उनसे इस कार्य में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

व्रज और अवधी के ही समान प्राचीन होने पर भी खड़ी बोली साहित्य के लिये इतना शीघ्र नहीं स्वीकृत हुई, यद्यपि बहुत प्राचीन काल से ही वह समय समय पर उठ उठकर अपने अस्तित्व का परिचय देती रही है। मराठा भक्त-प्रवर नामदेव का जन्म संवत् ११९२ में हुआ था। उनकी कविता में पहले पहल शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं—

"पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥"

इसके अनंतर हमको खड़ी बोली के अस्तित्व का बराबर पता मिलता है। इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का

प्रचार हुआ। ग्रियर्सन साहब 'लालचंद्रिका' की भूमिका में लिखते हैं—

"Such a language did not exist in India before... . When, therefore, Lallujilal wrote his Premsagara in Hindi, he was inventing an altogether new language."

अर्थात्—"इस प्रकार की भाषा का इससे पहले भारत में कहीं पता न था...। अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।"

इसी बात को लेकर उक्त महोदय अपनी Linguistic Survey (भाषाओं की जाँच) की रिपोर्ट के पहले भाग में लिखते हैं—

"This Hindi (*i.e.*, Sanskritized or at least non-Persianized form of Hindustani), therefore, or as it is sometimes called 'High Hindi', is the prose literary language of those Hindus who did not employ Urdu. It is of modern origin, having been introduced under English influence at the commencement of the last century. ......Lallulal, under the inspiration of Dr. Gilchrist, changed all this by writing the well-known Prem-Sagar, a work which was, so far as the prose portion went, practically written in Urdu with Indo-Aryan words substituted wherever a writer in that form of speech would use Persian ones."

अर्थात्—"अतः यह हिंदी (संस्कृत-बहुल हिंदुस्तानी अथवा कम से कम वह हिंदुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी कभी लोग "उच्च हिंदी" कहते हैं, उन हिंदुओं की गद्य साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अँगरेजी प्रभाव के कारण होने लगा है।......लल्लूलाल ने डा० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेम-सागर लिखकर ये सब परिवर्त्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का संबंध है, वहाँ तक यह ग्रंथ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य्य शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखनेवाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

ग्रियर्सन साहब ऐसे भाषातत्त्वविद् की लेखनी से ऐसी बात न निकलनी चाहिए थी। यदि लल्लूजीलाल नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिंदी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगों पर शासन करें ? प्रेमसागर उस समय जिस भाषा में लिखा गया, वह लल्लूजीलाल की जन्मभूमि 'आगरा' की भाषा थी, जो अब भी बहुत कुछ उससे मिलती जुलती बोली जाती है। उनकी शैली में व्रज भाषा के मुहाविरों का जो पुट देख पड़ता है, वह उसकी स्वतंत्रता, प्रचलन और प्रौढ़ता का द्योतक है। यदि केवल अरबी, फारसी शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द रखकर भाषा गढ़ी गई होती तो यह बात असंभव थी। कल के राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू का जो रंग है, वह प्रेम-

सागर की भाषा में नहीं पाया जाता। इसका कारण स्पष्ट है। राजा साहब ने उर्दू भाषा को हिंदी का कलेवर दिया है और लल्लूजीलाल ने पुरानी ही खोल ओढ़ी है। एक लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा में प्रतिबिंबित है तो दूसरे का उसके लोक-व्यवहार-ज्ञान में। दूसरे, लल्लूजीलाल के समकालीन और उनके कुछ पहले के सदल मिश्र, मुंशी सदासुख और सैयद इंशा उल्लाखाँ की रचना भी तो खड़ी बोली में ही है। उसमें ऐसी प्रौढ़ता और ऐसे विन्यास का आभास मिलता है जो नई गढ़ी हुई भाषा में नहीं, किंतु प्रचुर-प्रयुक्त तथा शिष्ट-परिगृहीत भाषाओं में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्त्तमान अमीर खुसरो ने अपनी कविता में इसी भाषा का प्रयोग किया है। पहले गद्य की सृष्टि होती है, तब पद्य की। यदि यह भाषा उस समय न प्रचलित होती तो अमीर खुसरो ऐसा "घटमान*" कवि इसमें कभी कविता न करता। स्वयं उसकी कविता इसको साक्षी देती है कि वह चलती रोजमर्रा में लिखी गई है, न कि सोच सोचकर गढ़ी हुई किसी नई बोली में।

कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आस-पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजशासन का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस

* दे० काव्यमीमांसा पृ० १९।

भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्होंने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी। अतएव मध्य काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—व्रज भाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्त्तमान काल में साहित्य की भाषा में व्रज भाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया। इधर इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

आधुनिक हिंदी गद्य या खड़ी बोली के आचार्य शुद्धता के पक्षपाती थे। वे खड़ी बोली के साथ उर्दू या फारसी का मेल देखना नहीं चाहते थे। ईशाउल्ला तक की यही सम्मति थी। उन्होंने 'हिंदी छुट किसी की पुट' अपनी

भाषा में न आने दी; यद्यपि फारसी रचना की छूत से वे अपनी भाषा को न बचा सके। इसी प्रकार आगरा-निवासी लल्लूलाल की भाषा में व्रज का पुट है और सदल मिश्र की भाषा में पूरबी की छाया वर्तमान है, परंतु सदासुखलाल की भाषा इन दोषों से मुक्त है। उनकी भाषा व्यवस्थित, साधु और बे-मेल होती थी। आजकल की खड़ी बोली से सीधा संबंध इन्हीं की भाषा का है, यद्यपि हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में हम इंशाउल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की उपेक्षा नहीं कर सकते।

आगे चलकर जब मुसलमान खड़ी बोली का 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करने लगे और अँगरेजों को भी शासन संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार तथा राजनीतिक चालों की सफलता के उद्देश्य से शुद्ध हिंदी के प्रति उपेक्षा भाव उत्पन्न हो गया तब राजा शिवप्रसाद समय और स्थिति की प्रगति का अनुभव कर उसे फारसी मिश्रित बनाने में लग गए और इस प्रकार उन्होंने हिंदी की रक्षा कर ली।

इसी समय भाषा में राष्ट्रीयता की एक लहर उठ पड़ी जिसके प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। अभी कुछ ही दिन पहले सलमान भारतवर्ष के शासक थे। इस बात को वे अभी भूले नहीं थे। अतएव उनका इस राष्ट्रीयता के साथ मिलना असंभव सा था। इसलिये राष्ट्रीयता का अर्थ हिंदुत्व की वृद्धि था। लोग सभी बातों के लिये प्राचीन हिंदू संस्कृति की ओर झुकते थे। भाषा की समृद्धि के लिये भी बँगला के अनुकरण पर संस्कृत शब्द लिए जाने लगे, क्योंकि प्राचीन परंपरा का गौरव और संबंध सहज में उच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

उसको बनाए रखने में भविष्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त, परिमार्जित और सुदृढ़ हो सकता है। यही कारण है कि राजा शिवप्रसाद को अपने उद्योग में सफलता न प्राप्त हुई और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर हिंदी ऊँचा सिर किए हुए आगे बढ़ रही है। इस समय साहित्यिक हिंदी संस्कृत-गर्भित हो रही है।

परंतु अब राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों के आ मिलने से तथा हिंदुओं के उनका मन रखने की उद्विग्नता के कारण एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है। वही राष्ट्रीयता जिसके कारण पहले शुद्ध हिंदी का आंदोलन चला था, अब मिश्रण की पक्षपातिनी हो रही है और अपनी गौरवान्वित परंपरा को नष्ट कर राजनीतिक स्वर्गलाभ की आशा तथा आकांक्षा करती है। अब प्रयत्न यह हो रहा है कि हिंदी और उर्दू में लिपिभेद के अतिरिक्त और कोई भेद न रह जाय और ऐसी मिश्रित भाषा का नाम हिंदुस्तानी रखा जाय। हिंदी यदि हिंदुस्तानी बनकर देश में एकच्छत्र राज्य कर सके तो नाम और वेश-भूषा का यह परिवर्तन महँगा न होगा, पर आशंका इस बात की है कि अध्रुव के पीछे पड़कर हम ध्रुव को भी नष्ट न कर दें।

इस एकता के साथ साथ साहित्य और बोलचाल तथा गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का उद्योग वर्तमान युग की विशेषता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; पर साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी बोली ही है।

पाँचवाँ अध्याय

हिंदी की उपभाषाएँ

हमने ऊपर हिंदी के विकास के भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न बोलियों के नाम दिए हैं। इनमें मुख्य राजस्थानी, अवधी, व्रज भाषा और खड़ी बोली हैं। बुँदेलखंडी स्थूल दृष्टि से व्रज भाषा के अंतर्गत आती है। अब हम इन पर अलग अलग विचार करेंगे।

हिंदी की उपभाषाएँ या बोलियाँ

(१) राजस्थानी भाषा—यह भाषा राजस्थान में बोली जाती है। इसके पूर्व में व्रज भाषा और बुँदेली, दक्षिण में बुँदेली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में सिंधी और पश्चिमी पंजाबी तथा उत्तर में पश्चिमी पंजाबी और बाँगड़ू भाषाओं का प्रचार है। इनमें से मराठी, सिंधी और पश्चिमी पंजाबी बहिरंग शाखा की भाषाएँ हैं और शेष सब अंतरंग शाखा की भाषाएँ हैं।

जहाँ इस समय पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का, जो अंतरंग भाषाएँ हैं, प्रचार है, वहाँ पूर्व काल में बहिरंग भाषाओं का प्रचार था। क्रमशः अंतरंग समुदाय की भाषाएँ इन स्थानों में फैल गईं और बहिरंग समुदाय की भाषाओं को अपने स्थान से च्युत करके उन्होंने उन स्थानों में अपना अधिकार जमा लिया। आधुनिक राजस्थानी में बहिरंग भाषाओं के कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं; जैसे आ,

ए, ऐ और ओ के उच्चारण साधारण न होकर उससे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार छ का उच्चारण स से मिलता जुलता और शुद्ध स का ह के समान होता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषाओं की संज्ञा का विकारी रूप बहिरंग भाषाओं के समान आकारांत होता है और संबंध कारक का चिह्न बँगला के समान र होता है।

बहिरंग भाषाओं को उनके स्थान से हटाकर अतरंग भाषाओं के प्रचलित होने के प्रमाण कई ऐतिहासिक घटनाओं से भी मिलते हैं। महाभारत के समय में पंचाल देश का विस्तार चंबल नदी से हरद्वार तक था; अतएव उसका दक्षिणी भाग राजपूताने का उत्तरी भाग था। पाश्चात्य पंडित तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पांचाल लोग उन आर्यों में से थे जो पहले भारतवर्ष में आए थे; इसलिये उनकी प्राचीन भाषा बहिरंग समुदाय की थी। जब अंतरंग समुदाय की भाषा बोलनेवाले आर्य, जो पीछे भारतवर्ष में आए, अधिक शक्ति-संपन्न होकर चारों ओर फैलने लगे, तब उन्होंने बहिरंग भाषाओं के स्थान में बसे हुए आर्यों को दक्षिण की ओर खदेड़ना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार अंतरंगवासी आर्य बहिरंग आर्यों को चीरते हुए गुजरात की ओर चले गए और समुद्र के किनारे तक बस गए। महाभारत के समय में द्वारका का उपनिवेश स्थापित हुआ था और उसके पीछे कई बार आर्य लोग मध्य देश से जाकर वहाँ बसे थे। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि ये लोग राजपूताने के मार्ग से गए होंगे; क्योंकि सीधे मार्ग से जाने में मरु देश पड़ता था जहाँ का मार्ग बहुत कठिन था। पीछे की शता-

राजस्थानी के विस्तार का चित्र
काबुल
पेशावर
श्रीनगर
लाहौर
शिमला
नैनीताल
मारवाड़ी
सक्कर
अजमेर
जैपुर
जोधपुर
आगरा
लखनऊ
ग्वालियर
इलाहाबाद
करांची
हैदराबाद
मुंगेर
मालवी
बरोदा
ढाका
कलकत्ता
चिटागांव
नागपुर
कटक
पुरी
बम्बई
हैदराबाद
रंगून
अ र ब सा ग र
बं गा ल
की
बंगलोर
मदरास
मैसूर
माही
पाण्डीचेरी
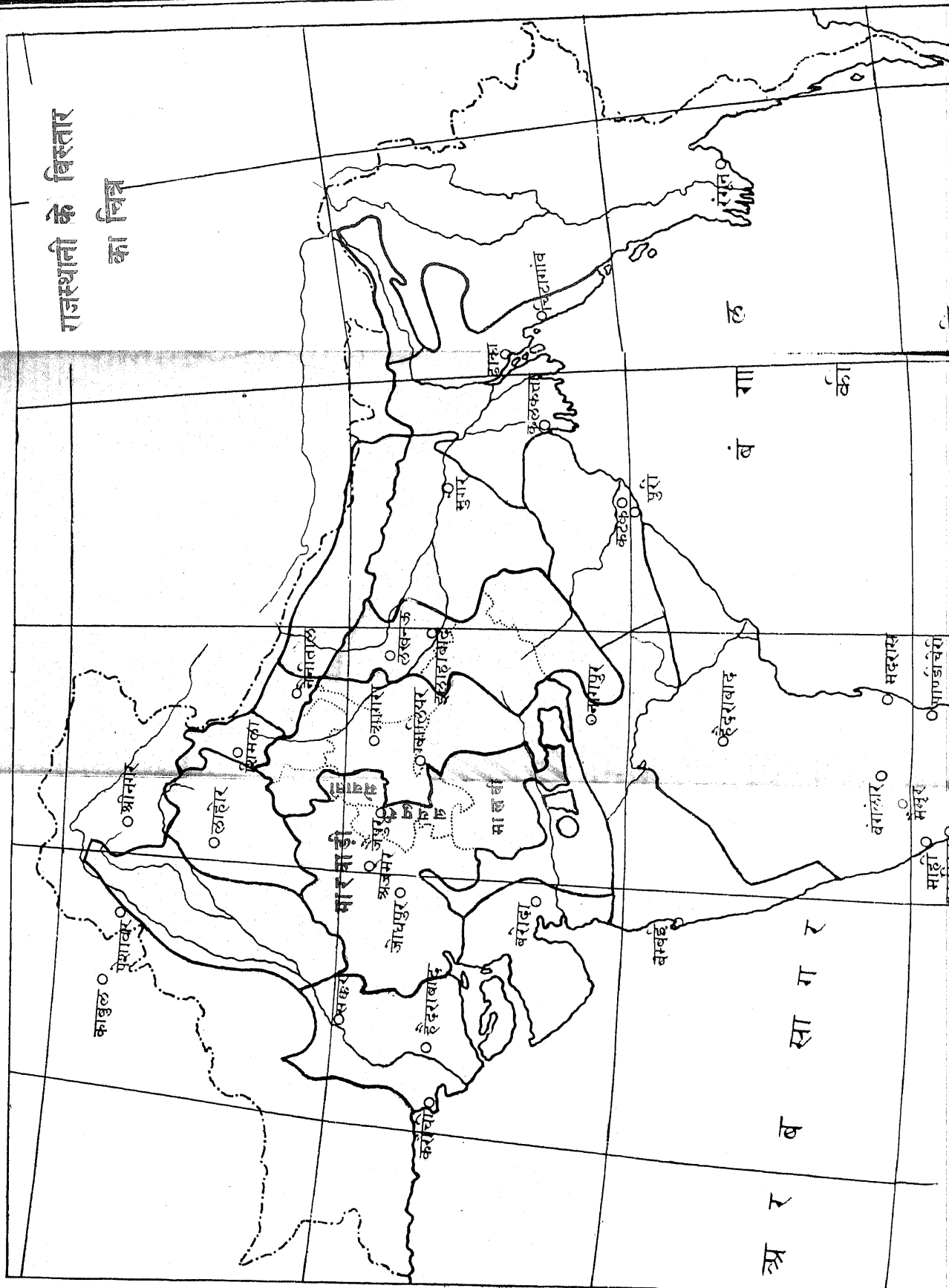
ब्दियों में आर्य लोग मध्य देश से जाकर राजपूताने में बसे थे। बारहवीं शताब्दी में राठौरों का कन्नौज छोड़कर मारवाड़ में बसना इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जयपुर के कछवाहे अवध से और सोलंकी पूर्वी पंजाब से राजपूताने में गए थे। यादव लोग मथुरा से जाकर गुजरात में बसे थे। इन बातों से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि मध्य देश से जाकर आर्य लोग गंगा के दोआबे से लेकर गुजरात में समुद्र के किनारे तक बस गए थे और वहाँ के बसे हुए पूर्ववर्ती आर्यों को उन्होंने खदेड़कर हटा दिया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा बालनेवाले मध्य देश के परवर्ती आर्य थे; और ऐसी दशा में उनकी भाषा में बहिरंग भाषाओं का कुछ कुछ प्रभाव बाकी रह जाना स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इनके अनेक भेद उपभेद हैं। मारवाड़ा का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। जो लोग व्रज भाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी; और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। जयपुरी में भी साहित्य है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणी इसी भाषा में है। मेवाती और मालवी में किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। इन भिन्न भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती व्रज भाषा से और मालवी बुँदेलखंडी से बहुत मिलती जुलती है। संज्ञा शब्दों के एकवचन रूप प्रायः समान ही हैं, पर बहुवचनों में अंतर पड़ जाता है;

जैसे, एकवचन घर, घोड़ा, घड़ी; पर बहुवचन में इनके रूप क्रमशः घरॉं, घोड़ाँ, घड्याँ हो जाते हैं। जयपुरी और मारवाड़ी की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कारक	जयपुरी	मारवाड़ी
संबंध	को, का, की,	रो, रा, री
संप्रदान	नै, कै	नै
अपादान	सूँ, सैं	सूँ, ऊँ

ब्रज भाषा में अपादान की विभक्ति सों, तें और बुँदेलखंडी की सों, से होती है जो जयपुरी और मारवाड़ी दोनों से मिलती है। ब्रज भाषा और बुंदेलखंडी में तो संबंध कारक की विभक्ति परस्पर मिलती है, पर मारवाड़ी की भिन्न है।

व्यक्तिवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है। ब्रज भाषा और बुँदेलखंडी में एकवचन का मूल रूप मो, मुज, मे या तो, तुज, ते है; पर राजस्थानी में मुँ, त, तू है, जो गुजराती से मिलता है। बहुवचन में हम, तुम की जगह म्हाँ, थाँ हो गया है। राजस्थानी में एकवचन के पहले व्यंजन को हकारमय करने की भी प्रवृत्ति है; जैसे म्हा। सारांश यह कि व्यक्तिवाचक सर्वनामों में कहीं गुजराती से और कहीं ब्रज भाषा या बुँदेलखंडी से साम्य है और कहीं उसके सर्वथा स्वतंत्र रूप हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है।

राजस्थानी भाषाओं की क्रियाओं में एक बड़ी विशेषता है। उनमें कर्मणि-प्रयोग बराबर मिलता है जो पश्चिमी

पूर्वी हिंदी के विस्तार का चित्र
काबुल
पेशावर
श्रीनगर
लाहोर
शिमला
नैनीताल
सक्कर
जैपुर
अजमेर
आगरा
जोधपुर
लखनऊ
कराँची
हैदराबाद
ग्वालियर
इलाहाबाद
मुंगेर
बघेलखंडी
छत्तीसगढ़ी
ढाका
बरोदा
कलकत्ता
चिटागांव
नागपुर
कटक
पुरी
बम्बई
हैदराबाद
बंगाल
रंगून
अरब सागर
की
बंगलोर
मदरास
मैसूर
माही
कालीकट
पाण्डीचेरी
खाड़ी
अवधी
बघेलखंडी
छत्तीसगढ़ी
लंका
कालम्बो
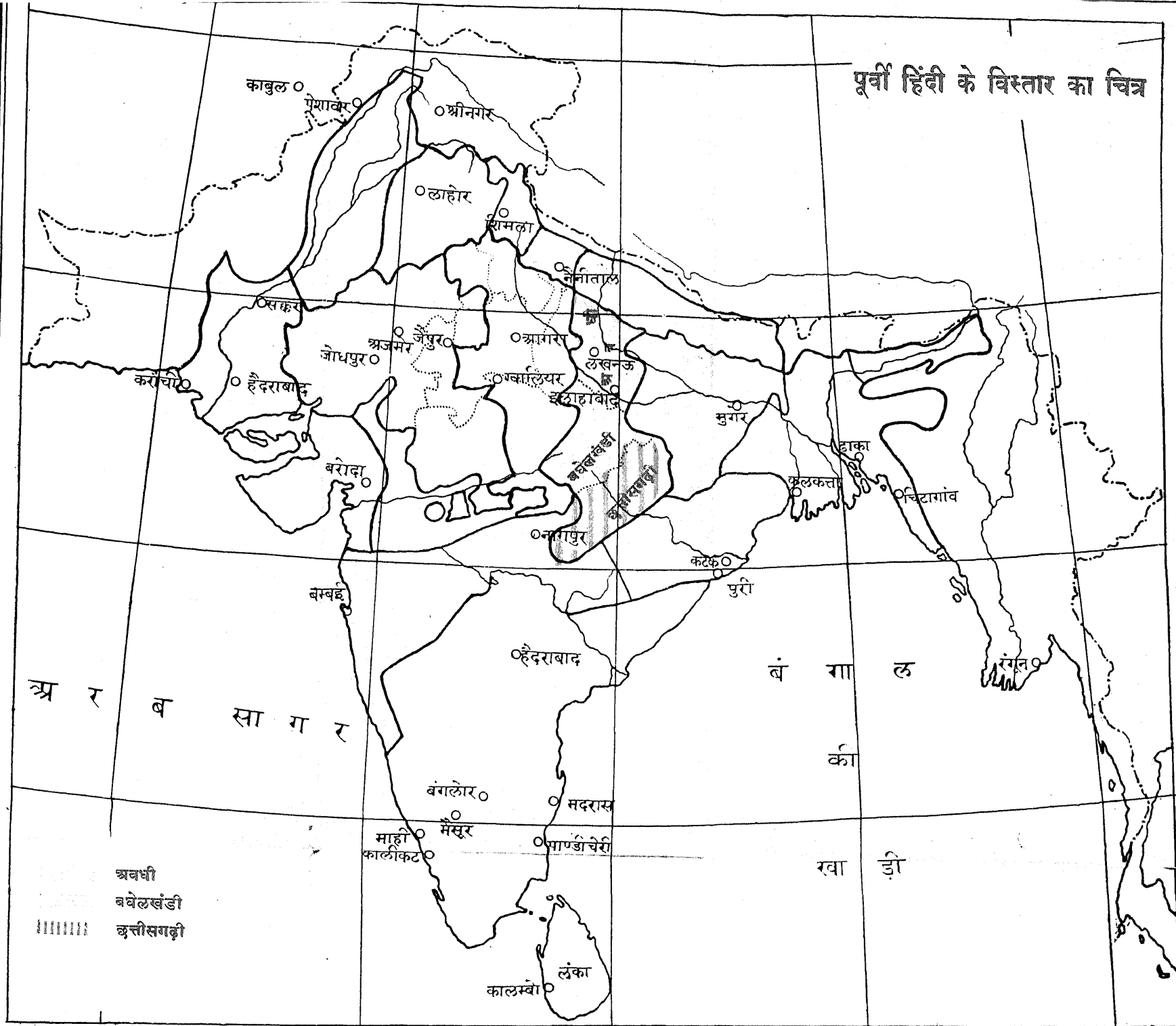
हिंदी में बहुत ही कम होता है। इन भाषाओं की क्रियाओं में धातु रूप वेही हैं जो दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलते हैं; केवल उनके उच्चारण में कहीं कहीं भेद है। राजस्थानी क्रियाओं में विशेषता इतनी ही है कि वर्तमान काल में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय आँ होता है, पर प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय विशेषण के समान आ होता है। जैसे—

वचन	जयपुरी	मारवाड़ी
वर्तमान काल—		
एकवचन		
उ० पु०	छूँ	हूँ
म० पु०	छइ	हइ
अ० पु०	छइ	हइ
बहुवचन		
उ० पु०	छाँ	हाँ
म० पु०	छो	हो
अ० पु०	छइ	हइ
भूत काल—		
एकवचन पुं०	छो	हो
बहुवचन पुं०	छा	हा

राजस्थानी में क्रियाओं के रूप प्रायः पश्चिमी हिंदी के समान होते हैं। भविष्यत् काल में राजस्थानी के रूप दो प्रकार के होते हैं—(१) एक तो प्राकृत के अनुरूप; जैसे, प्रा० चलिस्सामि, चलिहामि, चलस्यूँ, चलह्यूँ; और (२) दूसरा "गा" या "ला" प्रत्यय लगाकर; जैसे चलूँलो, चलाँला, चलूँला, चलूँगो, चलाँगा।

राजस्थानी भाषा वाक्य-विन्यास के संबंध में गुजराती का अनुकरण करती है। पश्चिमी हिंदी में बोलने का अर्थ देनेवाली क्रियाओं के संबंध में जिससे बोला जाय, उसका रूप अपादान कारक में होता है; जैसे—'राम गोविंद से कहता है'। पर गुजराती में इसका रूप संप्रदान कारक का सा होता है; जैसे "राम गोविंद ने कहे छे"। पश्चिमी हिंदी में जब कोई सकर्मक क्रिया सामान्य भूतकाल में प्रयुक्त होती है, और कर्म सप्रत्यय रखा जाता है, तब उसका रूप पुल्लिंग का सा होता है, पर गुजराती में कर्म के अनुसार लिंग होता है; जैसे (प० हिं०) 'उसने स्त्री को मारा'; (गु०) 'तेणे स्त्री ने मारी'। राजस्थानी में दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि राजस्थानी भाषा पर गुजराती का बहुत प्रभाव पड़ा है। संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिंदी से नहीं। राजस्थानी की विभक्तियाँ अलग ही हैं। जहाँ कहीं समानता है, वहाँ गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिंदी से कम।

(२) अवधी—इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों

में है। इसकी प्रचार-सीमा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में पश्चिमी हिंदी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी भाषा बोली जाती है।

अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है। बघेलखंड में बोली जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा है और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिंदी साहित्य में अवधी भाषा ने एक प्रधान स्थान ग्रहण किया है। इसके मुख्य दो कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५९७ में और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस का आरंभ संवत् १६३१ में किया था। दोनों में ३०–३५ वर्ष का अंतर है। पर पद्मावत की भाषा अपने शुद्ध रूप में, जैसी वह बोली जाती थी, वैसी ही है; और गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप देने का सफलता-पूर्ण उद्योग किया है। अवधी के भी दो रूप मिलते हैं—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है; अतएव व्रज भाषा की सीमा के निकट पहुँच जाने के कारण उसका इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है और यह उससे अधिक मिलती है। पूर्वी अवधी गोंडे और अयोध्या के पास बोली जाती है। यहाँ की भाषा शुद्ध अवधी है। इस विभेद को स्पष्ट करने के लिये हम दोनों के तीन सर्वनामों के रूप यहाँ देते हैं।

वर्त्तमान हिंदी	पूर्वी अवधी		पश्चिमी अवधी	
	अविकारी	विकारी	अविकारी	विकारी
कौन	के	के	को	का
जो	जे	जे	जो	जा
वह	से, ते	ते	सो	ता

क्रियापदों में भी इसी प्रकार का भेद मिलता है। पश्चिमी अवधी में व्रज भाषा के समान साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है; जैसे आवन, जान, करन। पर पूर्वी अवधी में उसके अंत में ब प्रत्यय आता है; जैसे—आउब, जाब, करब। इन साधारण क्रियापदों में कारक चिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर पश्चिमी अवधी का नांत रूप बना रहता है; जैसे—आवन काँ, करन माँ, आवन लाग; पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का वर्त्तमान तिङन्त (साध्यावस्थापन्न) रूप हो जाता है; जैसे—आवै काँ, जाय माँ, आवै लाग, सुनै चाहौ। करण के चिह्न के पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में भूत कृदंत का रूप हो जाता है; जैसे—आए से, चले से, आए सन्, दिए सन्। पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप व्रज भाषा के समान 'है' होता है; जैसे—करिहै, सुनिहै, पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है; जैसे होइहि, आइहि। क्रमशः इस 'हि' में के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया, जो पूर्व इ से मिलकर 'ई' हो गया; जैसे आई, जाई, करी, खाई। अवधी

साहित्य में दोनों रूप एक ही ग्रंथ में एक साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में भोजपुरी से अवधी बहुत मिलती है। इसके विकारी रूप का प्रत्यय ए होता है। अवधी की विभक्तियाँ भी वही हैं जो भोजपुरी की हैं; केवल कर्म कारक और संप्रदान कारक का चिह्न अवधी में 'काँ' और बिहारी में 'के' तथा अधिकरण कारक का चिह्न अवधी में 'माँ' और बिहारी में 'में' है। ये 'काँ' और 'माँ' विभक्तियाँ अवधी की विशेषता की सूचक हैं। सर्वनामों के कारक रूपों में भी बिहारी से अवधी मिलती है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के संबंध कारक एकवचन का रूप पश्चिमी हिंदी में मेरो या मेरा है, पर बिहारी में यह मोर हो जाता है। अवधी में भी बिहारी के समान 'मोर' ही रूप होता है। क्रियापदों में अवधी शौरसेनी की ओर अधिक झुकती है। उदाहरण के लिये अवधी का 'मारा' शब्द ले लीजिए। संस्कृत में यह मारितः था, शौरसेनी में 'मारिदो' हुआ जिससे व्रज भाषा में मार्‌यो बना। इस उदाहरण में पहले त का द हुआ और तब उस द का लोप हो गया। पूर्वी समुदाय की भाषाओं में इस द के स्थान में ल हो जाता है; जैसे मारल। इससे प्रतीत होता है कि अवधी ने शौरसेनी से सहायता लेकर अपना रूप स्थिर किया है।

यहाँ हम संक्षेप में अवधी के व्याकरण की कुछ बातें देकर इस भाषा का विवरण समाप्त करते हैं।

संज्ञा—शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं; जैसे घोड़, घोड़वा और घोड़ौना; नारी, नरिया और नरीवा। इसके कारकों के रूप इस प्रकार होते हैं—

कारक	अकारांत पुं०	आकारांत पुं०	ईकारांत स्त्री०
एकवचन			
कर्ता	घर	घोड़वा	नारी
विकारी	घरा, घरे	घोड़वा	नारी
बहुवचन			
कर्ता	घर	घोड़वे, घोड़वने	नारी
विकारी	घरन	घोड़वन	नारिन

संज्ञाओं के साथ जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—ऐ (आकारांत शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ)।

कर्म—के, काँ, कहँ।

करण—सें, सन्, सौं।

संप्रदान—के, काँ, कहँ।

अपादान—सें, तें, सेंती, हुँत।

संबंध—कर (क), केर, कै (स्त्री०)।

अधिकरण—में, माँ, महँ, पर।

विशेषण—विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे—आपन-आपनि, ऐस-ऐसि, ओकर-ओकरि। प्रायः बोलचाल में इसका ध्यान नहीं रखा जाता, पर साहित्य में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है।

सर्वनाम—भिन्न भिन्न सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

सर्वनाम	एकवचन			बहुवचन		
	कर्त्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम, हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं	तो	तोर	तुम,तूँ	तुम, तुम्हरे	तुम्हार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप (स्व)	आप	आप	आपकर	आप	आप	आपकर
आप (पर)	आप	आपु	आपन	आप	आप	आपन
यह	ई	ए, एह, एहि	एकर, एहिकर	इन,ए	इन	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह, ओहि	ओकर, ओहिकर	उन, ओन	ओन, उन	ओनकर, ओनकेर
जो	जो,जे, जौन	जे, जेहि	जेकर, जेहिकेर	जे	जिन	जिनकर, जिनकेर
सो	सो,से, तौन	ते, तेहि	तेकर, तेहिकेर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कौन	को,के, कौन	के, केहि	केकर, केकरे	को,के	किन	किनकर, किनकेर

क्रियाएँ—इनके रूप भिन्न कालों, वचनों, पुरुषों तथा लिंगों में इस प्रकार होते हैं—

(१) अकर्मक क्रियाएँ

वर्त्तमान काल "मैं हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हैं।, बाव्यों, अहैं।	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन, अहिन
म० पु०	हए, बाटे, बाटिस अहिस, अहै, अहसि	हइस, बाटिस अहिस	है।, बाव्यौ, अहै। अहेव, अह्यौ, अह, अहे	हइउ, बाटिउ अहिव
अ० पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटैं, अहैं, हैं बाटैं	बाटी, अहैं, बाटिन

भूत काल "मैं था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	रह्यों	रहिउँ	रहे	रहे, रहिन (रहेन)
म० पु०	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो	रहिउ
अ० पु०	रही	रही	रहेन, रहिन, रहें	रहा, रहिन

(२) सकर्मक-मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा	देखब
वर्तमान कृदंत (कर्तरि)	देखत, देखित
भूत कृदंत (कर्मणि)	देखा
भविष्य कृदंत (कर्मणि)	देखब
संभाव्यार्थ कृदंत	देखत, देखित
वर्तमान संभाव्यार्थ	(यदि) मैं देखौं

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखौं	देखी
म० पु०	देखु, देखिस	देखौ
अ० पु०	देखैं	देखैं

अज्ञात के एकवचन का रूप देखु, देखसि और बहुवचन का देखउ, देखौं, देखैं (आप) होता है।

भविष्य

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखबूँ, देखबौं, देखिहौं	देखब, देखिहैं
म० पु०	देखबे, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अ० पु०	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों	देखिउँ	देखा, देखिन	देखा, देखिन
म० पु०	देखे, देखिस देखेसि	देखिस, देखे देखिसि, देखी	देखेन देखेयो	देखेन देखेउ, देखी
अ० पु०	देखेस, देखिस देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखेन, देखिन	देखी, देखिनि

भूत संकेतार्थ

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देखत्यौं	देखतिउँ	देखित	देखित
म० पु०	देखते, देखतिस	देखते, देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
अ० पु०	देखत	देखति	देखतेन, देखतिन	देखतिन

वर्तमान सामान्य—देखत अहेउँ।

भूत अपूर्ण—देखत रह्यों।

वर्त्तमान पूर्ण

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों हों	देखिउँ हों	देखा है, देखेन है, देखिन है	देखा है, देखे है, देखेन हैं
म० पु०	देखेस है, देखिस है, देखे है	देखिस है देखिसि हैं, देखे हैं	देख्यो है	देखिउ हैं
अ० पु०	देखेस है, देखिस है	देखि है, देखिसि है	देखेन हैं, देखिन हैं	देखिन है, देखा है

अकर्मक क्रियाओं में भूत काल 'रह्यों' के समान होता है।

विकारी क्रियाओं में 'जाब' का भूत कृदंत ग, गा, गय (स्त्री० गइ), गवा (स्त्री० गई) होता है। इसी प्रकार 'होब' का भ, भा, भय (स्त्री० भइ), भवा (स्त्री० भई) और करब, देब, लेब आदि का कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह आदि होता है। भूतकाल में इनका रूप किहिस, दिहिस, लिहिस होता है। जिन क्रियाओं के धातु-रूप का अंतिम अक्षर स्वर होता है, उनमें व प्रत्यय लगता है, य नहीं लगता; जैसे,

बनावा। 'जाब' का 'गय' और 'आउब' का 'आय' होता है। जिन क्रियाओं के अंत में आ होता है, उनका भूतकाल न प्रत्यय लगाकर बनता है; जैसे डेरान, रिसियान।

(३) व्रजभाषा—यह अंतरंग समुदाय की सबसे मुख्य भाषा है। यह शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। इसका मुख्य स्थान व्रजमंडल है; पर इसका प्रचार दक्षिण की ओर आगरे, भरतपुर, धौलपुर और करौली में तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में है। उत्तर की ओर यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर-पूर्व की ओर इसका प्रचार बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊँ, बरेली होते हुए नैनीताल के तराई-परगनों तक चला गया है। इसका केंद्र-स्थान मथुरा है, और वहीं की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है। इस केंद्र-स्थान से जिधर जिधर यह फैली है, उधर उधर की भाषाओं से संसर्ग होने के कारण इसके रूप में कुछ न कुछ विकार हो गया है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत तथा कहीं कहीं वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, चल्यो, कियो आदि। संस्कृत के घोटक शब्द का प्राकृत रूप घोडओ होता है, जिससे व्रजभाषा का घोड़ो रूप बना है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्त्तमान कृदंतों के अंतिम त का प्राकृत में अ + उ हो जाता है; जैसे—चलित: से चलिअउ; और व्रजभाषा में यह चल्यो हो गया है। यद्यपि यह व्रजभाषा का एक प्रधान लक्षण है, पर इसके भी अपवाद हैं। जिस प्रकार संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग होता है,

पश्चिमी हिंदी के विस्तार का चित्र
काबुल
पेशावर
श्रीनगर
लाहोर
शिमला
खड़ी
बोली
नैनीताल
सक्कर
व्रज
आगरा
जैपुर
अजमेर
जोधपुर
भाषा
ग्वालियर
लखनऊ
करांची
हैदराबाद
इलाहाबाद
मुंगेर
बरोदा
ढाका
कलकत्ता
चिटागांव
नागपुर
कटक
पुरी
बम्बई
हैदराबाद
रंगून
अ र ब सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
बंगलोर
मदरास
मैसूर
माही
कालीकट
पाण्डीचेरी
लंका
कालम्बो
खड़ी बोली
बुंदेलखंडी
व्रज भाषा
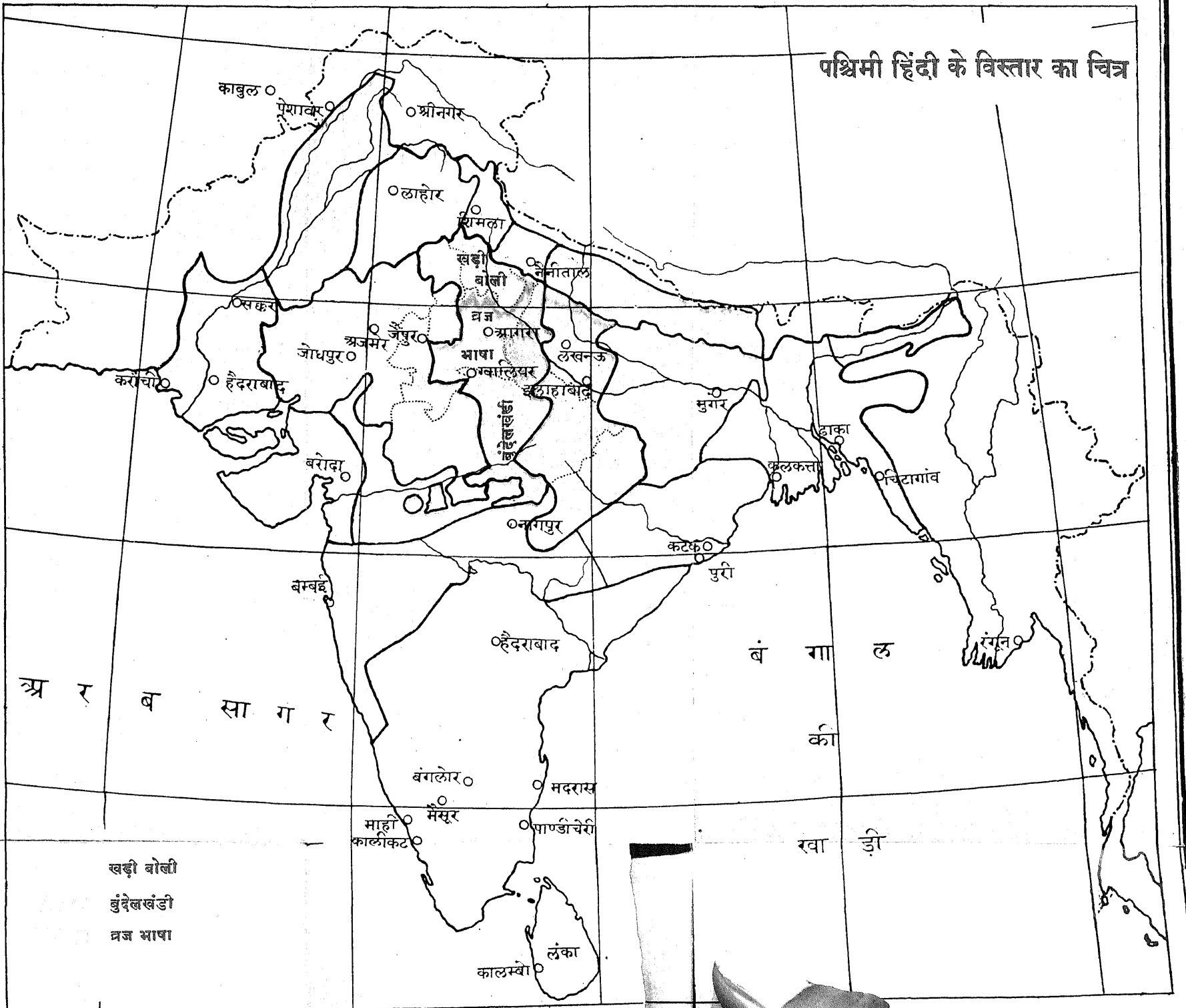
उसी प्रकार व्रजभाषा में रा आदि होता है; जैसे—हियरा, जियरा, बदरा, चवैया, कन्हैया। खड़ी बोली में यह ड़ा और अवधी में वा, ना आदि होता है; जैसे, मुखड़ा, बछड़ा, करेजवा, बिधना इत्यादि। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न इनके विकारी रूपों में आ का ए होता है। व्रजभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक-चिह्न अवधी और खड़ी बोली से भिन्न हैं। यह भिन्नता नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जायगी।

कारक	व्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
कर्ता	(विकारी) ने	×	(विकारी) ने
कर्म	को, कौं	के, का, कहँ	को
करण	सों, तें	से, सन, सैं	से
संप्रदान	को, कौं	के, का, कहँ	को
अपादान	तें, सों	सें	से
संबंध	को	कर, कै, केर	का, के, की
अधिकरण	में, मैं, पै, पर	में, माँ, पर	में, पर

इससे यह स्पष्ट है कि अवधी में भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग सर्वथा नहीं होता, पर व्रजभाषा और खड़ा बोली में यह अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म, संप्रदान तथा अधिकरण के रूप खड़ी बोली के

रूपों से मिलते हैं, पर अवधी से नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह, वह, सो, को (कौन) और जो सर्वनामों के रूप कारक चिह्नों के लगने के पूर्व व्रज-भाषा में या, वा, ता, का और जा हो जाते हैं, जैसे—याने, वाको, तासों, काकों, जाकों। पर अवधी में इनके रूप यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि होकर तब उनमें कारक-चिह्न लगते हैं। नीचे व्रज भाषा के व्याकरण की मुख्य मुख्य बातें दे दी जाती हैं जिनसे इस भाषा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

संज्ञा

कारक	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
	आकारांत	अकारांत	ईकारांत
एकवचन	घोड़ा	घर	घोड़ी
कर्त्ता	घोड़ो, घोड़े ने	घर	घोड़ी, घोड़ी ने
विकारी	घोड़े	घर	घोड़ी
बहुवचन	घोड़े	घर	घोड़ियाँ
कर्त्ता	घोड़े, घोड़न ने	घर	घोड़ियाँ, घोड़ियन ने, घोड़ियान ने
विकारी	घोड़न, घोड़ान	घरन	घोड़ियन, घोड़ियान

विभक्ति

कर्त्ता—ने
कर्म, संप्रदान—को
करण, अपादान—सों, तें
अधिकरण—में, मों, पै
संबंध—को

सर्वनाम—एकवचन

सर्व-नाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अपा०	अधि०
मैं	मैं, हौं	मैंने	मोहिं (मोय) मोकौं	मेरो	मोसौं, मोते	मोमैं, मोपै
तू	तू, तैं	तूने, तैंने	तोहि (तोय) तोकौं	तेरो, तिहारो, तुम्हारो	तोसों, तोतें तोहितें	तोहिमैं, तोमैं तोपै, तोहिपै
वह	वह, वो	वाने, ताने	वाहि(वाय) ताहि(ताय) ताकौं	वाको, ताको, तासु	वासों, तासों, वातें, तातें	वामैं, तामैं, वापै, तापै
यह	यह	याने	याहि(याय) याकौं	याको	यासों, यातें	यामैं, यापै
जो	जो, जौन ※	जाने	जाहि(जाय) जाकौं	जाको, जासु	जासों, जातें	जामैं, जापै
सो	सो, तौन ※	ताने	ताहि(ताय) ताकौं	ताको, तासु	तासों, तातें	तामैं, तापै
कौन	को	काने	काहि (काय), काकौं	काको	कासों, कातें	कामैं, कापै
क्या	कहा, का	×	×	×	×	×

※ व्रज में केवल "सो" के पहले यह रूप आता है; जैसे, जौन सो लेनो होय, ले।

सर्वनाम—बहुवचन

सर्व-नाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अपा०	अधि०
मैं	हम	हमने	हमहि, हमैं, हमकौं	हमारो, म्हारो	हमसौं, हमतैं	हममैं, हमपै
तू	तुम	तुमने	तुमहि, तुम्हैं, तुमकौं	तुम्हारो, तिहारो	तुमसौं, तुमतैं	तुममैं, तुमपै
वह	वे, वै, ते	उनने, विनने, तिनने	उनहि, उन्हैं, तिनहि, तिन्हैं	उनकौ, तिनकौ, विनकौ	उनसौं, उनत, विनसौं, विनतैं, तिनसौं, तिनतैं,	उनमैं, उनपै तिनमैं, तिनपै विनमैं, विनपै
यह	ये	इनने	इनहि, इन्हैं, इनकौं	इनकौ	इनसौं, इनतैं	इनमैं, इनपै
जो	जो, जे	जिनने	जिनहि, जिन्हैं, जिनकौं	जिनकौ	जिनसौं, जिनतैं	जिनमैं, जिनपै
सो	ते	तिनने	तिनहि, तिन्हैं, तिनकौं	तिनकौ	तिनसौं, तिनतैं	तिनमैं, तिनपै
कौन	को, के	किनने	किनहि, किन्हैं, किनकौं	किनकौ	किनसौं, किनतैं	किनमैं, किनपै

(१) क्रियाएँ

वर्त्तमान काल—करना (सकर्मक) "मैं करता हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	करत हौं, करूँ हूँ	करति हौं, करूँ हूँ	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं
म० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करौ हौ	करति हौ, करौ हौ
अ० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं

भूत काल * "मैं करता था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ
म० पु०	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,, ,,
अ० पु०	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,, ,,

* कर्त्ता के लिंग या वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) मुख्य सकर्मक—क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा—करनो, करिबो, कीबो।

वर्तमान कृदंत कर्तरि—करतो, करती।

भूत कृदंत कर्त्तरि और कर्मणि—कियो, कीन्हों, करयो, कियो, गयो।

वर्तमान संभाव्यार्थ "मैं देखूँ"

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	(मैं) देखूँ	(हम) देखैं
म० पु०	(तू) दे	(तुम) देखो
अ० पु०	(वह) देखै	(वे) देखैं

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप 'देख' और बहुवचन का रूप 'देखैा' होता है।

भविष्य "देखना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	देखूँगो, देखिहौं	देखूँगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं
म० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैंगी, देखिहैं	देखैागे, देखिहैा	देखौगी, देखिहैा
अ० पु०	दे खैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं

भूत काल संकेतार्थ "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	करतो	करती	करते	करतीं

वर्तमान पूर्ण* "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है

भूत काल "जाना" (अकर्मक) गया

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	गयो	गई	गए	गई

* कर्त्ता के लिंग, वचन के अनुसार रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

वर्तमान पूर्ण "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	गयो हौं	गई हौं	गए हैं	गई हैं
म० पु०	गयो है	गई है	गए हो	गई हो
अ० पु०	गयो है	गई है	गए हैं	गई हैं

(४) **बुंदेली भाषा**—व्रज से मिलती जुलती या उसी की एक शाखा बुँदेली या बुँदेलखंडी भी है, जिसकी छाया कवियों की भाषा में बराबर मिलती है। यह भाषा बुँदेल-खंड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बोली जाती है। इसकी विस्तार-सीमा के पूर्व ओर की पूर्वी हिंदी की बघेली बोली, उत्तर-पश्चिम की ओर व्रज भाषा, दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थानी और दक्षिण की ओर मराठी भाषा का साम्राज्य है। उत्तर, पूर्व और पश्चिम की ओर तो यह क्रमशः उन दिशाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में लीन हो जाती है और वहाँ इसका मिश्र रूप देख पड़ता है; पर दक्षिण की ओर यह मराठी से बहुत कम मिलती है। यद्यपि इसकी कई बोलियाँ बताई जाती हैं, पर वास्तव में सर्वत्र इसका एक सा ही रूप है। इधर उधर जो अंतर देख पड़ता है वह नाम मात्र का है।

साहित्य में बुँदेली का सबसे अच्छा नमूना आल्हखंड में मिलता है। पर इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति न मिलने तथा इसका अस्तित्व आल्हा गानेवालों की स्मरण-

शक्ति पर ही निर्भर रहने के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों में इसने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इसमें बहुत कुछ क्षेपक अंश भी मिल गया है, इससे इसका वास्तविक प्राचीन रूप अब प्राप्त नहीं है। कवि केशवदास बुँदेलखंड के रहनेवाले थे, अतएव उनकी भाषा में बुँदेली का बहुत कुछ अंश वर्त्तमान है। नीचे इस भाषा की व्याकरण-संबंधी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके इसके रूप का परिचय दिया जाता है।

पूर्वी भाषाओं में जहाँ लघु उच्चारणवाला ए और ओ होता है, वहाँ बुँदेलखंडी में इ और उ होता है; जैसे, घोड़िया, घुड़िया। कहीं कहीं ऐसे रूप भी मिलते हैं, जैसे, बिलैवा, चिरैवा आदि। हिंदी की विभाषाओं में संज्ञाओं के पाँच रूप होते हैं—अकारांत, आकारांत, वाकारांत और "औवा" तथा "औना" से अंत होनेवाले; जैसे, घोड़, घोड़ा, घोड़वा, घोड़ौवा, घोड़ौना। पर सब भाषाओं में ये सब रूप नहीं मिलते। हिंदी के आकारांत पुल्लिंग शब्द बुँदेली में व्रजभाषा के समान ओकारांत हो जाते हैं; पर संबंधसूचक शब्दों में यह विकार नहीं होता; जैसे दादा, काका। हिंदी में जो स्त्रीलिंग शब्द 'इन' प्रत्यय लगाने से बनते हैं, वे बुँदेली में 'नी' प्रत्यय लेते हैं; जैसे तेली–तेलिन; बुँ० तेलनी। बुँदेली के कारक हिंदी के ही समान होते हैं। ओकारांत तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप एकवचन में ए और बहुवचन में अन होता है; जैसे, एकवचन, घोड़ो, विकारी—घोड़े; बहुवचन, घोड़े, विकारी—घोड़न। दूसरे प्रकार की पुल्लिंग संज्ञाएँ एकवचन में नहीं बदलतीं; परंतु कर्त्ता के तथा विकारी रूप के बहुवचन में इनके अंत में "अन" आता है। कभी कभी कुछ अकारांत शब्दों

का बहुवचन आँ से भी बनता है। "इया" से अंत होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन "इयाँ" और विकारी बहुवचन "इयन" लगाने से बनता है। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्त्ता बहुवचन एँ प्रत्यय लगाने से बनता है। ईकारांत शब्दों के बहुवचन में "ई" और विकारी बहुवचन में "अन" या "इन" प्रत्यय लगता है। बुँदेलखंडी में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता-विकारी	ने, नें
कर्म, संप्रदान	कों, खों,
करण, अपादान	से, सें, सों,
संबंध	को, के,की
अधिकरण	मैं, में

बुँदेली में सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

एकवचन	मैं	तू
कर्त्ता	में, मैं	तूँ, तैं
विकारी	मैंने	तैंने
संबंध	मोको, मेरो, मोरो, मोने	तोको, तेरो, तोरो, तोने
बहुवचन		
कर्त्ता	हम	तुम
संबंध	हमको, हमारो, हमाओ	तुमकों, तुमारो, तुमाओ
विकारी	हम	तुम

अन्य पुरुष सर्वनाम का रूप बो या ऊ होता है। इनका बहुवचन बे और विकारी बहुवचन बिन या उन होता है।

क्रियाओं के संबंध में नीचे कुछ रूप दिए जाते हैं।

अकर्मक वर्तमान

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हों, आँवँ, आंव	हें, आयँ
म० पु०	हे, आयँ	हो, आव
अ० पु०	हे, आयँ	हें, आयँ

अकर्मक भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
म० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
अ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत्काल में दोनों रूप होते हैं—हुहों, हौंगो; मारिहों, मारूँगो; मारिहैं, मारैंगे।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि बुँदेलखंडी व्रज भाषा की ओर बहुत झुकती है और इसी लिये वह पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत मानी गई है।

(५) **खड़ी बोली**—इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी "हिंदवी"। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध' 'अशुद्ध' बोलनेवालों से 'सही' 'गलत' बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तो ह्यशुद्धौ गलतः स्मृतः"* का प्रचार करना

---

* इस 'पारसीक प्रकाश' कोश के थोड़े से पन्ने मिले हैं; पूरी पोथी नहीं मिली।

पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध, अशुद्ध न निकलकर सही, गलत निकला करता है। आज-कल जैसे अँगरेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से 'एक **ग्लास** पानी' न माँगकर एक **गिलास** ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख-उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने "ओज़बेक" का उजबक, 'क़ुतका' का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे; एवं ये लोग बरेहमन् सुन-कर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुँदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी, बाबू-इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिंदी कहलाती थी; पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बन-कर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस प्रकार 'संस्कृतवाक्' के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसल-मानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मान-कर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी, अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए; एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही के अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदु-स्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। (२)

उर्दू—जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदुस्तानी—जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

प्रसंगवश हम हिंदी शब्द के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य भाषा' शब्द प्रयुक्त करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिंधु से निकला हुआ बड़ा पुराना शब्द। ईसा मसीह से बहुत पहले फारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फारसी धर्म-पुस्तक में जो 'अकनूँ बिरहमने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बस दाना के आक़िल चुनानस्त' और 'चूँ व्यास हिंदी बलख़ आमद' लिखा है, वही 'हिंदी' शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है। एक मुसलमान लेखक ने 'नूरनामा' नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिंदी' बतलाया है जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। देखिए—

> ज़ुबाने अरब में य' था सब कलाम।
> किया नज़्म हिंदी में मैंने तमाम॥
> अगर्चे था अफ़सः वो अरबी ज़ुबाँ।
> व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ॥
> समझ उसकी हर इक को दुश्वार थी।
> कि हिंदी ज़ुबाँ याँ तो दरकार थी॥

इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर।
लिखा नूरनामे को हिंदी के तौर॥

अरबी, फारसी मिश्रित खड़ी बोली के लिये 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत ही आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिंदी न कहकर 'उर्दू-हिंदी' कह देते थे।

इन तीनों रूपों पर अलग अलग विचार करने के पहले लगे हाथ हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि खड़ी बोली की उत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे प्रायः भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का क्या, सं० १९८५ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति तक का कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली व्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह व्रजभाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसी के से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारांत रूप पाए जाते जो शौरसेनी प्राकृत से व्रजभाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारांत घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारांत रूप अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं। हेमचंद्र ने "स्यादौ दीर्घह्रस्वौ" सूत्र से इनकी सिद्धि बतलाकर कई विभक्तियों में आकारांत रूपों के उदाहरण दिए हैं। जैसे—

ढोला सामला धण चंपावएणी

ढोल्ला मइं तुहुं **वारिया** मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु॥

[दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,
दूल्हा, मैं तोहिं वरज्यौ मत कर दीरघ मान।
नींदे गँवैहो रतिया चटपट होइ बिहान ॥]

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचंद्र ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पंजाबी में आकारांत रूप मिलने के कारण यह संभावना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारांत रूपों पर फारसी के ه (हे) से अंत होनेवाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। दूसरे खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रज भाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि व्रज भाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्व काल में खड़ी बोली केवल बोल-चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्होंने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि खड़ी बोली का सबसे पुराना नमूना जो अब तक मिला है वह नामदेव की कविता में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह अंश क्षेपक और जाली है पर इस कथन को यदि हम वितंडावाद के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। अस्तु, नामदेव को छोड़ भी दिया जाय तो हमें खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो मिलता है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नामः में, जिसमें मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ और

देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिकबारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई है।

विक्रम की १४ वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन? ना सखि कुत्ता॥
स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥
जो मानुष इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

रहीम खानखाना ने भी खड़ी बोली में कविता की है। उनका मदनाष्टक खड़ी बोली का बड़ा मधुर उदाहरण है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटितट बिच भेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

हिंदू कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।
(२) खुदा की कसम खाई है।
(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

सीतल कवि (१७८०) ने खड़ी बोली में बड़ी ही सुंदर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अंग अंग में व्याप रही है। देखिए—

हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर बिधि ने यह फरफंद किया।
चंपक दल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ।
ऐसे में ग्रहन समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी अँग उछलै नट का बटा हुआ॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार कम से कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। सच बात तो यह है कि खड़ी बोली का काव्यभाषा का स्थान कभी नहीं मिला था। यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी। हरिश्चंद्र ने भी उसमें बहुत कविता नहीं की है। काव्य की परंपरा के लिये ढाली चली आती हुई व्रज भाषा के सामने उसका काव्य के लिये स्वीकृत होना बहुत कम संभव था, क्योंकि खड़ी बोली में मधुरता का अभाव था। पर रहीम ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि

संस्कृत वृत्तों का अनुसरण करने से खड़ी बोली की कविता में मिठास लाई जा सकती है। यही बात पीछे चलकर फारसी के वृत्तों के संबंध में हरिऔधजी की रचनाओं से प्रमाणित हुई। वर्तमान युग में मराठी के संसर्ग से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फिर से इसी बात का अनुभव प्राप्त किया और उनके दिखाए हुए मार्ग पर चलकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा कई और कवियों ने अच्छी सफलता प्राप्त की। पर इसका एक बुरा परिणाम यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि खड़ी बोली की कविता एक प्रकार से संस्कृतमयी हो गई है, केवल कोई संयोजक शब्द, कोई विभक्ति या कोई क्रिया जो यहाँ वहाँ मिल जाती है इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देती है कि यह कविता संस्कृत की नहीं हिंदी की है। उदाहरण के लिये पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह पंक्ति—

"मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि"

अथवा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का यह पद्य देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी—
श्रीराधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी॥

आनंद की बात है कि अब धीरे-धीरे खड़ी बोली की कविता की भाषा सरल गद्य की सी हो रही है जो समय की प्रवृत्ति के अनुकूल तथा भाषा कविता के भविष्य का द्योतक है। अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष रूप से हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि

उर्दू के आधार पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उनकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिंदू अपने अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक व्रज भाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी

हैं। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।"

यद्यपि गुलेरीजी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर फैला तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ' सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए, परंतु उनका यह कहना कि "उर्दू-रचना में फारसी, अरबी तत्सम या तद्भव निकालकर संस्कृत तत्सम या तद्भव रखकर हिंदी बना ली गई" ठीक नहीं है। उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडे के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले भी मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी ब्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निस्संकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्य भाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाकर और खड़ी बोली को अरब तथा फारस की वेषभूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है

कि उर्दू वास्तव में हिंदी की 'विभाषा' है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावत: देश की काव्यभाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।" हिंदू कवियों ने जो मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली बुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा में मूलत: भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अत: उन्होंने उसके लिये उनके द्वारा अपनाई गई खड़ी बोली का प्रयोग किया; और विशेष आत्मीयता बोधन करने के लिये हिंदू पात्रों की भाषा व्रज या अपने प्रदेश की रखी।

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसंगात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—"इतना सुनके पातशाहजी श्री अकबर-शाहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना हो गया, रास बचना पूरन भया।" गंग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार १६८० में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" भी इसी

भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है, जिसकी बानगी यह है—"चित्तौड़गढ़ के गोरा बादल हुआ है जिनकी वीरता की किताब हिंदवी बनाकर तयार करी है।" लल्लूजीलाल हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद "सुखसागर" वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिए राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाए, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर इंशाउल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढँग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना

नमूना मानते हैं। सारांश यह है कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट, की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्ध-पान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति-संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूल रूप को भूलकर अपने पृष्ठ-पोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमश: स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। इसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी, पर वास्तव में यह अपनी जन्मदात्री को भूलकर तथा अरबी-फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं, अपितु तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा होता है; और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफ़त करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे—सितारेहिंद, दफ़्तरे-फ़ौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—अज़खुद, अज़ तरफ़। अधिकरण कारक की विभक्ति 'में' के स्थान में भी 'दर' का प्रयोग होता है; जैसे—दर असल, दर हकीकत। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे—फ़िलहाल, फ़िलहक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख देते हैं; जैसे—"राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह

न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरणार्थ उर्दू के एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जिससे ये चारों बातें स्पष्टतया समझ में आ जायँगी।

"क़सूब: निगोहा के जानिबे दखिन एक मंदर महादेवजी का है, जिसको भौरेसर कहते हैं, और किनारे दरियाए सई के वाक़ेअ है। और वहाँ पर हर दुशंब: को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नाग़: जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक्त औरंगज़ेब बादशाह भी उस मंदर पर तशरीफ़ लाए थे और उनकी मंशा थी कि इस मंदर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें। और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने ग़ुस्से में आकर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरुअ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाईं, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़तरे ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुदरत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदुस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को यह रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यत् वाणी करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा व्रज भाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारत-वर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदुस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, किंतु अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी? भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया; और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

हम यह देख चुके हैं कि हिंदी की तीन प्रधान उपभाषाएँ हैं, अर्थात् अवधी, व्रज भाषा और खड़ी बोली। राजस्थानी और बुँदेलखंडी व्रज भाषा के तथा उर्दू खड़ी बोली के निकटतम हैं। इन तीनों उपभाषाओं के तारतम्य का कुछ विवेचन नीचे दिया जाता है।

व्रजभाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का तारतम्य

व्याकरण—खड़ी बोली के समान सकर्मक भूत काल के कर्त्ता में व्रज भाषा में भी 'ने' चिह्न होता है, चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण = जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से। इसी के अनुसार सकर्मक भूतकाल क्रिया के लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होते हैं। पर अन्य पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं, वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया के लिंग वचन बदलते हैं। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारकचिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे 'घोड़ा' और 'सखी' का व्रज भाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा, पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा, केवल कारक चिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन'

हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर जबाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे—"मूली कैसे दोगी?" वह बोली—"एक मूली का क्या दाम बताऊँ?" उन्होंने कहा—"एक ही नहीं, और लूँगा।" कुँजड़िन बोली—"तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङंत ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है; पर ब्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है, जैसे, आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान ब्रज भाषा की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक के सर्वनाम ब्रज में ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—आवनो, आयबो, करनो, देनो, दैबो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि। पर अवधी का लघ्वंत पदों की ओर कुछ झुकाव है, जिससे लिंग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर, गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच इत्यादि विशेषण, आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार

सर्वनाम और केर, कन, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ, कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। अवधी में साधारण क्रिया के रूप भी लघ्वंत ही होते हैं; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं, पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं, जैसे—ठाढ़, बैठ, आय, गय। उ०—बैठ हैं = बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी।—जायसी।

(ख) पाट बैठि रह किए सिँगारू।—जायसी।

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा।—तुलसी।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।—तुलसी।

उच्चारण—दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष व्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है, वहाँ व्रज में संधि हो जाती है। जैसे—अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिं नारि पियारि जिमि।—तुलसी), नियाव इत्यादि व्रज भाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण व्रज को प्रिय नहीं है; जैसे—पूरबी—दुआर, कुवाँर। व्रज—द्वार, क्वाँरा। इ और उ के स्थान पर य और व की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ [(१) इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। (२) उहाँ दशानन सचिव

हँकारे ।—तुलसी] के व्रज रूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है। जैसे—अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै) आदि न कहकर व्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै, जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और व्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व'कार के पहले रह गया, जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं। जैसे, गैया, कन्हैया, भैया, कौवा, हौवा, इत्यादि में। 'और' 'ऐसा' 'भैंस' आदि का उच्चारण पश्चिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', 'भइँस' से मिलता जुलता होगा।

व्रज के उच्चारण के ढँग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता जुलता करते हैं। माहिँ, नाहिँ, याहि, वाहि, जाहि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है, इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ', 'याय', 'वाय' 'जाय' के ऐसा होता है। 'आवैंगे' 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमेंगे' 'जामेंगे' सा लगता है, पर लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्त्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही

हैं। इसी से उनमें लिंगभेद रहता है। जैसे—आता है=आता हुआ है=सं० आयान् (आयांत), उपजता है=उपजता हुआ है=प्राकृत उपजंत=सं० उत्पद्यन्, (उत्पद्यंत), करता है=करता हुआ है=प्रा० करंत=सं० कुर्वन्, (कुर्वंत), आती है=आती हुई है=प्रा० आयंती=सं० आयांती, उपजती है=उपजती हुई है=प्रा० उपजंती=सं०* उत्पद्यंती, करती है=करती हुई है=प्रा० करंती=सं०* कुर्वती। इसी प्रकार वह गया=स गतः, उसने किया=तेन कृतम् इत्यादि हैं। पर ब्रज भाषा और अवधी में वर्तमान और भविष्यत् के तिङंत रूप भी हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं है। ब्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोल-चाल की भाषा में तिङंत प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुष-बोधन के लिये 'है' 'हूँ' और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—सं० चलति=प्रा० चलइ=ब्रज० चलै, सं० उत्प-द्यंते=प्रा० उपज्जइ=ब्रज० उपजै, सं० पठंति=प्रा० पढंति, अप० पढ़इँ=ब्रज० पढ़ैं, उत्तम पुरुष सं० पठामः=प्रा० पठामो, अप० पढ़उँ=ब्रज० पढ़ौं या पढ़ूँ। अब ब्रज में ये क्रियाएँ 'होना' के रूप लगाकर बोली जाती हैं। जैसे—चलै है, उपजै है, पढ़ैं हैं, पढ़ौं हौं या पढ़ूँ हूँ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा। वर्तमान के तिङंत रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं, पर कविता में बराबर आए हैं; जैसे—(क) पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। भविष्यत् के तिङंत रूप अवधी और ब्रज दोनों में एक ही हैं; जैसे—करिहै, चलिहै, होयहै=अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ=प्रा० करिस्सइ, चलिस्सइ, होइ-

स्सइ = सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति। अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही हैं, पर ब्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय = करिहै, होय-हय = होयहै इत्यादि रूप हो जायँगे। 'य' के पूर्व के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं; जैसे, अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै; करयहै = करैहै इत्यादि। उत्तम पुरुष खयहौं = खैहौं, अयहौं = ऐहौं, जयहौं = जैहौं।

ब्रज भाषा में बहुवचन के कारक-चिह्न-ग्राही-रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है। जैसे—घोड़ान को, घोड़न को, छोरान को, छोरन को इत्यादि। अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं। उ०—देखहु बनरन केरि ढिठाई।—तुलसी।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विला-यती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। आगे चलकर हम इसका विचार विशेष रूप से करेंगे। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंध कारक के सर्वनाम में मिलता है। जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० पुं० किस्स + कारक चिह्न 'का'। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे—'केहिकाँ' (पुराना रूप—केहि कहँ), 'केहि कर', यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से

होता है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों (जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और व्रजभाषा में हैं। जैसे पुराने रूप 'रामहिं','बनहिं', 'घरहिं', नए रूप 'रामै' 'बनै' 'घरै' (अर्थात् राम को, बन को, घर को); अवधी या पूरबी-"घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, व्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। व्रज भाषा की कविता में 'रामहिं' 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिं' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते हैं, वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों जाहि, वाहि, तिन्हैं, जिन्हैं में यह 'ह' रह गया है। चलती भाषा में 'रामै' 'बनै' 'आवैं' 'जायँ' 'करैं', 'करौं' ही बहुत दिनों से, जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से, हैं। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैं', 'चलावैं' के स्थान पर 'आवहिं' 'चलावहिं' तो क्या 'आवहीं' 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफाई जाती रही। शब्दों का अंग भंग करने का 'कविंदों' ने ठेका सा ले लिया समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की। भाषा तो ठिकाने की होती थी, पर शेष चरण इस बात को भूलकर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते हैं। पर भाषा के जीते-जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों

ने ऐसे सड़े गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया; किया भी है तो बहुत कम 'आवहिं', 'जाहिं', 'करहिं', 'कहहुँ' न लिखकर उन्होंने बराबर 'आवैं', 'जायँ', 'करैं', 'कहौं' लिखा है। इसी प्रकार 'इमि', 'जिमि', 'तिमि' के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के 'यों', 'ज्यों', 'त्यों' लाए हैं। व्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनाम के कर्म में 'ह' कुछ रह गया है; जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्हैं, तिन्हैं। पर 'जाहि' 'वाहि' के उच्चारण में 'ह' घिसता जा रहा है, लोग 'जाय' 'वाय' के समान उच्चारण करते हैं।

हिंदी की तीनों बोलियों (खड़ी, व्रज और अवधी) में व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारक-चिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं। व्रज भाषा में अवधी का सा विकार होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी	अवधी	व्रज
मैं–तू–वह	मैं–तैं–वह, सो, ऊ	मैं–तू या तैं–वह–सो
मुझ–तुझ–उस	मो–तो–वा, ता, ओ	मो–तो वा, ता

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। व्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप 'ने' लगने पर 'मैं' ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। व्रज में एकवचन उत्तम पुरुष 'हौं' भी आता है जिसमें कोई कारक चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्ता कारक में होता है; पर केशव ने कर्म में भी किया है। यथा—

पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

जाना, होना के भूतकाल के रूप (गवा, भवा) में से व उड़ाकर जैसा अवधी में गा, भा रूप होते हैं, वैसे ही व्रज में भी य उड़ाकर गो, भो (ब० गे, भे) रूप होते हैं। उ०— (क) इत पारि गो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को ?— पद्माकर। (ख) सौतिन के साल भो, निहाल नंदलाल भो।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न 'से' क्रिया के साधारण रूप में लगाती है; व्रज और अवधी प्रायः भूतकालिक कृदंत में ही लगाती हैं; जैसे—व्रज० 'किए ते' अवधी 'किएसन' = करने से। कारक चिह्न प्रायः उड़ा भी दिया जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है; जैसे—किए, दीने।

क्रिया का वर्तमान कृदंत रूप व्रज भाषा खड़ी बोली के समान गुर्वन्त भी रखती है; जैसे—आवतो, जातो, भावतो, सुहातो। (उ०—जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—सूर।) और अवधी के समान लघ्वंत भी; जैसे आवत, जात, भावत, सुहात। कविता में सुभीते के लिये लघ्वंत का ही ग्रहण अधिक है। जिन्हें व्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अंत होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होता है; पर व्रज भाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अंत होनेवाला; जैसे—आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से

अंत होनेवाला; जैसे—आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अंत होनेवाला; जैसे—आयबो, करिबो, दैबो, या लैबो इत्यादि। करना, देना और लेना के 'कीबो' 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं। व्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते, पिछले दो रूपों में ही लगते हैं। जैसे—आवन को, जान को, दैवे को इत्यादि। शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर साधारण क्रिया का रूप वर्तमान तिङंत का हो जाता है; जैसे—आवइ के, जाइ के, आवइ में, जाइ में अथवा आवइ काँ, जाइ काँ, आवइ माँ, जाइ माँ। उ०—जात पवन सुत देवन देखा। जानइ चह बल बुद्धि बिसेखा।—तुलसी।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अंत में ब रहता है; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। इस ब की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं; जैसे–पुनि आउब यहि बेरियाँ काली।—तुलसी। उत्तम पुरुष (हम करब, मैं करबौं) और मध्यम पुरुष (तू करबौ, तैं करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है; पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है। यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा।—तुलसी। (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू। कौन उतरु पाउब पैसारू।—जायसी। पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया। मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में ब में ई मिलाकर व्रज के दक्षिण से लेकर बुंदेलखंड तक बोलते हैं; जैसे आयबी, करबी इत्यादि। उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ

लए। (ख) ए दारिका परिचारिका करि पालिबो करुना-मई।—तुलसी। यह प्रयोग व्रज भाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्राय: सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है; सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि रामसहाय ने भी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है, तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं। साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है, वह इसी उदारता के बल से। इसी प्रकार 'स्यो' (=सह, साथ) शब्द बुंदेलखंड का समझा जाता है, जिसका प्रयोग केशवदासजी ने, जो बुंदेलखंड के थे, किया है; यथा— "अलि स्यो सरसीरुह राजत है।" बिहारी ने तो इसका प्रयोग किया ही है, पर उन्होंने जैसे करिबी और स्यो का प्रयोग किया है, वैसे ही अवधी कीन, दीन, केहि (=किसने) का प्रयोग भी तो किया है। स्यो का प्रयोग दासजी ने भी किया है जो खास अवध के थे; यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अत: किसी के काव्य में स्थानविशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही का रहने-वाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यव-हार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया? उदा-हरण लीजिए—जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी। एतिक दूरि जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है प्यारी। महँगा के अर्थ में 'प्यारा' पंजाबी है। अब पूरबी का नमूना लीजिए—गोड़ चापि लै जीभ मरोरी। गोड़ (पैर) खास पूरबी है।

इस प्रकार हिंदी की तीन मुख्य भाषाएँ, ब्रज भाषा, अवधी और खड़ी बोली का विवेचन समाप्त होता है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि ब्रज भाषा ओकार-बहुला, अवधी एकार-बहुला और खड़ी बोली आकार-बहुला भाषा है।

छठा अध्याय

हिंदी की विभक्तियाँ और प्रत्यय

हिंदी के विद्वानों में विभक्तियों के संबंध में बहुत मत-भेद है। कोई इन्हें प्रत्यय मानते हैं और इसी आधार पर इन्हें मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते हैं; परंतु दूसरों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों से उत्पन्न हुई हैं। जिस रूप में वे इस समय वर्त्तमान हैं, वह उनका संक्षिप्त रूप है। अतएव हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

विभक्तियाँ

(१) **कर्त्ता**—कर्त्ता कारक की विभक्ति किसी आधुनिक आर्य भाषा में नहीं है। हिंदी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति लगती है। यह 'ने' विभक्ति पश्चिमी हिंदी का एक विशेष चिह्न है। पूर्वी हिंदी में इसका पूर्ण अभाव है। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है, जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता; इसलिये हम 'ने' को करण कारक का चिह्न नहीं मानते। करण कारक का चिह्न हिंदी में 'से' है। संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है। इसी 'इन' का वर्ण-विपरीत हिंदी रूप 'ने' है।

(२) **कर्म और संप्रदान कारक**—इन कारकों की विभक्ति हिंदी में 'को' है। इन दोनों कारकों के प्रयोग में स्पष्टता न होने के कारण प्रायः इनका परस्पर उलट-फेर हो जाता है। यह हिंदी के लिये नई बात नहीं है। करण, अपादान और अधिकरण कारकों में प्रायः उलट फेर हिंदी की पूर्ववर्त्तीय भाषाओं में भी हो जाता है। संस्कृत में सात कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण। पर संस्कृत वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। प्राकृतों में संप्रदान का प्रायः लोप हो गया है। साथ ही प्राकृतों में यह भी प्रवृत्ति देखी जाती है कि अन्य कारकों के स्थान में संबंध का प्रयोग होता है। इस प्रकार कारकों के केवल दो ही प्रत्यय अर्थात् कर्त्ता और संबंध के रह जाते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार एक कारक को कई का स्थानापन्न बनाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट देख पड़ती है। हेमचंद्र ने स्पष्ट लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध कारक के प्रत्यय से ही अपादान और संबंध दोनों का बोध होता है। आधुनिक भाषाओं में शब्दों के दो रूप हो जाते हैं—एक कर्त्ता का अविकारी रूप और दूसरा अन्य कारकों में विकारी अर्थात् कारक-चिह्नग्राही रूप। इससे भिन्न भिन्न कारकों के प्रयोग में स्पष्टता हो जाती है; और इसे बनाए रखने के लिये आधुनिक भाषाओं में कारक-चिह्न-ग्राही रूपों में भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं। परंतु प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में कारकों के लोप अथवा एक दूसरे में लीन हो जाने के कारण आधुनिक हिंदी में कर्म और संप्रदान तथा करण और अपादान कारकों की एक ही विभक्ति रह गई है।

बीम्स साहब का कथन है कि 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली है, जिसका विकार क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कक्खं, काँख, काहँ, काहूँ, काहुँ, कहूँ, कौं, कों और अंत में को। परंतु जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है, उसमें 'कक्षे' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतः आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना करना उल्टी गंगा बहाना है। दूसरे लोग अम्हाकं, अम्हें, तुम्हाकं, तुम्हें, से हमको, हमें, तुमको, तुम्हें की उत्पत्ति मानकर इसी 'कं' या 'आकं' की और शब्दों में अतिव्याप्ति स्वीकार करते हैं।

संस्कृत की 'कृ' धातु से 'कृत' शब्द बनता है। इसका करण कारक का रूप 'कृतेन' और अधिकरण कारक का रूप 'कृते' होता है। ये दोनों कृतेन और कृते संप्रदान कारक का भाव प्रकट करते हैं; जैसे—देवदत्तस्य कृते = देवदत्त के लिये। हेमचंद्र अपने व्याकरण (४। ४२५) में लिखते हैं कि अपभ्रंश में 'केहि' निपात (अव्यय) तादर्थ्य (= के लिये) में प्रयुक्त होता है जो संप्रदान कारक का अर्थ प्रकट करता है। संस्कृत के कृत से अपभ्रंश का 'कअ' होता है, जिसका करण बहुवचन या अधिकरण एक वचन रूप 'कअहि' या 'कयहि' होता है। हेमचंद्र जिस 'केहि' का उल्लेख करते हैं, वह वास्तव में इसी 'कअहि' या 'कयहि' का विकृत रूप है। इसी 'केहि' से आधुनिक भाषाओं की संप्रदान कारक की विभक्तियाँ किही, कै, कू, कौ, को, काहु, किनु, गे, खे, कु, के, का आदि बनी हैं। हिंदी में इस 'को' विभक्ति के रूप व्रज-भाषा और अवधी में 'कहँ', काँ, के, कुँ, कूँ, कौं, कउँ और

के होते हैं। इन्हीं 'कहँ' 'कों' आदि से आधुनिक हिंदी की 'को' विभक्ति बनी है; अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के कृते या कृतेन शब्द से अपभ्रंश में 'केहि' होती हुई हिंदी में 'को' हो गई है। कुछ लोग अपभ्रंश के 'केहि' निपात को कर+हि के संयोग से बना हुआ मानते हैं, जो क्रमशः संबंध और संप्रदान कारक के प्रत्यय माने जाते हैं।

(३) **करण और अपादान**—हिंदी में इनकी विभक्ति 'से' है। दोनों कारकों की एक ही विभक्ति होने का ठीक कारण नहीं जान पड़ता। पाली में इन दोनों का बहुवचनांत रूप एक सा होता है। संभव है, इसी उपमान से इनमें अभेद कर लिया गया हो। अधिकांश विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति से बताते हैं। प्राचीन हिंदी में अपादान के लिये तें तथा सेंती और हुँत, हुँते आदि विभक्तियाँ भी आई हैं। यह 'सेंती' तो स्पष्ट सुंतो से निकली है और हुँत, हुँते प्राकृत की विभक्ति हिंतो से। से विभक्ति भी सुंतो से निकली हुई जान पड़ती है। चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' शब्द 'से' के अर्थ में आया है; जैसे—

कहै कंति सम कंत। (१—११)

कहि सनिकादिक इंद्र सम। (२—११०)

बलि लग्गौ जुध इंद्र सम। (२—२१८)

यह 'सम' संस्कृत के सह का पर्याय है और इसी से आगे चलकर 'सन' बना है जिसका प्रयोग अवधी में प्रायः मिलता है। अतएव बहुतों का मत है कि सम से सन तथा सन से सौं, सें और अंत में 'से' हो गया है। पर रासो में

'से', 'सम', 'हुँतो' आदि रूप का एक साथ मिलना यह सूचित करता है कि ये सब स्वतंत्र हैं; कोई किसी से निकला नहीं है।

(४) **संबंध कारक**—इसकी विभक्ति 'का' है। वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध-कारक का संबंध होता है, उसे भेद्य कहते हैं; और भेद्य के संबंध से संबंध कारक को भेदक कहते हैं। जैसे—'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' भेदक और 'घोड़ा' भेद्य है। हिंदी में भेद्य इस विभक्ति का अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसके भी लिंग वचन होते हैं। और सब विभक्तियाँ तो दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में एक सी रहती हैं, केवल संबंध-कारक की विभक्ति पुल्लिंग एक-वचन में 'का', स्त्रीलिंग एक-वचन में 'की', और स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग दोनों के बहु-वचन में तथा पुल्लिग भेद्य के कारक-चिह्न-ग्राही रूप के पूर्व प्रयुज्यमान भेदक की 'के' होती है। इसका कारण यह है कि भेदक एक प्रकार से विशेषण होता है और विशेषण का विशेष्यनिघ्न होना स्वाभाविक ही है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति का विवेचन करना उचित होगा। इस विभक्ति की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में कई मत हैं, जो नीचे दिए जाते हैं।

(क) संस्कृत में संज्ञाओं में इक, ईन, इय प्रत्यय लगने से तत्संबंधी विशेषण बनते हैं। जैसे, काय से कायिक, कुल से कुलीन, भारत से भारतीय। 'इक' से हिंदी में 'का', 'ईन' से गुजराती में 'नो' और 'ईय' से सिंधी में 'जो' तथा मराठी में 'चा' होता है।

(ख) प्राय: इसी तत्संबंधी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय "क" आता है; जैसे—मद्रक = मद्र देश का, रोमक = रोम देश का। प्राचीन हिंदी में 'का' के स्थान में 'क' पाया जाता है, जिससे यह जान पड़ता है कि हिंदी का 'का' संस्कृत के 'क' प्रत्यय से निकला है।

(ग) प्राकृत में 'इदं' (संबंध) अर्थ में 'केरओ' 'केरिअ' 'केरकं' 'केर' आदि प्रत्यय आते हैं, जो विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं और लिंग में विशेष्य के अनुसार बदलते हैं। जैसे—कस्स केरकं एदं पवहणं (किस की यह बहल है)। इन्हीं प्रत्ययों से पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिंदी के केरा, केरो आदि प्रत्यय निकले हैं जिनसे हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय बनते हैं। पर इन्हें प्रत्यय कहना उचित नहीं जान पड़ता। प्रत्यय जिस प्रकृति से लाया जाता है, वह निर्वि-भक्तिक होती है, उससे विभक्ति का लोप हो जाता है। परंतु यहाँ 'केरकं' के पहले 'कस्स' सविभक्तिक है। हेमचंद्र ने 'केर' प्रत्यय (२। १४७) और संबंधिवाचक 'केर' शब्द (४। ४२२) दोनों का उल्लेख किया है। तुम्हकेरो, अह्म-केरो, तुज्झ बप्पकेरको (मृच्छक०) आदि में प्रयुक्त 'केर' को प्रत्यय और 'कस्स केरकं' के 'केर' को स्वतंत्र पद समझना चाहिए। हिंदी 'किसका' ठीक 'कस्स केरकं' से मिलता है। किस, 'कस्स' ही का विकार है। अत: 'किसका' में दुहरी विभक्ति की कल्पना करके चौंकना वृथा है।

(घ) प्राकृत इदमर्थ के क, इक्क, एच्चय आदि प्रत्ययों से ही रूपांतरित होकर आधुनिक हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय हुए हैं।

(ङ) सर्वनामों के 'रा, रे, री' प्रत्यय केरा, केरो आदि प्रत्ययों के आद्य 'क' का लोप हो जाने से बने हैं।

यही भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ कुछ तथ्यांश प्रत्येक मत में जान पड़ता है, परंतु प्राकृत इदमर्थवाची केरओ, केरिअ, केरकं आदि से हिंदी की संबंध कारक की विभक्ति का निकलना [देखो ऊपर (ग)] अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। इस कृत का बोलचाल की प्राकृत में, जिसका स्वाभाविक रूप भास के नाटकों में रचित है, 'केरओ' होता है। मृच्छ-कटिक की पंडिताऊ प्राकृत में यही 'केरकं' के रूप में मिलता है। हेमचंद्र में यही 'केर' के रूप में मिलता है (दे०—संबंधिनि केरतणौ—हेमचंद्र) और उससे पहले धनपाल में यही 'केरा' 'केरी' के रूप में मिलता है। पृथ्वीराजरासो में भी यह 'केरो' 'केरी' है।

दौरे गज अंध चहुआन केरो। भिदी दृष्टि सों दृष्टि चहुआन केरी।

अक्षरों तथा भाषाओं के क्रमशः विकार और लोप होने से इससे अवधी के "केरा, केरी, केर, कै, क" रूप हुए—जैसे,

यह सब समुद बुंद जेहि केरा।—जायसी।
औ जमकात फिरै जम केरी।—जायसी।
हैं। पंडितन केर पछलगा।—जायसी।
राम ते अधिक राम कर दासा।—तुलसी।
धनपति उहै जेहि क संसारा।—तुलसी।

पश्चिमी की 'का—के—की' विभक्तियाँ प्राकृत अप-भ्रंशों से उतना मेल नहीं खातीं जितनी पूर्वी की देख पड़ती हैं। फिर भी 'केर' के 'र' के लोप हो जाने से 'के' का

आविर्भाव सुगमता से हो जाता है, और जिस प्रकार पूर्वी का 'क' निकलता है उसी प्रकार खड़ी बोली का 'का के की', व्रज का 'कौ' और कन्नौजिया का 'को' भी निकल सकता है। पूर्व और पश्चिम की उच्चारण-भिन्नता भी इस भेद का कारण हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिमी ओकार-प्रियता रासो के 'केरो' और पूर्वी आकार-प्रियता जायसी के 'केरा' के लिये उत्तरदायी है।

डाक्टर भंडारकर ने 'कीय' से 'केर' के निकालने में रूपबाधा मानी है इसलिये वे 'कार्य' से इन रूपों को निकालते हैं, पर यदि विचार किया जाय तो इस व्युत्पत्ति में भी बाधा है। संबंध भूत वस्तु है और कार्य भविष्य। संबंध हो चुका होता है और कार्य होनेवाला होता है। यदि 'कीय' से 'केर' की उत्पत्ति में रूप-बाधा थी तो 'कार्य' में अर्थ-बाधा उपस्थित होती है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है 'कृत' को मूल मानने से कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार का अर्थ-विपर्यय संस्कृत में भी बहुधा हुआ है, अतएव यहाँ भी उसके मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ये विद्वान् पूर्वी 'केरो, केर, कर,क' का 'कृत' से 'केरौ, करौ' होते हुए तथा पश्चिमी 'कौ, को, का, के, कु' को 'कृत' से 'कौ, किऔ, किरौ' होते हुए मानते हैं। यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। पर जैसा कि हम कह चुके हैं संगति 'कृत' से 'केरओ, केरिअ, केरक' आदि होते हुए इन रूपों को निकालने में ही बैठती है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि संबंध कारक की विभक्तियों में लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर होने के कारण यह स्पष्ट

है कि ये विभक्तियाँ वास्तव में विशेषण थीं और प्रारंभ में इनमें कारकों के कारण विकार होता था। अतएव 'का' विभक्ति का पूर्व रूप भी विशेषण का सा ही रहा होगा। संस्कृत कृ धातु के कृदंत रूप कृतः का अपभ्रंश में केरा, किरो, किश्रो,. को और कयो होता है। इन अपभ्रंश रूपों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) को, किश्रो, किरो।

(२) केरो, करो।

प्रथम श्रेणी के रूप स्पष्टतः संस्कृत के कृतः से निकले हैं। इसी का शौरसेनी अपभ्रंश रूप 'किरो' है। द्वितीय श्रेणी में केरो का प्रयोग तो अपभ्रंश में मिलता है, पर करो का नहीं मिलता। आधुनिक भाषाओं में इसके मिलने से यह मानना पड़ता है कि या तो इस रूप का प्रयोग था, अथवा यह केरो से विकृत होकर बना है। बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के कृतः से प्राकृत में करिओ हुआ जिससे केरो बना। कोई कोई प्राकृत के 'करिश्रो' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला हुआ मानते हैं। संभवतः इसका पुराना रूप 'करिद' न कि 'करिअ' हो सकता है; पर 'करिद' से 'केर' नहीं निकल सकता। यदि हम इसे 'कार्यः' से निकालते हैं, तो इसके अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। कृतः भूत कृदंत का रूप है और कार्यः भविष्य कृदंत का। भूत और भविष्य के भावों में बहुत भेद है; अतएव एक ही अर्थ के द्योतक शब्द को दोनों से निकला हुआ मानना ठीक नहीं। पर संस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ का विपर्यय होता है। अतः केरो और करो को सं० कार्यः, प्रा० करिश्रो से निकला हुआ

मानने में कोई अड़चन नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के प्राकृत प्रत्ययों से कौ, को, का, के, कु निकले हैं और दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों से केरो, केर, कर, क निकले हैं।

पर इन व्युत्पत्तियों का आधार अनुमान ही अनुमान है। अतः हम इनके परम मूल की गवेषणा छोड़कर केवल प्राकृत के 'केर' "क्क" प्रत्यय और अपभ्रंश के "केर" या 'केरक' शब्द से ही इनकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा है। जिस प्रकार 'बलीवर्द' के दो खंडों—बली और वर्द से क्रमशः बैल और बर्दा एवं 'द्वे' के दो खंडों द और वे से क्रमशः हिंदी 'दो' और गुजराती तथा पुरानी हिंदी 'बे' निकले हैं, वैसे ही 'केरक' से केर (पश्चिमी अवधी 'रामकेर'), 'एर' (बँगला), 'क' (भोजपुरिया और पूर्वी अवधी) और 'का' का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य नहीं।

(५) **अधिकरण कारक**—हिंदी में इसका चिह्न 'में' है। यह संस्कृत के 'मध्ये' से निकला है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसके मज्झे, मज्झि, मज्झहिं रूप होते हैं। इन्हीं रूपों से आधुनिक भाषाओं की विभक्तियों के दो प्रकार के रूप बन गए हैं—एक वह जिसमें झ बना हुआ है; और दूसरा वह जिसमें झ के स्थान में ह हो गया है। इन्हीं रूपों से मझि, माँझ, माँहैं, माँहीं, माँही, माह, महँ, माँ, मों और में रूप बने हैं। यह बीम्स तथा हार्नली का मत है। वस्तुतः 'में' को पाली, प्राकृत के स्मि, म्हि, म्मि से ही उद्भूत मानना चाहिए। प्राकृत अथवा संस्कृत में जहाँ जहाँ 'मज्झहि' या 'मध्ये' का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ उसके पूर्व में षष्ठी विभक्ति वर्त्तमान रहती है; अतः उसे मध्य शब्द

का अर्थानुरोध से प्रयुक्त स्वतंत्र रूप ही समझना चाहिए, न कि अधिकरणता-बोधक विभक्ति। दूसरे 'पृथ्वीराज रासो' आदि प्राचीन हिंदी काव्यों में साथ ही साथ 'माझ' आदि तथा 'में' का प्रयोग देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि 'मध्य' से घिस घिसाकर 'में' उत्पन्न हुआ है। अतः 'म्मि' से ही 'में' निकला है, इसमें संशय नहीं। इसी 'म्मि' का केवल 'इ' अपभ्रंश में आता है। इसका सार यह निकला कि माझ, महँ आदि 'मध्य' और 'में', म्मि से व्युत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार हिंदी विभक्तियों की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों, विभक्तियों और प्रत्ययों से हुई है। यहाँ पर हम एक बात पर पुनः ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहले यह बात लिख चुके हैं कि भारतवर्ष की आधुनिक आर्य-भाषाओं के दो मुख्य समुदाय हैं—एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग; और एक तीसरा समुदाय दोनों का मध्यवर्त्ती है। बहिरंग और अंतरंग समुदाय की भाषाओं में यह बड़ा भेद है कि पहली संयोगावस्था में है और दूसरी वियोगावस्था में, अर्थात् पहली के कारक रूप प्रायः प्रत्यय लगाकर बनते हैं और दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। जैसे—हिंदी में कारक रूप बनाने के लिये 'घोड़ा' संज्ञा के साथ विभक्ति लगाकर घोड़े का, घोड़े को आदि बनाते हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि ये 'का, को' आदि स्वतंत्र शब्द थे; पर क्रमशः अपनी स्वतंत्रता खोकर अब सहायक मात्र रह गए हैं। इसके विपरीत बँगला भाषा को लीजिए, जिसमें 'घोड़े का' के स्थान में 'घोड़ार' और

'घोड़े को' के स्थान में 'घोड़ारे' होता है। यहाँ र और रे प्रत्यय लगाकर कारक के रूप बनाए गए हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अवस्था में स्वतंत्र शब्द सहायक बन जाने पर भी अपनी अलग स्थिति रखते हैं; और दूसरी अवस्था में वे प्रत्यय बनकर शब्दों के साथ मिलकर उसके अंग बन गए हैं।

हम पहले बतला चुके हैं कि भाषाएँ अपने विकास की अवस्था में पहले वियोगात्मक होती हैं और क्रमशः विकसित होते होते संयोगात्मक हो जाती हैं। बहिरंग भाषाएँ भी आरंभ में वियोगात्मक अवस्था में थीं; पर क्रमशः विकसित होती हुई वे संयोगात्मक हो गईं। अर्थात् प्रथम अवस्था में शब्द अलग अलग रहते हैं; और दूसरी अवस्था में वे विकृत शब्दों के साथ मिलकर उनके अंग बन जाते हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो पहले केवल संग लगे रहते थे, वे अब अंग हो गए हैं। हम यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। परंतु ऐसा करने के पहले हम प्राकृत और अपभ्रंश के एक मुख्य नियम पर ध्यान दिला देना चाहते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कुछ व्यंजन, जिनमें क और त सम्मिलित हैं, जब किसी शब्द के बीच में दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तब उनका लोप हो जाता है, परन्तु यदि वे किसी शब्द के आरंभ में आते हैं, तो उनका लोप नहीं होता, चाहे उनके पूर्ववर्ती शब्द के अंत में स्वर हो और उनके पीछे भी स्वर हो; जैसे चलति का चलइ होता है। इस शब्द के स्वरों और व्यंजनों को अलग करने से ऐसा रूप होता है—च् + अ + ल् + अ + त् + इ। अब त् अक्षर अ और इ के बीच में आया है, इसलिये उसका

लोप हो गया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—कामस्स तत्त (=कामस्य तत्व)। इसमें तत्त के प्रथम त का लोप नहीं हुआ, यद्यपि कामस्स का अंतिम स अकारांत है और 'त' स्वयं भी अकारांत है। यहाँ इसका लोप इसलिये नहीं हुआ कि यह शब्द के आरंभ में आया है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि 'क' या 'त' का लोप तभी होता है, जब वह शब्द के बीच में आता है। शब्द के आरंभ में उसका लोप नहीं होता। अब हम किअअ, कर, करौ और तनौ इन तीन प्राचीन शब्दों को लेते हैं जो संबंध कारक के प्रत्यय बन गए हैं। हिंदी 'घोड़े का' 'घोड़हि कअअ' से बना है। यहाँ इस कअअ के क का लोप नहीं हुआ और वह आधुनिक 'का' रूप में 'क' सहित वर्तमान है। अतएव यह 'का' का 'क' एक स्वतंत्र शब्द का आरंभिक अक्षर है, जो घोड़े के साथ मिलकर एक नहीं हो गया है। इसलिये यह कारक चिह्न के रूप में वर्तमान है और व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय नहीं बन गया है। अब बँगला का 'घोड़ार' लीजिए जिसका अपभ्रंश रूप 'घोड़अ-कर' है। इसमें 'कर' का केवल 'अर' रह गया है। यहाँ आरंभिक 'क' का लोप हो गया है। यह 'क' मध्यस्थ होकर लुप्त हुआ है; इसलिये यह स्वतंत्र न रहकर घोड़ा शब्द में लीन हो गया है। यहाँ यह कारकचिह्न न रहकर प्रत्यय बन गया है। बहिरंग भाषाओं में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं; पर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं; अतः उनके कारकों के सूचक सहायक शब्द उनके अंग बनकर उनसे संयुक्त हो गए हैं; और अंतरंग भाषाओं में, उनकी वियोगावस्था

में रहने के कारण, वे वियुक्त रहे हैं। इस अवस्था में हिंदी के संज्ञा-कारकों की विभक्तियों को शब्दों से अलग रखना उनके इतिहास से सर्वथा अनुमोदित होता है। इस संबंध में जानने की दूसरी बात यह है कि अंतरंग भाषाओं में कारक-चिह्न या विभक्ति लगने से पूर्व शब्दों में वचन आदि के कारण विकार हो जाता है; पर बहिरंग भाषाओं में प्रत्यय लग जाने पर इन्हीं कारणों से विकार नहीं होता। यहाँ एक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाए रखता है और दूसरा अपना अस्तित्व सर्वथा खो देता है।

यह उपर्युक्त विचार हमने ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार किया है। जिस प्रकार अंतरंग-बहिरंग भेद के प्रयोजक अन्य कारणों का दौर्बल्य हम पहले दिखा चुके हैं, उसी प्रकार संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्बल ही है। अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भाषाओं में संयोगावस्थापन्न रूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है, किसी में कोई। पश्चिमी हिंदी और अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक-चिह्नों के पूर्व विकारी रूप ही प्रयोग में आते हैं; जैसे—'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह 'घोड़े' घोड़हि (=घोटस्य अथवा घोटक+तृतीया बहुवचन विभक्ति 'हि'=भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अंतरंग मानी गई भाषा का है। इसके विपरीत बहिरंग मानी गई बँगला का 'घोड़ार' और बिहारी का ''घोराक'' रूप संयोगावस्थापन्न नहीं किंतु घोटक +

कर और घोटक + क,—क से घिस घिसाकर बना हुआ संमिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी गई जिस पश्चिमी हिंदी में वियोगावस्थापन्न रूप ही मिलने चाहिएँ, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों ही के द्वारा होना चाहिए, उसी में प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाए जाते हैं जो नितांत संयोगावस्थापन्न हैं; अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण लीजिए—

कर्त्ता एक वचन—घोड़ो (व्रज०) घोड़ा (खड़ी बोली) घरु (व्रज० नपुंसक लिंग)।

कर्त्ता बहुवचन—घोड़े (<घोड़ेइ < घोड़हि = तृतीया बहुवचन, 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आँखों (<अक्खिहिं, खुसुरू वाको आँखों दीठा —अमीर खुसरो) कानों (< कण्णहिं)।

करण (–कर्त्ता)—मैं (ढोला मइं तुहुँ वारिआ; मैं सुन्यौ साहि बिन अंषि कीन—पृथ्वी०) तैं, मैंने, तैंने (दुहरी विभक्ति)।

अधिकरण एकवचन—घरे, आगे, हिंडोरे (बिहारीलाल), माथे (सूरदास)।

अपादान एकवचन—भुक्खा (= भूख से, बाँगडू) भूखन, भूखों (व्रज०, कन्नौजी)।

दूसरे बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिंदी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है—घोड़े दा (= घोड़े का), घोड़े ने, घोड़े नूँ इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में पश्चिमी हिंदी से बढ़कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती; अतः उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है।

अब हम हिंदी के सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। इनमें विशेषता यह है कि इनमें से कुछ तो संयोगावस्था में हैं और कुछ वियोगावस्था में। एक एक सर्वनाम को लेकर हम इस संबंध में विवेचन करेंगे।

सर्वनाम

(१) **मैं, हम**—संस्कृत के अस्मद् शब्द का करण कारक का रूप संस्कृत में 'मया', प्राकृत में 'मइ' और अपभ्रंश में 'मइँ' होता है, जिससे हिंदी का 'मैं' शब्द बना है। संस्कृत के अस्मद् शब्द के कर्ता कारक का रूप संस्कृत में अहं, प्राकृत में 'अम्हि' और अपभ्रंश में 'हउँ' होता है, जिससे हिंदी का 'हौं' शब्द बना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता का हौं (=मैं) प्रथमा का परंपरागत रूप है और आधुनिक 'मैं' तृतीया से बना है। बहुवचन में संस्कृत के 'वयं' का रूप लुप्त हो गया है, यद्यपि प्राकृत में वयं का वअं और पाली में मयं रूप मिलता है। पर अपभ्रंश में यह रूप नहीं देख पड़ता। बहुवचन में प्राकृत में, अम्हें, अम्हो और अपभ्रंश में अम्हइँ, अम्हेइँ आदि रूप मिलते हैं। अ का लोप होकर और म—ह में विपर्यय होकर 'हम' रूप बन गया है। मार्कंडेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व के १७ वें पाद के ४८ वें सूत्र में अस्मद् के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है। परंतु उन्होंने यह रूप एकवचन में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के लिये इस प्रकार का वचन-व्यत्यय कोई नई बात नहीं। कारकग्राही या विकारी रूपों में हिंदी में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक में हिंदी की विभक्ति लगती है और दूसरे में नहीं लगती। जैसे—कर्म कारक में मुझे और मुझको, हमें

और हमको दोनों रूप होते हैं, पर अन्य कारकों में 'मुझ' के साथ विभक्ति अवश्य लगती है। मुज्झ और मुज्झे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में मिलते हैं, जिनसे हिंदी का मुझ रूप बना है। संबंध कारक में कृत: के केरौ, करौ रूपों के आरंभिक क के लुप्त हो जाने से रो या रा अंश बच रहा है, जो कई भाषाओं में अब तक षष्ठी विभक्ति का काम देता है। इस 'रा' प्रत्यय के 'मे' में लगने से 'मेरा' रूप बनता है और इसके अनुकरण पर बहुवचन का रूप बनता है। सारांश यह है कि अस्मद् से प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा होते हुए ये सब रूप बने हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कारकग्राही रूपों में मुज्झ रूप स्वयं कारक-प्रत्यय सहित है; पर हिंदी में इस बात को भूलकर उसमें पुन: विभक्तियाँ लगाई गई हैं।

(२) **तू, तुम, आप**—इनमें से तू और तुम रूप युष्मद् से बने हैं। संस्कृत के युष्मद् शब्द का कर्ता एकवचन रूप प्राकृत में तुं, तुमं, और अपभ्रंश में तुह होता है, जिससे तू या तूँ और तुम बने हैं। इसी प्रकार कारकग्राही रूप भी प्राकृत और अपभ्रंश के तुज्झ के रूप से बने हैं। 'आप' रूप संस्कृत के आत्मन् शब्द से निकला है, जिसका प्राकृत अप्पा और अपभ्रंश रूप अप्पण होता है; और जो इसी अथवा अप्पन, अपन आदि रूपों में राजपूताने तथा मध्य प्रदेश आदि में अब तक प्रचलित है। शेष सब बातें मैं और हम के समान ही हैं।

(३) **यह**—संस्कृत के एतद् शब्द के कर्ता का एकवचन एष: होता है, जिसका प्राकृत में एसो और अपभ्रंश में एहो होता है। इसी से 'यह' के भिन्न भिन्न रूप जैसे—ई, यू, ए, एह आदि बने हैं। इस 'यह' का बहुवचन ये होता है, जो

इस एतद् शब्द के अपभ्रंश रूप 'एइ' से बना है। कुछ लोग इसे संस्कृत 'इदम्' से भी निकालते हैं, जिसका प्राकृत रूप अयं और अपभ्रंश 'आअ' होता है। इसका कारक-चिह्न-ग्राही रूप एतद् के प्राकृत रूप एसो, एस, एअस्स, अपभ्रंश 'एइसु' अथवा 'इदम्' के प्राकृत रूप अस्स और अपभ्रंश 'अयसु' से निकला है। संबंध कारक का रूप भी इसी कारक-चिह्न-ग्राही रूप के अनुसार होता है; केवल विभक्ति ऊपर से लगती है। सर्वनामों में यह विचित्रता है कि उनका संबंध कारक का रूप संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के षष्ठ्यंत रूप से बनता है। पर इसमें कारक प्रत्यय का समावेश शब्द में हो जाता है और पुनः विभक्ति लगती है।

(४) **वह, वे**—ये संस्कृत के अदस् शब्द से निकले हैं जिनका प्राकृत रूप 'अह' 'अमू' और अपभ्रंश रूप 'ओइ' (बहुवचन) होता है जिससे अ, वै, ओ, वौ, वह, उह आदि रूप बने हैं। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप प्राकृत 'अमुस्स' से निकला है।

(५) **सो, ते**—ये संस्कृत सः, प्राकृत सो, अपभ्रंश सो से निकले हैं। बहुवचन संस्कृत का 'ते' है ही। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप संस्कृत तस्य, प्राकृत तस्स, तास, अपभ्रंश तासु, तसु से बना है।

(६) **जो**—संस्कृत यः, प्राकृत जो, अपभ्रंश जु। 'जो' प्राकृत से सीधा आया है। संबंध का विकारी रूप यस्य, जस्स—जास, जासु जसु—से निकला है।

(७) **कौन**—संस्कृत कः, प्राकृत को, अपभ्रंश कवणु से बना है; और **किस**—संस्कृत कस्य, प्राकृत कस्स, कास, अपभ्रंश कासु से निकला है।

(८) **क्या**—संस्कृत किम्, अपभ्रंश काइँ और काहि प्राकृत के अपादान कारक रूप 'काहे' से सीधा आया है।

(९) **कोई**—संस्कृत कोऽपि, प्राकृत कोबि, अपभ्रंश कोबि अथवा को + हि के 'ह' के लोप हो जाने से बना है; और किसी-कस्य, कस्स, कासु + ही (सं० हि) से व्युत्पन्न है।

इन सब सर्वनामों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विशेषता है कि इन सबका विकारी रूप षष्ठी या कहीं कहीं सप्तमी के रूप से बना है और उनके आदि कारक प्रत्यय उनके साथ में लगे हुए रहकर भी आधुनिक भाषाओं में आकर अपने व्यापार से च्युत हो गए हैं; इसलिये नई विभक्तियाँ लगाकर उन्हें कार्यकारी बनाया गया है। सबके बहुवचन एक ही प्रकार से 'न' या 'न्ह' से बने हैं। ये सब रूप एक ही ढँग से बने हैं। इनका कोई अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है; सब एक ही साँचे में ढले हैं।

आधुनिक हिंदी में वास्तविक तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का बहुत कुछ लोप हो गया है। व्रज भाषा और

क्रियाएँ

अवधी में तो इनके रूप मिलते हैं, पर खड़ी बोली में यह बात नहीं रह गई है। हाँ, आज्ञा या विधि की क्रियाएँ अवश्य इसमें भी शुद्ध साध्यावस्थापन्न हैं जिनमें लिंगभेद नहीं होता। अब हिंदी में अधिकांश क्रियाएँ दो प्रकार से बनती हैं—एक तो 'है' की सहायता से और दूसरे भूतकालिक कृदंत के रूपों से। 'है' पहले वास्तविक क्रिया थी और अब भी 'रहना' के अर्थ में उसका प्रयोग होता है; जैसे—'वह है'। पर इसका अधिकतर कार्य

दूसरी क्रियाओं की सहायता करके उनके भिन्न भिन्न रूप बनाना तथा कालों की व्यवस्था करना है। जैसे—'वह जाता है' 'मैं गया था' इत्यादि। नीचे व्रज भाषा और अवधी के उदाहरण देकर हम यह दिखलाते हैं कि कैसे उन दोनों भाषाओं में पहले स्वतंत्र क्रियाएँ थीं और अब उनका लोप हो जाने पर उनका स्थान कृदंत क्रियाओं ने ग्रहण कर लिया है और उनका कार्य सहायक क्रिया 'है' के द्वारा संपादित होता है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकवचन						
उ० पु०	चलामि	चलामि	चलउँ	चलौं	चलौं	चलता हूँ
म० पु०	चलसि	चलसि	चलहि चलइ	चलै	चलै	चलता है
अ० पु०	चलति	चलइ	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलता है
बहुवचन						
उ० पु०	चलामः	चलमो	चलहुँ, चलिहुँ	चलैं	चलैं	चलते हैं
म० पु०	चलथ	चलह	चलहुँ	चलौ	चलहु	चलते हैं
अ० पु०	चलंति	चलंति	चलहि चलइँ	चलैं	चलैं	चलते हैं

इन उदाहरणों में वर्त्तमान काल के 'चलता', 'चलती' आदि क्रियांश वर्त्तमानकालिक धातुज विशेषण हैं। सं० चलन् (चलंत) चलंती आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। इनको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले 'है' का भाव क्रियाओं में ही सम्मिलित था, पर पीछे से खड़ी बोली में ये क्रियाएँ कृदंत रूप में आ गईं और भिन्न भिन्न पुरुषों, वचनों, कालों, प्रयोगों आदि का रूप सूचित करने के लिये 'है' के रूप साथ में लगाए जाने लगे। यही व्यवस्था भविष्यत् काल की भी है। हाँ, उसमें भेद यह है कि व्रज भाषा में उसके दोनों रूप मिलते हैं, पर अवधी तथा खड़ी बोली में एक ही रूप मिलता है। यह बात भी नीचे दिए हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एक०						
उ०पु०	चलिष्यामि	चलिस्सामि, चलिहिमि	चलिस्सउँ, चलिहिउँ	चलिहउँ चलूँगो	चलिहउँ	चलूँगा
म०पु०	चलिष्यसि	चलिस्ससि, चलिहिसि	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिह हि	चलेगा

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
अ०पु०	चलिष्यति	चलिसइ चलिहिइ	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि, चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
बहु०						
उ०पु०	चलिष्यामः	चलिस्सामो चलिहिमो	चलिस्सहुँ चलिहिउँ	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे
म०पु०	चलिष्यथ	चलिस्सह, चलिहिह	चलिस्सहु, चलिहिहु	चलिहौ, चलैंगे	चलिहौ	चलोगे
अ०पु०	चलिष्यंति	चलिस्संति, चलिहिंति	चलिस्सहिं चलिहहिं	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे

भूतकाल के रूप सबसे विचित्र हैं। ये सब संस्कृत के कृदंतों से बने हैं; जैसे—संस्कृत चलितः, प्राकृत चलिओ, अपभ्रंश चलिअ से 'चला' बना है। कृदंत होने के कारण ये विशेषणवत् प्रयुक्त होते हैं; इसलिये इनके रूपों में लिंग और वचन के कारण विकार होता है; जैसे—

पुरुष	व्रज भाषा		अवधी		खड़ी बोली	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
एकवचन						
उ० पु०	चल्यो	चली	चलेउँ (चल्यों)	चलिउँ	चला	चली
म० पु०	,,	,,	चलिस, चले (चल्यो)	चलिसि, चली	चले	चली
अ० पु०	,,	,,	चला	चली	चला	चली
बहुवचन						
उ० पु०	चले	चलीं	चलेन्हि	चलीं	चले	चलीं
म० पु०	चले	,,	चलेहु,(चल्यो)	चलिहु, चलिउ	चले	चलीं
अ० पु०	चले	,,	चलेन्हि	चलो	चले	चलीं

ये उदाहरण साधारण भूतकाल के हैं। पर यहाँ यह जान लेना उचित है कि इनका प्रयोग तीन प्रकार से होता है—कर्तरि, कर्मणि और भावे। संस्कृत में 'स चलितः', प्राकृत में 'सो चलिओ', अपभ्रंश में 'सो चलिअ' हुआ, जिससे हिंदी का 'वह चला' बना। यहाँ 'वह' कर्त्ता है और 'चला' कृदंत-क्रिया है। कर्त्ता के अनुशासन में क्रिया के होने से इसका लिंग और वचन कर्त्ता के अनुसार होता है; जैसे—वह चली, वे चलीं। इस प्रकार के प्रयोग को कर्तरि प्रयोग कहते हैं। परंतु यदि क्रिया सकर्मक होती है, तो वहाँ कर्मणि प्रयोग होता है। संस्कृत में 'स मारितः' का अर्थ 'स चलितः' के समान यह नहीं होता कि 'उसने मारा', वरन् उसका अर्थ होता है—

'वह मारा गया'। यदि हम यह कहना चाहें कि 'उसने उसको मारा' तो हमें 'तेन सः मारितः' कहना होगा। यहाँ क्रिया का अनुशासन 'तेन' से न होकर 'सः' से होता है। इसी प्रकार 'वह मारग्रो' का अर्थ 'सः मारितः' के समान होगा। परंतु यदि 'उसने मारा' कहना होगा, तो 'वाने मारग्रो' कहा जायगा। फिर 'वाने मानुस मारग्रो' 'वाने स्त्री मारी' इस प्रकार के प्रयोग होंगे। अतएव यहाँ भी क्रिया का अनुशासन कर्ता नहीं वरन् कर्म करता है। इस प्रकार के प्रयोगों को कर्मणि प्रयोग कहते हैं। परंतु जहाँ कर्म के साथ 'को' विभक्ति लगा दी जाती है, वहाँ क्रिया स्वतंत्र हो जाती है। जैसे—उसने लड़की को मारा। ऐसे प्रयोग भावे प्रयोग कहलाते हैं। सकर्मक क्रियाओं के साथ या तो कर्मणि या भावे प्रयोग होता है और अकर्मक क्रियाओं के साथ कर्तरि प्रयोग। वर्तमान और भविष्य कृदंतों में केवल कर्तरि प्रयोग होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी में कृदंत क्रियाओं का बहुत प्रयोग होता है। इन्हीं से तीनों कालों के रूप बनते हैं और 'है' के रूपों को सहायक बनाकर वर्त्तमान काल और भूत काल में उनका व्यापार स्पष्ट किया जाता है। जैसे—चलता है, चला है, चला था, चलता था। अतएव 'है' क्रिया हिंदी के भूत और वर्त्तमान कालों को सूचित करने के लिये नितांत आवश्यक है।

यह 'है' कहाँ से आया, अब इसका संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

(१) 'है' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई जाती है—एक तो 'भू' धातु से और दूसरी 'अस्' धातु से। 'भू' का प्राकृत और अपभ्रंश में 'हो' होता है; जैसे—भवति का हवइ, हवेइ,

होइ आदि। पर अस् का 'अच्छ' तो होता है, 'अह' नहीं होता। प्राकृतों में थ और ध का तो ह में परिवर्तन हो जाता है, पर स का ह होना नहीं मिलता। साथ ही हिंदी में अहैं, अहेउँ, अहेस, अहो आदि रूप भी मिलते हैं, जो भू, हुव, हुअ से तब तक बने नहीं जान पड़ते, जब तक यह न मान लिया जाय कि हुअ में अ का विपर्यय हो गया है अथवा उसका आगम हुआ है। इस अवस्था में यही मान लेना चाहिए कि भू से आधुनिक हिंदी के 'हो' धातु से ही ये भिन्न भिन्न रूप बने हैं। अथवा जिस प्रकार 'करिष्यति' से > करिस्सदि > करिसइ > करिहइ > करिहै बनने में 'स' का 'ह' हो गया है, उसी प्रकार 'अस्' के 'स' का 'ह' होना मानकर भी इन रूपों की सिद्धि कर सकते हैं।

(२) 'था' के विषय में भी विद्वानों में दो मत हैं। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति स्था धातु से मानते हैं, जिसका प्राकृत और अपभ्रंश में ठा या था रूप हो जाता है। हमारी हिंदी में भी 'स्थान' का 'थान' रूप बनता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह अस् धातु के 'स्थ' रूप से बना है। हमें पहला मत ठीक जान पड़ता है। 'स्था' धातु का सामान्य भूत (लुङ्) में "अस्थात्" रूप होता है। उससे उसी काल का 'था' रूप बड़ी सुगमता से व्युत्पन्न हो सकता है। दूसरा मत इसलिये ठीक नहीं है कि "स्थ" वर्त्तमान काल के मध्यम पुरुष का बहुवचन है। उससे भूतकालिक एकवचन 'था' की उत्पत्ति मानना द्रविड़ प्राणायाम करना है।

(३) गा—संस्कृत के गम् धातु का कृदंत रूप गतः होता है। इसका प्राकृत गओ या गअ होता है। इसी ग + अ = गा

से भविष्यत् काल का चिह्न 'गा' बनता है। 'चलेगा' में 'गा' की क्या करतूत है, सो देखिए। 'चलिष्यति' चलिस्सदि >चलिस्सइ > चलिसइ > चलिहइ > चलिहि > चलिइ > चली (भोजपुरिया) रूप भी बनता है और चलि > चले भी बनता है। यह पिछला 'चले' यद्यपि स्वयं भविष्यत् काल का बोधक है, तथापि इतना घिस गया है कि पहचाना तक नहीं जाता। अतः उसमें 'गा' जोड़कर उसे और व्यक्त बनाते हैं। इस अवस्था में इसका अक्षरार्थ यही हो सकता है कि 'चलने के निमित्त गया'।

हम यहीं पर यह विवेचन समाप्त करते हैं। हमने मुख्य मुख्य बातों का दिग्दर्शन करा दिया। भविष्य की खोज का मार्ग भी जहाँ तहाँ दिखा दिया है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा हिंदी के विकास का रूप साधारणतः उपस्थित कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषाओं के विकास का इतिहास भी बड़ा ही मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। जिस प्रकार जातियों का उत्थान और पतन होता है तथा भिन्न भिन्न अवस्थाओं के प्रभाव में पड़कर वे अपना रूप बदलती और नए वस्त्राभूषणों से आभूषित होती हैं, उसी प्रकार भाषाएँ भी अपने रूप बदलती हैं। भारतवर्ष की भाषाओं के इतिहास की अभी बहुत कम खोज हुई है; पर इसके लिये सामग्री इतनी अधिक उपस्थित है कि एक नहीं सैकड़ों विद्वानों का वर्षों तक सब समय इसके रहस्यों के उद्‌घाटन में लग सकता है। जिस प्रकार भारतीय आर्य जाति प्राचीनता के भव्य भाव से गौरवपूर्ण हो रही है और उसका अभी तक कोई शृंखलाबद्ध पूर्ण इतिहास नहीं उपस्थित हो सका है, उसी प्रकार उसकी

भिन्न भिन्न भाषाओं की आदि से लेकर अब तक की सब ऐतिहासिक श्रृंखलाओं का भी पता नहीं लगा है। आशा है, हिंदी-भाषा के मुख्य मुख्य तथ्यों का यह परिचय इस खोज में प्रोत्साहन देने और इसकी खोज का भावी मार्ग सुगम बनाने में सहायक होगा। भारतीय विद्वान् ही अपनी भाषाओं के तथ्यों और रहस्यों को भली भाँति समझ सकते हैं; अतएव उन्हीं को इस काम में दत्तचित्त होकर अपने गौरव की रक्षा करना और अपनी भाषाओं का इतिहास स्वयं उपस्थित करना चाहिए।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अन्य जन वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर वाणी के मर्मज्ञ वैयाकरण को वाणी सुवसना नव-वधू की भाँति अपने अंग प्रत्यंग दिखला देती है।

हिंदी साहित्य

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं बड़ी उत्सुकता से दूसरे के भावों और विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के संबंध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिर काल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियों का अभिव्यंजन तो मानव समाज अत्यंत प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्‌भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के संबंध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का संतोष, तृप्ति अथवा आनंद मिलता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यों में अभिव्यंजन की शक्ति एक सी नहीं होती और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गंभीरता भी एक सी होती है, परंतु साधारणतः यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा

से ज्ञान और शक्ति के उस भांडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।

साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्य-प्रियता की भावना कह सकते हैं। सौंदर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्‌गारों में "रस" भर देता है जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनंद की उपलब्धि होती है और जिसे साहित्यकारों ने "ब्रह्मानंद-सहोदर" की उपाधि दी है। सौंदर्य-प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानव मात्र के लिये आकर्षक बना देती है। जैसे सब मनुष्यों में मनोवृत्तियों की मात्रा एक सी नहीं होती वैसे ही सौंदर्य-प्रियता की भावना उनमें समान रूप से विकसित नहीं होती, सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्यों में उसके भिन्न भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परंतु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य में उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नहीं लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपों को समझ नहीं सकते।

भाव तथा कलापक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौंदर्य-ज्ञान के सहारे उन्हें सुंदरतम बनाते तथा उनमें एक अद्‌भुत आकर्षण का आविर्भाव करते हैं। इन्हीं दो मूल तत्त्वों के

आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हें हम भाव-पक्ष तथा कलापक्ष कहते हैं। यद्यपि साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है और दोनों के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है तथापि साधारण विवेचन के लिये ये दोनों पक्ष अलग अलग माने जा सकते हैं और इन पर भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनों पक्षों का विकास भी होता जाता है पर उनमें समन्वय नहीं बना रहता। तात्पर्य यह कि दोनों पक्षों का समान रूप से विकास होना आवश्यक नहीं है। किसी युग में भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है। इसलिये साहित्य के इन दोनों अंगों का अलग अलग विवेचन करना केवल आवश्यक ही नहीं वरन् कभी कभी अनिवार्य भी हो जाता है।

भावपक्ष

साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक मात्र है, साथ ही भावपक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है, क्योंकि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ जटिल तथा दुरूह हुआ करती हैं, उनमें शृंखला तथा नियम ढूँढ़ निकालना सरल काम नहीं होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएँ भी बड़ी विचित्र तथा अनोखी हुआ करती हैं।

साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र और अनोखे भावों, विचारों तथा कल्पनाओं आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमें भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएँ होती हैं। साहित्य में जो विचित्रता तथा अनेकरूपता दिखाई देती है उसके मूल में मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हम स्वयं देखते हैं कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। कभी तो हम अनेक अनोखी कल्पनाएँ किया करते हैं और कभी बहुत से साधारण विचार हमारे मन में उठते हैं; कभी हम बातचीत करते हैं और कभी कथा-कहानी कहते हैं; कभी हम जीवन के जटिल तथा गंभीर प्रश्नों पर विचार करते हैं और कभी उसके सरल मनोरंजक स्वरूप की व्याख्या करते हैं; कभी हम आत्मचिंतन में लीन रहते हैं और कभी हमारी दृष्टि समाज अथवा बाह्य जगत् पर आ जमती है। सारांश यह कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य में भी अनेकरूपता दिखाई देती है। साहित्य के कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि जो विभिन्न अंग हैं और इन मुख्य-मुख्य अंगों के भी जो अनेक उपांग हैं, उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों के भी अनेक अंग और उपांग होते हैं तथा उनकी भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन अंगों, उपांगों एवं श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव के मूल में भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य में भी अनेक-रूपता के होते हुए भी भावना-मूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखते हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

जिस प्रकार मनुष्यों में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुंदरतम शृंखला-बद्ध तथा चमत्कार-पूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमें होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल में रहती है और इसी की प्रेरणा से स्थूल, नीरस तथा विशृंखल विचारों को सूक्ष्म, सरस और शृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यों में पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं। अतः शब्दों तथा वाक्यों का निरंतर संस्कार करते रहने तथा उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग तथा भाव व्यंजन की अनेक आलंकारिक प्रणालियों का उपयोग भी साहित्य ग्रंथों की एक विशेषता है। कविता में भावों के उपयुक्त मनोहर छंदों का प्रयोग तो चिर काल से होता आ रहा है और नित्य नवीन छंदों का निर्माण भी साहित्य के कलापक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों का समीकरण, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढ़ियाँ हैं, इस विषय का विस्तृत विवरण रीति-ग्रंथों में मिलता है। संकुचित अर्थ में इसको साहित्य-शास्त्र कहा गया है।

कलापक्ष

इस प्रकार साहित्य के भाव और कलापक्षों का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान

सकते हैं कि साहित्य मनुष्य मात्र के लिये स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूप में वह देश और काल की सीमा से बद्ध नहीं है। यदि हम चाहें तो व्यापक दृष्टि से विश्व भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं और स्थूल रूप से संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों अथवा साहित्य-निर्माताओं की विभिन्न श्रेणियाँ भी निरूपित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तुलना संस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि से कर सकते हैं और कालिदास तथा शेक्सपियर को उत्कृष्ट नाटक-कारों की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्ण्य विषयों के आधार पर जायसी तथा उमर खैयाम आदि प्रेमप्रधान कवियों की एक श्रेणी होगी; और देव, बिहारी, मतिराम आदि हिंदी के शृंगारी कवि संस्कृत के अमरुक आदि कवियों की कोटि में रखे जायँगे। भावपक्ष की इस समता के साथ कविता के कलापक्ष की तुलना भी विश्वव्यापक दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरणार्थ केशवदास जैसे कलाप्रधान कवि की तुलना अँगरेज कवि पोप अथवा ड्राइडेन से की जा सकती है; और कबीर जैसे अव्यवस्थित भाषा तथा छंदों के प्रयोग करनेवाले कवि की समता ब्राउनिंग आदि से हो सकती है।

विश्व साहित्य

यह सब होते हुए भी हमको यह मानना पड़ता है कि साहित्यिक विवेचन का यह ढंग बहुत ही साधारण कोटि का है, इसमें न तो किसी शृंखला का ठीक ठीक पता लग सकता है और न गंभीर विचारों का समावेश ही हो सकता है। केवल प्रेरक प्रवृत्तियों अथवा वर्णित विषयों के आधार पर यह कह देना कि होमर और वाल्मीकि एक ही श्रेणी के कवि हैं

अथवा शेक्सपियर और कालिदास एक ही श्रेणी के नाटककार हैं, आलोचना की दृष्टि से कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। फिर साहित्य का इतिहास लिखनेवाले के लिये तो इन बातों की और भी कम उपयोगिता होती है। इतिहासलेखक का काम केवल इस प्रकार के समता-मूलक श्रेणी-विभाग ही से नहीं चल सकता। उसे वैषम्य की ओर भी ध्यान देना पड़ता है तथा उसके कारणों का अनुसंधान करना पड़ता है। वैषम्य का तब तक ठीक ठीक पता नहीं लग सकता जब तक इतिहास-लेखक विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालों की साहित्यिक प्रगति का समुचित अन्वेषण न करे और साहित्य की जातिगत, देशगत तथा कालगत विशेषताओं से भली भाँति परिचित न हो।

भौगोलिक कारणों से हो अथवा जलवायु के फल स्वरूप हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अँगरेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके संबंध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप ही कुछ विभिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फलस्वरूप उनके स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह संभव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर सामयिक जातीय आदर्शों से बहुत ऊँचे उठ जाय अथवा उनके विपरीत पथ का अनुसरण करे, परंतु साहित्य के साधारण

जातीय साहित्य

विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है; और इसका एक कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतंत्र देश का अपना स्वतंत्र साहित्य तथा अपनी स्वतंत्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतंत्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं, हमें वर्त्तमान स्थिति की इतनी चिंता कभी नहीं हुई जितनी भविष्य की चिंता रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं में आदर्श-वादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिंब मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहि-त्यिक विशेषताओं के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेष-ताएँ सदा सर्वदा पुरातन आधारों पर ही स्थित रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में

परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नए आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारणविशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नए आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिये आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ समय समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिये नए आदर्शरूपी स्रोतों का उसमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परंपरागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धांत सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रूमीन ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

"भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक ठीक समझनेवाले हैं और न उसका यथोचित सम्मान करनेवाले हैं। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भारतीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतंत्र शैलियों को भूले जा रहे हैं।

"आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्नश्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिये यूरोप भेजने का प्रबंध करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता"।

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है।

हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता

हम यह जानते हैं कि हिंदी साहित्य का वंशगत संबंध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिंदी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिंदी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्यजाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परंपरागत संपत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिंदी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता

इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसी लिये नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा

हिंदी की विशेषताएँ

की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

भरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अननुभूत आनंद की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिये वह निराशा तथा संताप का युग था, परंतु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी अनादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है परंतु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय वाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिये साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन

साधना के उपरांत अस्थिपंजर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय वाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों

के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतार-वाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिंदी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परंतु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिंदी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है, परंतु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग

रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृंगारी कवियों की कविता के रूप में। हिंदी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधा-कृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं परंतु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से ही संतोष करके उसकी दो एक देशगत

विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्बरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ

भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिर काल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिये आकर्षक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता की कल्पना कर लेते हैं, परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी

हिंदी की देशगत विशेषताएँ

लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुरम्य गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिये जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल-वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस हैं। काव्यजगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न

होते हैं। इसे हम प्रकृतिसंबंधी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ

हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ

स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्दसंघटन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परंतु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक विभेद हुए हैं परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिये वर्णात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।*

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्व-पूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिये हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीत शास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्यरचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छंदसमुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह

* आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं परंतु ऐसी रचनाओं का अभी प्रारंभ ही हुआ है।

भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के संबंध में यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परंतु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें क्रियाओं के सूक्ष्म विभेदों तथा अनेक वस्तुओं के आकार-प्रकार तथा रूपरंग-संबंधी छोटे-छोटे अंतरों को व्यंजित करने की अधिक क्षमता नहीं है। सूर्य, चंद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-हृदयों को स्पर्श करनेवाली वस्तुओं के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिससे उनके समयोचित उपयोग में बड़ी सुगमता होती है और जिससे काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदों अथवा पक्षियों के उड़ने के अनेक स्वरूपों के व्यंजक शब्द हिंदी में नहीं मिलते। खड़ी बोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और "सरसाना" "विकसाना" आदि व्रज भाषा के रूपों को भी खड़ी बोली में लेने लगे हैं। हिंदी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परंतु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। संस्कृत के स्त्रीलिंग "देवता" को हिंदी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म"

हिंदी का शब्द-समूह

तथा "कार्य" को हिंदी में "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी कभी तो हम अपने "स्वभाव-वैषम्य" के कारण शब्दों की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं। प्रातः-कालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द में है, हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय-द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कहलाएगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अंतर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्द-कोश बहुत कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं। कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

हिंदी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और

अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परंतु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक विभिन्न शाखा भी हो गई जिसका विकास निरंतर होता रहा। हिंदी साहित्य के विकास के काल में "देशी" संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिनियों के अनेक भेदों का ठीक ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें हुआ है वैसा अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ।

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिंदी साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिनकी छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी साहित्य के प्रारंभिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्रंथों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका

हिंदी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिये असंभव सा था। वे नियम भी ऐसे वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं-कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्हीं के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक सी गई थी और तत्कालीन संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र को भी नहीं रह गया था। संस्कृत कविता अलंकारों से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिंदी के स्वतंत्र विकास में संस्कृत के इस स्वरूप ने बड़ी बड़ी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम स्वरूप हिंदी काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित हो गया; और दूसरे हिंदी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बहुत दिनों तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिंदी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिंदी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परंपरा के समाप्त होते ही हिंदी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे, जिसके फलस्वरूप भाषा में तो सरलता तथा प्रौढ़ता आ गई, परंतु भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिंदी साहित्य का संपूर्ण युग अशांति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिंदी के प्रारंभिक काल में देश स्वतंत्र अवश्य था, परंतु उस समय तक उसकी स्वतंत्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका

था। देश के लिये वह हलचल तथा अशांति का युग था। उसके उपरांत वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतंत्रता नष्ट हो गई और देश के अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक थोड़े बहुत अंतर से वैसी ही परिस्थिति बनी है। हमारे संपूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी सी अंतर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिंदी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। परतंत्र देश और कर ही क्या सकता था?

प्रगतिशील साहित्य

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिंदी साहित्य का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है; अथवा अधिक नहीं तो उसकी कुछ स्थायी विशेषताओं का ही ज्ञान हो सकता है, परंतु केवल कुछ विशेषताओं के प्रदर्शन से, साहित्य की आंशिक झलक दिखा देने से ही, साहित्य का इतिहास संपन्न नहीं हो सकता। उपर्युक्त बातें तो केवल एक सीमा तक उसके उद्देश की पूर्ति करती हैं। किसी साहित्य के इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल संबंधी आंदोलनों के उस पर कैसे कैसे प्रभाव पड़े, किन किन व्यक्तियों की प्रतिभा ने उसकी

कितनी और कैसी उन्नति की, आदि आदि अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है। ऊपर के विवेचन में साहित्य के जिस अंग पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है, वह प्राय: उसका स्थिर अंग है, परंतु उसका प्रगतिशील अंग भी होता है और यह प्रगतिशील अंग ही विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है। जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती हैं, साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है। हिंदी साहित्य की भी बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था रही है। देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक आदि आंदोलनों से उसके स्वरूप में बड़े बड़े परिवर्तन उपस्थित हुए हैं और कभी कभी तो उसकी अवस्था बिलकुल और की और हो गई है।

हिंदी साहित्य का कालविभाग

यदि हम विगत नौ सौ वर्षों की हिंदी साहित्य की प्रगति का सिंहावलोकन करें तो कालक्रमानुसार उसके अनेक विभाग दिखाई देंगे। उसके प्रारंभिक काल में वीर गाथाओं तथा अन्य प्रकार की वीरोल्लासिनी कविताओं की प्रधानता दिखाई देती है, यद्यपि उस काल की कविता में शृंगार अथवा प्रेम की भी झलक पाई जाती है, तथापि वे वीरता की पुष्टि के लिये आए हैं, स्वतंत्र रूप में नहीं। जब जब वीरों को वीरता अथवा साहस का प्रदर्शन करना होता था, तब तब कविगण शृंगार की किसी मूर्तिमती रमणी की भी आयोजना कर लेते थे और उसके स्वयंवर आदि की कल्पना

द्वारा अपनी वीरगाथाओं में अधिक रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न करते थे। यही उस काल की विशेषता थी। इसके उपरांत हिंदी साहित्य अपने भक्तियुग में प्रवेश करता है और उसमें वैष्णव तथा सूफी काव्य की प्रचुरता देख पड़ती है। रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवियों का यही युग हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है। इसमें हिंदी कविता भावों और भाषा दोनों की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई थी। हिंदी कविता की इस अभूतपूर्व उन्नति के विधायक कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूर आदि महाकवि हो गए हैं जिनकी यशोगाथा हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर हो गई है। इस युग के समाप्त होने पर हिंदी में शृंगारी कविता की अधिकता हुई और रीति-ग्रंथों की परंपरा चली। हमारे साहित्य पर मुगल साम्राज्य की तत्कालीन सुख-समृद्धि तथा तत्संभव विलासिता की प्रत्यक्ष छाप दिखाई देती है। कला-कौशल की अभिवृद्धि के साथ साथ हिंदी कविता में भी कलापक्ष की प्रधानता हो गई और फारसी-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य के पिछले स्वरूप के परिणाम में हिंदी में मुक्तक काव्य की अतिशयता देख पड़ने लगी। यद्यपि इस युग में शुद्ध प्रेम का चित्रण करनेवाले रसखान, घनानंद तथा ठाकुर आदि कवि भी हुए और साथ ही भूषण आदि वीर कवियों का भी यही युग था, तथापि इसके प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी तथा पद्माकर आदि ही कहलाएँगे। इनकी परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही। अंत में भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्याकाश में उदित होते ही हिंदी में एक नवीन प्रकाश फैला। यद्यपि इसकी सर्व-प्रधान विशेषता गद्य साहित्य का विकास मानी जा सकती है पर यह

नवीन प्रकाश सर्वतोमुखी था। इस युग के साहित्य में पश्चिमीय प्रणालियों तथा आदर्शों की बहुत कुछ छाप पड़ी है और हिंदी एक नवीन रूप में ढल गई सी जान पड़ती है। हिंदी ही क्यों, अन्य भारतीय भाषाएँ भी बहुत कुछ पाश्चात्य भावों के योग में प्रगतिशील हो रही हैं। इसे हम नवीन विकास का युग मान सकते हैं। अतएव हम हिंदी साहित्य का कालविभाग संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं—

आदि युग (वीरगाथा का युग-संवत् १०५० से १४०० तक)
पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग-संवत् १४०० से १७०० तक)
उत्तर मध्य युग (रीति-ग्रंथों का युग-संवत् १७०० से १९०० तक)
आधुनिक युग (नवीन विकास का युग-संवत् १९०० से अब तक)।

परंतु उपर्युक्त कालविभाग तथा प्रत्येक काल की विशेषताओं के प्रदर्शन से हमारा यह आशय नहीं है कि एक काल के समाप्त होते ही काव्य-धारा दूसरे दिन से ही दूसरी दिशा में बहने लगी और न यही अभिप्राय है कि उन विभिन्न कालों में अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नहीं। ऐसा समझना तो मानों साहित्य को गणितशास्त्र की श्रेणी में मान लेना होगा; और साथ ही कवियों के उस व्यक्तित्व का अपमान करना होगा जो देश तथा काल के परे है। साहित्य पर काल का प्रभाव पड़ता अवश्य है, परंतु विभिन्न कालों का परिवर्तन बहुधा आकस्मिक हुआ करता है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ धीरे धीरे बदलती हैं, एक ही दिन में वे परिवर्तित नहीं हो जातीं। इसी प्रकार काव्यधारा भी धीरे धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती तथा नवीन रूप धारण करती है, वह कभी एक दम से नया

काल विभाग की त्रुटियाँ

मार्ग नहीं ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है कि सामाजिक आदि स्थितियों के बदलते ही तुरंत बदल जाय। कभी कभी तो साहित्य ही आगे बढ़कर समाज का नियंत्रण करता है और उसे नए मार्ग पर लाता है, साथ ही यह भी सत्य है कि किसी किसी काल में सामाजिक अथवा राजनीतिक आदि स्थितियों के सुधर जाने पर भी साहित्य पिछड़ा ही रहता है और बड़ी कठिनता से समाज के साहचर्य में आता है, उसके अनुकूल होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियों से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है परंतु वह संबंध ऐसा यांत्रिक तथा कठोर नहीं होता कि साहित्य उन स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतंत्र रीति से उसका विकास न हो सके।

साहित्य के इतिहास में कालविभाग कर लेने से उसकी विभिन्न कालों की स्थिति समझने में सुगमता तो अवश्य होती है, परंतु साथ ही यह बात भी न भूल जानी चाहिए कि साहित्य एक वैयक्तिक कला है; और प्रत्येक बड़े साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ होती हैं। यद्यपि ये विशेषताएँ देश और काल से बहुत कुछ निरूपित होती हैं, तथापि इनमें साहित्यकार के व्यक्तित्व की भी छाप होती है। प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवि अथवा लेखक कभी कभी स्वतंत्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना ही अधिक स्वतंत्र तथा मौलिक विचारवाला होता है, वह समाज की लकीर पर

चलना उतना ही अधिक अस्वीकृत कर देता है और उतना ही अधिक वह साहित्य के साधारण प्रवाह से दूर पहुँच जाता है। हिंदी के प्रमुख वीर कविताकार "भूषण" ने देश भर में विस्तृत रूप में व्याप्त शृंगार-परंपरा के युग में जिस स्वतंत्र पथ का अवलंबन किया उससे हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष रीति से समर्थन होता है। ऐसे अन्य उदाहरण भी उपस्थित किए जा सकते हैं पर ऐसा करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साहित्य-कला की यही विशेषता देखकर साहित्य के कुछ इतिहासलेखक उसका कालविभाग न करके उसके मुख्य मुख्य कवियों तथा लेखकों को ही कालनायक मान लेते तथा उन्हीं के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हैं।

त्रुटियों का प्रतिकार

परंतु मेरे विचार से मध्यम पथ का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। यह पथ ग्रहण करने से एक ओर तो हम साहित्य पर काल की अनेक स्थितियों का प्रभाव दिखला सकेंगे और दूसरी ओर साहित्यकारों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रदर्शन भी कर सकेंगे। वास्तव में साहित्य के इतिहास का सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि स्थितियों से उसके संबंध का निरूपण होता जाय; साथ ही उसकी वे विशेषताएँ भी स्पष्ट होती जायँ जो प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवियों और लेखकों से उसे प्राप्त होती हैं। इस पुस्तक में इसी शैली के अनुकरण का प्रयत्न किया जायगा।

दूसरा अध्याय

भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ

हम पहले अध्याय में यह कह चुके हैं कि देश और काल से साहित्य का अविच्छिन्न संबंध है, और प्रत्येक देश के विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि स्थितियों का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है। जिस प्रकार साहित्य-कला में देशगत और कालगत भेद होते हैं, उसी प्रकार अन्य ललित कलाएँ भी देश और काल के अनुसार अपना रूप बदला करती हैं। साहित्य का विकास ठीक-ठीक तभी हृदयंगम हो सकेगा जब अन्य ललित कलाओं के विकास का इतिहास भी जान लिया जाय और उनके विकास का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जाय। अतः हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास लिखने से पहले उत्तर भारत की उन राजनीतिक और सामाजिक आदि प्रगतियों का जान लेना भी आवश्यक है जिनसे प्रभावान्वित होकर हिंदी साहित्य पुष्पित और पल्लवित हुआ है, और जो उसके विकास में सहायक हुई हैं। इसी प्रकार वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की प्रगति भी समझ लेनी होगी, क्योंकि साहित्य कला भी इन्हीं में से है और उनमें सबसे ऊँचे स्थान की अधिकारिणी है। अतएव इस अध्याय में हम उत्तर भारत की राजनीतिक सामाजिक सांप्रदायिक तथा धार्मिक आदि अवस्थाओं का संक्षेप में और अगले

अध्याय में उस काल की ललित कलाओं का दिग्दर्शन करावेंगे। हिंदी साहित्य के विकास से ठीक ठीक परिचित होने के लिये उपर्युक्त दोनों बातों का ज्ञान लेना बहुत आवश्यक है।

पूर्वाभास

उत्तर भारत में हर्षवर्द्धन अंतिम हिंदू सम्राट् हुआ जिसने अपने प्रभाव, बल और शौर्य से समस्त उत्तरापथ में अपना एकाधिपत्य स्थापित किया और जो अपनी धर्मबुद्धि तथा शासननीति के कारण प्रजा को सुख-समृद्धि-पूर्ण करके देश के महान् शासकों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुआ। उसके शासनकाल में भारत ने वह शांति और सुव्यवस्था पाई थी जो उसे विशाल मौर्य तथा गुप्त साम्राज्यों में ही मिली थी। उस काल के चीनी यात्री हुएन्सांग के वर्णनों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का जो दिव्य चित्र दिखाई पड़ता है, इस देश के इतिहास में उसकी समता कठिनता से मिल सकती है। धार्मिक अवस्था भी बहुत ही संतोषजनक थी। यद्यपि बौद्ध धर्म अपनी चरम उन्नति के उपरांत शिथिल पड़ता जा रहा था और वैदिक ब्राह्मण धर्म की फिर से प्रतिष्ठा होने लगी थी, पर यह कार्य बड़ी ही शांति के साथ, विप्लव विद्रोह रहित रूप में हो रहा था। हर्षवर्द्धन स्वयं धर्मप्राण नृपति था; पर उसमें वह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नहीं थी जिससे क्रांति और हिंसा को प्रश्रय मिला करता है। तर्क और बुद्धि की महत्ता से अपने अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार सबको था, और राज्य की ओर से भी समय समय पर ऐसी धार्मिक सभाएँ हुआ करती थीं, पर उनमें पक्षपात या विद्वेष का भाव नहीं रहता था। इस प्रकार की धार्मिक उदारता हर्षवर्द्धन की

उन्नति का मुख्य कारण थी। प्रजा भी उसकी उदार नीति और सुचारु शासन से प्रसन्न होकर राजभक्त बनी थी। सारांश यह कि क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी दृष्टियों से हर्षवर्द्धन का शासनकाल देश के लिये बहुत ही कल्याणकर हुआ और उसमें भारत के धन वैभव की भी विशेष वृद्धि हुई।

आदि काल

हर्षवर्द्धन की मृत्यु विक्रम संवत् ७०४ में हुई। इसके पीछे का भारतवर्ष का इतिहास आपस के लड़ाई झगड़ों का इतिहास है। हर्ष की मृत्यु के साथ ही हिंदुओं के अंतिम साम्राज्य का अंत हो गया और देश खंड खंड होकर विभिन्न अधिपतियों के हाथों में चला गया। हर्ष के साम्राज्य के भिन्न भिन्न अंशों पर अनेक खंड-राज्य स्थापित हुए जो आधिपत्य के लिये आपस में लड़ते रहे। इनमें मुख्य तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य और चंदेल थे। इनकी राजधानियाँ दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार और कालिंजर में थीं। हमारे हिंदी साहित्य का इतिहास उस समय से आरंभ होता है जब ये राज्य स्थापित हो चुके थे।

सांस्कृतिक स्थिति

यद्यपि मुसलमानों का भारतवर्ष में पहले पहल आगमन खलीफा उमर के समय में संवत् ६९३ में हुआ था और इसके अनंतर सिंध पर निरंतर उनके आक्रमण होते रहे थे, पर ये आक्रमण लूट पाट के उद्देश से होते थे, राज्य स्थापन की कामना से नहीं होते थे। पीछे से ये लोग यहाँ बसने और जीते हुए प्रदेश पर अपना शासनाधिकार जमाने के अभिलाषी

हुए। कुछ राजवंश मुलतान, मनसूरा आदि में स्थापित हुए और सैयदों ने सिंधु तटों के प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। इस प्रदेश पर मुसलमानों के इन आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपने शासन के जो कुछ चिह्न छोड़े, वे बड़ी बड़ी इमारतों के भग्नावशेष मात्र हैं, जो आक्रमणकारियों की क्रूरता और अत्याचार के स्मारक स्वरूप अब तक वर्तमान हैं। उन मुसलमानों का भारतीयों की संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, पर यहाँ की संस्कृति के प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। इस संबंध में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद अपने मध्यकालीन भारत के इतिहास में लिखते हैं—

"यह निस्संकोच होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि सिंध पर अरबों की विजय इस्लाम के इतिहास में कोई विशेष महत्त्व-पूर्ण राजनीतिक घटना नहीं है, परंतु इस विजय का मुसलमानों की संस्कृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जब अरब भारत-वर्ष में आए तब वे इस देश की उच्च सभ्यता देखकर चकित हो गए। हिंदुओं के उच्च दार्शनिक सिद्धांत तथा उनकी बुद्धि की तीव्रता और पांडित्य आदि देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। मुसलमानों का सर्वश्रेष्ठ धार्मिक सिद्धांत एक ईश्वर की कल्पना है, पर यह तो हिंदू महात्माओं और दार्शनिकों को बहुत पहले से मालूम था। उच्च कलाओं में हिंदू बहुत बढ़े चढ़े थे। भारतीय संगीतज्ञ, वास्तुकलाकार तथा चित्र-कार भी अरबों की दृष्टि में उतने ही आदरणीय थे जितने भारतीय दर्शनशास्त्री और पंडित थे। राज्यशासन-नीति आदि व्यावहारिक विषयों में अरबों ने हिंदुओं से बहुत कुछ सीखा। उच्च पदों पर ब्राह्मणों को नियुक्त किया जाता था।

इसका कारण यही था कि वे ज्ञान में, अनुभव में और कार्य-कुशलता में अधिक दक्ष थे। अरब संस्कृति के अनेक अवयव, जिन्हें युरोप ने प्रचुरता से ग्रहण किया था, भारत से ही प्राप्त हुए थे। उस समय भारतवर्ष बुद्धि के ऊँचे धरातल पर स्थित था और अनेक यवन विद्वान् भारत के बौद्ध तथा ब्राह्मण पंडितों से दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा रसायन आदि विद्याएँ सीखते थे। बगदाद के तत्कालीन दरबार में भारतीय पंडितों का सम्मान होता था और खलीफा मंसूर (संवत् ८१०-३१) के समय में भारत से कुछ अरब विद्वान् ब्रह्मगुप्त-रचित ब्रह्मसिद्धांत और खंड-खाद्यक नामक ग्रंथ ले गए थे। इन्हीं पुस्तकों से पहले पहल अरबों ने ज्योतिष शास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों को समझा था। खलीफा हारूँ (८४३–८६५) के वजीरों से, जो बरमक वंशीय थे, हिंदुओं की विद्या को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यद्यपि बरमक परिवार ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया था, फिर भी वे उसमें विशेष अनुरक्त नहीं थे। हिंदू धर्म की ओर प्रवृत्ति होने के कारण उन्होंने अरब के अनेक विद्वानों को आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि, तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत में भेजा था। परंतु यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि मुसलमानों ने भारत से प्राप्त ज्ञान को लौकिक आवरण देकर युरोप के सामने एक नवीन रूप में रखा। युरोपीय विचारों के लिये यह उपयुक्त भी सिद्ध हुआ। हैवेल साहब के इस विचार का समर्थन करने को अनेक प्रमाण हैं कि इसलाम की किशोरावस्था में उसे भारत ने ही शिक्षा दी थी, यूनान ने नहीं। भारत ने ही उसके दर्शन-तत्त्व निरूपित किए थे और प्रेम-

विशिष्ट धार्मिक आदर्शों को स्थिर किया था। भारत की ही प्रेरणा से मुसलमानों के साहित्य-कला और शिल्प आदि को सुचारु स्वरूप मिले थे।"

परंतु संस्कृति की दृष्टि से हिंदुओं पर विजय न पा सकने पर भी धीरे धीरे मुसलमानों का आतंक बढ़ता गया और उनके आक्रमण बहुत कुछ दृढ़ और नियमित हो गए। हिंदू बिलकुल निर्बल नहीं थे, उनकी सेनाएँ बलवती थीं, पर दार्शनिक वाद विवाद और अहिंसा आदि पर विश्वास करनेवाली जाति बहुत दिनों तक अपनी रक्षा नहीं कर सकती। यद्यपि उस समय हिंदुओं के वर्णभेद के कारण आजकल का सा जातीय कट्टरपन नहीं आ सका था, परंतु संघटित होकर यवन-शक्ति का विरोध करने में हिंदुओं की समस्त शक्ति एकत्र नहीं हो सकती थी। ब्राह्मणों में शैव शाक्त आदि विभेद भी हो चले थे और क्षत्रियों में तो आपस की छीना झपटी लगी ही थी। इस प्रकार जातीय शक्ति विशृंखल होकर पराधीनता की बेड़ी पहनने को तैयार हो गई थी।

इसी समय गजनी के सुलतान महमूद के प्रसिद्ध आक्रमण प्रारंभ हुए। देश का अनंत धन जन छीना गया। मंदिर तोड़े गए, कला के सुंदरतम निदर्शन नष्ट कर दिए गए। फिर भी राजपूत राजों की नींद न खुली, उनका आपस का विद्वेष बना ही रहा। अंत में जब गजनी साम्राज्य के उखड़ जाने पर गोर प्रदेश के अधिपति ने यवन शक्ति का नवीन संघटन किया तब मुसलमानों की नीति में बिलकुल परिवर्तन हो गया। इसके पहले उनके आक्रमणों का मुख्य उद्देश लूट-मारकर काफिरों को तंग करना

राजनीतिक अवस्था

और इस देश की अतुल धन संपत्ति को विदेश ले जाना तथा यहाँ के निवासियों को गुलाम बनाना था, पर अब वे भारत पर राजनीतिक आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करने लगे। मुहम्मद गोरी ने पहले तो पंजाब प्रदेश का एक विस्तृत भूभाग हस्तगत किया और फिर उत्तर भारत के प्रसिद्ध राजपूत राज्यों पर चढ़ाई करने का आयोजन किया। हिंदू शक्ति दिल्ली के प्रसिद्ध चौहान अधिपति पृथ्वीराज की अध्यक्षता में एक बार जागी और गोरी को अनेक बार हारकर भागना और कैद होना पड़ा, पर बंधुभाव-समन्वित यवन सेना के सामने हिंदू बहुत समय तक नहीं ठहर सके। पारस्परिक झगड़ों में ही उनका बहुत कुछ ह्रास हो गया था। फलतः मुहम्मद गोरी ने संवत् १२४६ में प्रसिद्ध तराई की लड़ाई में हिंदुओं को पराजित कर दिया। यवन घुडसवारों का वह पराक्रम हिंदुओं को हताश करने में सहायक हुआ। इसके उपरांत क्रमशः कन्नौज आदि के विस्तृत हिंदू राज्य भी मुसलमानों ने पादाक्रांत किए और थोड़े समय में ही पंजाब से लेकर बंगाल तक यवन झंडा फहराने लगा। कन्नौज के तत्कालीन नरेश जयचंद ने मुहम्मद गोरी से मिलकर पृथ्वीराज को हराने का षड्यंत्र रचा था, अतः इतिहास में उसका नाम राष्ट्र के साथ विश्वासघात करनेवालों की श्रेणी में लिखा गया है। पर वास्तव में सारी जाति को ही भारत का स्वातंत्र्य खोने का अपराधी मानना अधिक उचित होगा। जयचंद की प्रवृत्ति उस समय के समस्त खंडाधिपतियों की प्रवृत्ति हो रही थी, नहीं तो एक जयचंद के विश्वासघात से समस्त देश का पराजित होना कभी संभव नहीं था।

यद्यपि देश ने अपनी स्वतंत्रता खोकर उन समस्त संकटों का सामना किया जो एक परतंत्र देश को करने पड़ते हैं, पर मुसलमानों के शासन से कुछ लाभ भी हुए। यह ठीक है कि हिंदू आत्मसम्मान खो बैठे, उनके गौरव का ह्रास हो गया और विजातीय तथा विधर्मी शासन के प्रतिष्ठित होने के कारण यहाँ की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा, परंतु जो जाति क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर अपनी राष्ट्रीयता का अनुभव नहीं कर सकती, उसे ऐसा ही फल मिलता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मुसलमानों के राज्य स्थापन के उपरांत उनकी भाषा और उनके धर्म का प्रचार भी हुआ, और कुछ निरंकुश शासकों ने तलवार के बल से धर्म का प्रचार किया और यहाँ की समाजनीति को उलट-पुलट डालने में पाशविक बल की सहायता ली। समाजनीति के सुव्यवस्थित संचालन के लिये जिस अनुकूल राजशक्ति तथा अन्य वातावरण की आवश्यकता होती है, हिंदुओं को वह बहुत कम प्राप्त हुई, फलतः उनके सामाजिक बंधन बहुत कुछ शिथिल और अनियमित हो गए। परंतु साथ ही हमको यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यवन शासन के स्थापित हो जाने पर एक सीमा तक उस सुख और समृद्धि का काल आया जो विशाल साम्राज्यों में ही प्राप्त हो सकता है, टूटे फूटे और संघर्षपूर्ण खंड राज्यों में नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त नवीन यवनशक्ति में जो सजीवता और उत्साह था, उससे यहाँ के वायुमंडल को एक अभिनव चेतना मिली और अनेक क्षेत्रों में नवीन प्रगति का आरंभ हुआ। मुसलिम कला के संयोग से भारतीय कला एक नए साँचे में ढली और मुसलमानों की

बाहरी "तहजीब" (शिष्टता) का भी हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। अरबी भाषा का एक अच्छा साहित्य था, जिसे यहाँ के निवासियों ने थोड़ा बहुत ग्रहण किया। आज हम साधारण बोल-चाल में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसमें मुसलमानों की अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों का भी कम मेल नहीं रहता।

सामाजिक अवस्था

जिस समय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ रहा था और उनके आक्रमण तथा राज्य-स्थापन के कार्य शीघ्रता से चल रहे थे, उस समय भारत की धार्मिक परिस्थिति तथा सामाजिक अवस्था में भी परिवर्तन हो रहा था। हम पहले ही कह चुके हैं कि हर्षवर्द्धन के समय से ही बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। ह्रास के कई कारण बतलाए जाते हैं; परंतु उसकी अवनति का प्रधान कारण बुद्ध के उपदेशों का लोक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकना ही था। वे उपदेश केवल वैयक्तिक साधना के उपयुक्त थे और उन्हें समाज ग्रहण नहीं कर सका। बौद्ध धर्म जिन उच्च आदर्शों पर अधिष्ठित है, साधारण जनता उनका पालन न कर सकी। तत्कालीन संघों में अनाचार बढ़ने लगा और स्थविर भी विलासी और धनलोलुप हो गए। यह बुद्ध के उपदेशों के सर्वथा विपरीत था। बुद्ध ने जिस सरल और त्यागपूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित किया था, वह उनके अनुयायियों में प्रतिष्ठित न हो सका। उसी अवसर पर क्षत्रिय नृपतियों की उग्र मनोवृत्तियों के सामने बौद्ध अहिंसा-वाद ठहर न सका और उसके अनुयायी कम होने लगे। ऐसी परिस्थिति में महात्मा शंकर का आविर्भाव हुआ, जिनकी

तीव्र विवेचन शक्ति और अद्भुत ज्ञान का सहारा पाकर हिंदू धर्म नव जीवन प्राप्त करके जाग उठा। शंकर स्वामी के प्रसिद्ध दिग्विजय के फलस्वरूप बौद्ध धर्म का समस्त उत्तर भारत से उन्मूलन हो गया और उसे विहार के कुछ विहारों में ही शरण लेनी पड़ी। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के मध्य में जब मुसलमानों का आक्रमण विहार पर हुआ तब रहे सहे बौद्ध भी लुप्त हो गए और इस प्रकार इस देश में उस धर्म का अस्तित्व ही प्रायः मिट सा गया जो किसी समय देशव्यापी हो रहा था। वैदिक हिंदू धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा हो जाने पर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक संप्रदाय भी चल निकले, जिनमें पारस्परिक स्पर्द्धा रहती थी। तत्कालीन राजपूतों की मनोवृत्ति की सहायता से शैव तथा शाक्त संप्रदायों की ही विशेष अभिवृद्धि हुई थी।

तत्कालीन समाज में क्षत्रियों का प्राबल्य था, ब्राह्मण पूज्य अवश्य समझे जाते थे, पर उनकी श्रेष्ठता कम हो चली थी। वह राजपूतों का उत्थान काल था। राजपूत सरल प्रकृति के परंतु शक्तिसंपन्न और वीर योद्धा थे। उनकी उदारता भी कम प्रसिद्ध न थी। वे अपनी स्त्रियों का विशेष सम्मान करते थे और उनकी वीर रमणियाँ भी अपने पूज्य पतियों के लिये प्राणों तक का मोह नहीं करती थीं। जौहर की प्रथा तब तक प्रचलित थी जिससे तत्कालीन राजपूत वीरांगनाओं के पतिपरायणा होने का उज्ज्वल परिचय मिलता है। परंतु राजपूतों में बहुत से अवगुण भी थे जिनके कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई। वे क्रोधी थे, और छोटी छोटी बातों में उबल पड़ते थे। वैयक्तिक स्पर्द्धा से अंधे होकर जाति और राष्ट्र

के लाभों को वे विस्मृत कर देते थे, संघटित होकर विपत्तियों का सामना करना उन्हें आता ही नहीं था। यह ठीक है कि वीसलदेव, पृथ्वीराज, हम्मीरदेव, तथा राणा सांगा जैसे वीर राजपूत भी हुए जिन्हें देश के गौरव का विशेष ध्यान रहता था, पर अधिकांश राजपूत राजाओं में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। प्रजा भी तत्कालीन राजनीतिक उलट फेर में पड़कर अपना ध्येय निरूपित न कर सकी। फलतः उसमें भी कलह और विद्वेष का विष व्याप्त हो गया। जातीय पतन का यह बहुत ही भीषण काल था।

उस समय के प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासलेखक अल-बैरुनी के अनुसार भारतवर्ष में काश्मीर, दिल्ली, सिंध, मालवा तथा कन्नौज आदि प्रसिद्ध राज्य स्थापित थे। समाज में गोत्र, प्रवर आदि के अनुसार जाति पाँति के झगड़े बढ़ रहे थे। चार वर्णों के स्थान पर अनेक उपजातियाँ हो गई थीं जो परस्पर खान पान और विवाह आदि का संबंध नहीं रखती थीं। बाल-विवाह की प्रथा थी, पर विधवाविवाह का निषेध था। ब्राह्मण मद्यप नहीं थे। अंत्यज आठ प्रकार के होते थे जिनमें पारस्परिक विवाहसंबंध होता था। उच्च वर्ण इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे पर इसलाम धर्म के साथ साथ समानता के सिद्धांत का प्रचार हुआ और अंत्यजों के प्रति उच्च वर्णों के व्यवहार में भी परिवर्तन हुए।

पूर्व मध्य काल

मुहम्मद गोरी के उपरांत दिल्ली का शासनाधिकार क्रमशः गुलाम, खिलजी तथा तुगलक राजघरानों के हाथ में रहा। यद्यपि इन राजवंशों ने कई सौ वर्षों तक भारत के विस्तृत

भूभाग पर शासन किया, पर इस समय कोई सुव्यवस्थित शासननीति आविर्भूत न हो सकी। विभिन्न अधिपति अपनी अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार राज्य करते थे और प्रजा को उनकी नीति स्वीकृत करनी पड़ती थी। उस काल में यद्यपि मुसलमानों के पैर इस देश में अच्छी तरह जम गए थे और उन्हें यहाँ से निकाल बाहर करने की शक्ति हिंदुओं में नहीं रह गई थी, पर फिर भी हिंदुओं ने उस समय तक विदेशीय शासन एक दम स्वीकृत नहीं कर लिया था। मुसलमान शासक भी अब तक किसी बड़े साम्राज्य स्थापन का कार्य नहीं कर सके थे और राजपूत राजाओं से कर लेकर ही वे संतोष कर लेते थे। इस काल में यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोज शाह जैसे बड़े नृपति भी हुए, पर ये उस केंद्रीय शासन की प्रतिष्ठा करने में समर्थ नहीं हुए जिसका सम्यक् आविर्भाव मुगल काल में हुआ। अनेक मुसलमान राजवंश बहुत कुछ स्वतंत्र होकर जौनपुर आदि में स्थापित हुए जो दिल्ली के मुख्य शासन से प्रायः असंपर्कित थे। इब्न बतूता नामक तत्कालीन इतिहासलेखक के अनुसार यह मानना पड़ता है कि इस काल के शासकों में देश की हितचिंता भी अवश्य थी, और औषधालयों यात्रागृहों आदि की स्थापना करके वे प्रजा का पर्याप्त हित साधन करते थे, पर उनकी अनियमित शासननीति के कारण देश में वह शांति और समृद्धि नहीं आ सकी थी जो पीछे से अकबर आदि के शासनकाल में आई थी। मुसलमानों के शासन का यह आदि काल था; अतः इसमें विशेष प्रौढ़ता और स्थिरता की आशा की भी नहीं जा सकती थी।

राजनीतिक अवस्था

इन मुसलमान शासकों के समय में विलासिता की वृद्धि हुई और मुसलमान तथा हिंदू दोनों ही नैतिक दृष्टि से अधः-पतित होने लगे। मदिरा का प्रचार प्रायः सर्वव्यापक हो रहा था और बड़ी बड़ी बुराइयाँ शीघ्रता से फैल रही थीं। यद्यपि बलबन तथा अलाउद्दीन आदि कुछ शासकों ने सुधार की चेष्टा की थी, परंतु वैभव की वृद्धि के कारण एक ओर तो मुसलमानों को उस ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला और दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ ही धार्मिक शिथिलता भी आई तथा समाज में अनेक प्रकार के अंधविश्वास घुस गए। अज्ञान का साम्राज्य था। हिंदू तो पराधीन होकर पहले ही गौरवहीन हो गए थे, अब विलास में फँसकर उन्हें पूरी पूरी आत्मविस्मृति हो गई। शास्त्रज्ञ पंडित तो मुसलमानों के संसर्ग में बहुत कम आए और उन्हें 'म्लेच्छ' कहकर बराबर अपनी उच्चता की ही घोषणा करते रहे, पर साधारण जनता विलासमग्न रहती हुई भी बहुत दिनों तक आत्मप्रवंचना न कर सकी। हिंदुओं को विजेता यवन नीची निगाह से देखते और उनका तिरस्कार करते थे। उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता मिली थी, पर जज़िया जैसे कर देने पर। उच्च सरकारी पदों पर वे बहुत कम लिए जाते थे। धार्मिक विषयों का निर्णय मुसलमान काज़ी करते थे, जिससे हिंदुओं के साथ न्याय होने की बहुत कम आशा रहती थी। हिंदुओं का जान माल सब अनिश्चित था, उनके साथ यवन-शासकों की बहुत कम सहानुभूति थी। ऐसी परिस्थिति में हिंदू कब तक आत्मवंचना करते और विलास की नींद में सोते रहते? परंतु वे कर ही क्या सकते थे। जीवन में

सामाजिक अवस्था

उन्हें सहारा ही किसका था। वे शक्तिहीन और असंघटित थे। इस समय कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनका उन्नयन करने में समर्थ होता। यदि उन्हें कुछ आशा रह गई थी तो वह केवल लोकपालक, असुरविनाशक, भक्तभयहारी ईश्वर की अमोघ शक्ति की थी।

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान

फलतः एक महान् धार्मिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसका प्रभाव देश के कोने कोने में पड़ा। इस आंदोलन को इतिहास में वैष्णव आंदोलन कहा गया है। भगवान् के लोक-पालक रूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी भक्ति का मार्ग समस्त देश में प्रशस्त कर दिया गया। हिंदुओं को उस समय जिस निराशा और निरुत्साह ने घेर लिया था, उसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। नवीन धार्मिक चेतना से अनुप्राणित होकर हिंदू जाति एक बार फिर से सचेत हो उठी। यह ठीक है कि इस आंदोलन का बाह्य स्वरूप बहुत कुछ बदलता रहा, और विष्णु, राम, कृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों की प्रतिष्ठा भी हुई; पर हम यह नहीं भूल सकते कि इस विभिन्नता में भी आंतरिक एकता है और वह एकता भगवान् की लोकरंजनी और लोकरक्षिणी सगुण शक्ति की आराधना के रूप में दिखाई देती है। मुसलमानों के इस देश में बस जाने के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी यद्यपि उसका प्रभाव भी इस आंदोलन पर पड़ा, पर निस्संकोच भाव से इतना कहा जा सकता है कि अपने शुद्ध स्वरूप में, यह हिंदुओं के शास्त्रानुकूल था और सगुणोपासना के उस सिद्धांत पर अवलंबित था जिसका आविर्भाव इस देश में मुसलमानों के आने से बहुत पहले हो चुका

था। इस नवीन धार्मिक आंदोलन का अन्य क्षेत्रों पर जो प्रभाव पड़ा, वह तो पड़ा ही, साहित्यक्षेत्र भी उसके शुभ परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो उठा और अनेक प्रतिभाशाली कवियों की वाणी से असंख्य जनता अपूर्व शांति और आशा से लहलहा उठी। यहाँ पर हम इस आंदोलन का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक समझते हैं क्योंकि इसका हिंदी साहित्य के विकास से बहुत घनिष्ठ संबंध है।

हम पहले कह चुके हैं कि शंकर स्वामी ने बौद्ध धर्म को दबाकर भारतीय जन समाज में वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की थी। महात्मा शंकर ने श्रुतियों को ही प्रमाण मानकर अद्वैत-वाद का प्रचार किया था और ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या का सिद्धांत प्रतिपादित और प्रतिष्ठित किया था। "ब्रह्म से विभिन्न कोई सत्ता नहीं है, जीव भी ब्रह्म ही है और जगत् भी ब्रह्म ही है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके कारण ब्रह्म और जीव का अभेद प्रतीत नहीं होता।" संक्षेप में शंकर का यही सिद्धांत है। यह सिद्धांत ज्ञानमूलक है और इसकी सत्यता की अनुभूति चरम वैयक्तिक साधना पर अवलंबित है। निर्गुण ब्रह्म चिंतन का विषय है और चिंतन का कार्य ज्ञानी ही कर सकता है। माया के कारण जीव आत्मचिंतन कर ही नहीं सकता; अतः हम स्पष्ट देखते हैं कि महात्मा शंकर का अद्वैतवाद सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों पर स्थित है। साधा-रण जनसमाज इसका अधिकारी नहीं। यह तो तत्त्वान्वेषी आत्मनिष्ठ ज्ञानियों के मनन और चिंतन का विषय है।

परंतु विशृंखल और हताश हिंदू जाति तो उस समय ऐसा अवलंबन चाहती थी जो उसकी विपत्ति में सहायक हो

सकता, उसके दु:खों में हाथ बटा सकता, अधिक नहीं तो उसके साथ सहानुभूति रख सकता और उसका मनोरंजन कर सकता। अद्वैतवाद का ब्रह्म तो लोक से तटस्थ था; अतः उसकी क्या उपयोगिता हो सकती थी। हिंदू तो लोक-व्यवहार में सहायता पहुँचानेवाले, दु:खों का निवारण करने-वाले ऐसे भगवान् का सहारा चाहते थे जो उनकी रक्षा कर सकता और जिसके चरणों पर वे कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए नत हो सकते, अर्थात् उन्हें ईश्वर की उस सगुण सत्ता की आवश्यकता थी जो लोकरंजन और लोकपालन करती है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए स्वामी रामानुजाचार्य ने अपने प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस मत का प्रचार दक्षिण में बहुत अधिक और उत्तर में भी कम नहीं हुआ। इसमें निर्गुण ब्रह्म के बदले सगुण ईश्वर की कल्पना की गई थी और शुष्क ज्ञान के स्थान पर सरस भक्ति का स्रोत बहाया गया था।

अद्वैत का निर्गुण ब्रह्म जब विशिष्टाद्वैत में चित् अचित् विशिष्ट बनाया गया, तब उसमें असीम शील तथा सौंदर्य की कल्पना हो सकी और वह भक्तों की उपासना का आलंबन बन सका। रामानुज ने शंकर के मायावाद का विरोध किया और भक्ति के प्रवाह में माया की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई। यद्यपि रामानुज को भक्ति के इस मार्गनिरूपण में दक्षिण के कुछ संतों से बहुत सहायता मिली थी, पर वाद-विवाद के लिये उन्हें श्रुतियों का प्रमाण तथा गीता आदि के उद्धरणों का आश्रय लेना पड़ा। गीता में कृष्ण भगवान् के अनेक वाक्य "मामेकं शरणं व्रज" "अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्ष-

यिष्यामि मा शुचः'' आदि हैं जिनसे भक्ति का प्रतिपादन और समर्थन करने में रामानुजजी को सहायता मिली थी। यह सब होते हुए भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सिद्धांत रूप से अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत में विरोध नहीं है। दोनों ही एक ब्रह्म पर विश्वास रखते हैं और दोनों ही श्रुतियों को प्रमाण मानकर चलते हैं। विशिष्टाद्वैत में लगा हुआ अद्वैत शब्द ही दोनों की तात्त्विक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास ने "ज्ञानहि भक्तिहि नहि कछु भेदा" कहकर मानों उस भ्रम का निवारण सा कर दिया है जो तत्त्व को न समझनेवाले हृदयों में उत्पन्न हुआ करता है।

भक्ति का यह मार्ग क्रमशः प्रशस्त हो चला और निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य तथा रामानंद आदि महात्माओं की वाणी से इसमें तत्कालीन हिंदू जनता की आस्था बढ़ती गई। निंबार्काचार्य का सिद्धांत वही था जो रामानुज का था, पर रामानुज के विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर इसमें कृष्ण और गोपी का सन्निवेश हुआ। प्रेम को व्यक्त आलंबन मिल जाने के कारण जनता इस ओर विशेष आकृष्ट हुई। मध्वाचार्य का द्वैत सिद्धांत भी लगभग इसी समय प्रतिष्ठित हुआ, जिसके कारण शुष्क मायावाद को धक्का लगा और मोक्षप्राप्ति के लिये "हरि" रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति के इस प्रवाह में लीन होकर हिंदू जनता अपनी लौकिक परिस्थिति को बहुत कुछ भूल गई, उसकी निराशा का बहुत कुछ परिहार हुआ, पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि अभी तक भगवान् की लोकरक्षिणी सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी, केवल उसके लोकरंजक स्वरूप का साक्षा-

त्कार हो सका था। रामानुज के "विष्णु" यद्यपि सगुण थे, पर वे भी लोकव्यवहार से तटस्थ थे। निंबार्काचार्य के गोपी-कृष्ण, अवश्य जनता के बीच खेले कूदे थे, पर खेल कूद से जो मनोरंजन होता है, उससे संसार के जटिल जीवन में थोड़ी ही सहायता मिल सकती है। जो भगवान् दुष्टों का नाश कर सके और साधुओं से सहानुभूति दिखा सके, जो संसार में आकर संसार की परिस्थितियों में सफलतापूर्वक सहयोग कर सके और स्वयं सफल हो सके वही भगवान् उस समय हिंदू जाति के लिए कल्याणकर हो सकते थे। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। रामानुज आदि आचार्यों ने अपने भक्तिनिरूपण में संस्कृत भाषा का ही सहारा लिया था। संस्कृत उस समय की साधारण बोल-चाल की भाषा तो थी ही नहीं, अज्ञान के कारण जनता उस समय उसे और भी समझ नहीं सकती थी। आचार्यों की शिक्षा जनता के कानों तक कठिनता से पहुँच सकती थी; और यदि किसी प्रकार पहुँचती भी थी तो अपरिचित भाषा में होने के कारण उसके साथ हार्दिक सामंजस्य नहीं हो सकता था। तीसरी बात यह थी कि इन आचार्यों की भक्ति द्विजातियों तक ही सीमित थी, शूद्र या अंत्यज उसके अधिकारी नहीं थे। घट-घट में व्यापक भगवान् को भी इन आचार्यों ने अस्पृश्य जातियों से अलग रखने का उपक्रम किया था। भक्ति मार्ग में इस प्रकार का भेद कदापि न होना चाहिए था, परंतु आचार्यों को तत्कालीन समाजव्यवस्था से एकदम छूट निकलने का अवसर नहीं मिला। वे भक्ति को लोकव्यापक न कर सके, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से जीव मात्र को भक्ति का अधिकार दिया गया था।

इन परिस्थितियों के कारण भक्ति का व्यापक प्रसार होने में बाधा उपस्थित हो रही थी। स्वामी रामानंद के प्रभाव से ये बाधाएँ दूर हुईं और लोक में लोकरक्षक "राम" की प्रतिष्ठा हुई।

रामानंद की धार्मिक उदारता के परिणामस्वरूप भक्ति को जो व्यापक स्वरूप मिला, उसके साथ ही "सीताराम" की लोकमंगलकारिणी मूर्ति की उपासना ने मिलकर मणि-कांचन संयोग उपस्थित कर दिया। इस नवीन भक्ति मार्ग का प्रशस्त पथ पाकर तत्कालीन संकीर्णता बहुत कुछ दूर हुई। हिंदी साहित्य को एक अभूतपूर्व विकास का अवसर मिला और रामभक्त कवियों की एक परंपरा ही चल पड़ी। इस परंपरा का विस्तृत विवरण हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि हिंदी साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास और भक्तवर नाभादास जैसे महा-त्माओं ने रामभक्ति की शरण ली और साहित्य को भक्ति के प्रवाह से आप्लावित तथा जनता को राम के मंगलमय स्वरूप से दृढ़ और मुग्ध बना दिया।

वैष्णवधर्म के तत्कालीन विकास में महाप्रभु चैतन्य तथा वल्लभाचार्य का नाम विशेष रीति से उल्लेखनीय है। चैतन्य का उपदेश-क्षेत्र बंगभूमि था और उनका प्रभाव भी बंगाल में ही अधिक पड़ा। चैतन्य की भक्ति प्रेम और मोदमयी है। कर्म की जटिलता से वह दूर ही रही।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्मकाल सं० १५३६ बतलाया जाता है। विद्याध्ययन और शास्त्रान्वेषण के उपरांत वे मथुरा, वृंदावन आदि कृष्णतीर्थों में घूमे और अंत

में काशी में आकर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी उपासना कृष्ण की उपासना है और वह भी माधुर्य भाव की। सिद्धांत में वे शुद्धाद्वैतवादी हैं। ब्रह्म और जीव एक ही है और जड़ जगत् भी उससे भिन्न नहीं है। माया के कारण जो विभेद जान पड़ता है, उसका निराकरण भक्ति द्वारा ही हो सकता है। वल्लभाचार्य ने व्रत उपवास आदि कष्टसाध्य कर्म्मों का निषेध किया और पवित्र प्रेम भाव से उपासना करने की विधि बतलाई। यद्यपि प्रारंभ में इनके पुत्र विट्ठलनाथ के प्रयत्न से प्रसिद्ध अष्टछाप के भक्त कवियों की स्थापना हुई, पर वल्लभाचार्य की इस उपासनापद्धति से शृंगारी कवियों को भी नवीन प्रेरणा मिली और हिंदी साहित्य में शृंगार-परंपरा चल पड़ी। वल्लभाचार्य के मतावलंबी भी गुजरात और राजपूताने के धनी व्यापारी आदि हुए जिन्हें आध्यात्मिक प्रेम की उतनी आवश्यकता न थी जितनी लौकिक विलास की। इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभाचार्य की उपासनापद्धति के परिणामस्वरूप विलास की ओर अधिक प्रवृत्ति हुई जिसको मुगल सम्राटों की तत्कालीन सुख-समृद्धि ने सहायता देकर दूना चौगुना कर दिया। उच्चाति उच्च धार्मिक सिद्धांतों का कैसा दुरुपयोग हो सकता है, इसका अच्छा परिचय वल्लभाचार्य की उपासना-विधि के दुरुपयोग से मिल सकता है।

ऊपर जिन भक्ति-पद्धतियों का विवरण दिया गया है, वे सब भारतीय पद्धतियाँ हैं। पर साथ ही हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि उस समय तक इस देश में आकर बसे हुए मुसलमानों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। यद्यपि मुसलमान शास्त्राधिकारी लोग हिंदुओं से प्रायः द्वेष ही करते रहे, परंतु

साधारण जनता में पारस्परिक सहानुभूति के चिह्न दिखाई देने लगे थे। हिंदू मुसलमानों में परस्पर भावों और विचारों का आदान प्रदान प्रारंभ हो गया था। मुसलमानों के एकेश्वरवाद और उदार भ्रातृभाव से हिंदू बहुत कुछ प्रभावित हुए और उपासना में अंत्यजों को भी स्थान मिला। अनेक देवी देवताओं की ओर से भी बहुत कुछ ध्यान हटा। साथ ही इन्हीं रामानंद के प्रभाव के कारण तथा भक्तिमार्ग के आचार्यों की अनुदारता के कारण अस्पृश्य जातियों को जो परमेश्वर की आराधना से वंचित किया गया, उसका प्रतिफल जो कुछ होना चाहिए था, वही हुआ। यद्यपि साधु संतों की अटपट वाणी का आरंभ बहुत पहले से मिलता है, पर उत्तर भारत में इसका आरंभ रामानंदजी के शिष्य कबीरदास से हुआ और उनका संप्रदाय इतना बढ़ा कि उसका क्रम अब तक चला चलता है। इस संप्रदाय ने देशभाषा को अपने उपदेशों के प्रचार का माध्यम बनाया, और इस कारण उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई, पर निर्गुण ब्रह्म की उपासना को मुख्य स्थान देने के कारण इस संप्रदाय का प्रभाव अधिकतर अस्पृश्य जातियों में ही सीमाबद्ध रहा। इसके अतिरिक्त भारतीय अद्वैतवाद और सूफ़ी प्रेमवाद के सम्मिश्रण से हिंदी में जायसी, कुतबन आदि रहस्यवादी कवियों की परंपरा चली। प्रसिद्ध महात्मा कबीरदास की वाणी में भी हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों का अद्भुत मेल मिलता है।

उत्तर मध्य काल

जिस समय उपासना के बहुत से संप्रदाय बन रहे थे और हिंदुओं तथा मुसलमानों का पारस्परिक हेल मेल बढ़ रहा था,

उस समय मुगलों का सुख-समृद्धिपूर्ण साम्राज्य था। परंतु थोड़े समय के बाद अवस्था में परिवर्तन हुआ। संवत् १७१६ में औरंगजेब मुगल-साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने राज्याधिकार पाते ही नृशंस तथा धर्मांध शासक की नीति घोषित कर दी। अकबर आदि की उदार नीति का अंत हो गया। जजिया कर फिर से जारी किया गया। तीर्थस्थानों में अनेक सुंदर मंदिर तोड़कर मस्जिदें बनने लगीं। साम्राज्य के दृढ़ स्तम्भ राजपूतों का अविश्वास और अनादर होने लगा, परिणामस्वरूप देश में अशांति व्याप्त हो गई और नई हलचल आरंभ हो गई। सबसे पहले महाराष्ट्र शक्ति का उदय हुआ। औरंगजेब को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। संवत् १७६४ में उसकी मृत्यु के उपरांत तो देहली का केंद्रीय शासन और भी डाँवाँडोल हो गया। पंजाब में सिक्ख शक्ति का आतंक छा गया। राजपूतों ने मुगलों का साथ देना छोड़ दिया। रुहेलखंड में रुहेलों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। अवध और बंगाल के सूबेदारों ने देहली का आधिपत्य अस्वीकृत कर नवाब की उपाधि धारण की और कर देना बंद किया। आगरे के निकट के जाट भी स्वतंत्र हो गए। मराठों के पैर तो पहले ही जम चुके थे; अब वे आत्मविस्तार में लगे। इसी बीच में प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिरशाह ने आकर दिल्ली को रक्तरंजित कर दिया और वहाँ का मयूरासन लेकर सारे देश में आतंक फैलाता हुआ वह लौट गया। इस अवसर से लाभ उठाकर मराठे लाहौर तक बढ़ गए और समस्त उत्तरापथ उनके अधिकार में हो गया। देश में एक बार फिर से हिंदू

राजनीतिक अवस्था

राज्य की आशा होने लगी और इस आशा से हिंदुओं में एक जागर्ति सी दिखाई पड़ने लगी।

परंतु भारत के भाल में विधि के लिखे अंक कुछ दूसरे ही थे। विलायत से सात समुद्र पारकर अँगरेज जाति भारत में व्यापार करने आई। पहले दक्षिण में उसका व्यापार हो रहा था, पर अशांति के उस युग में उसे अधिकार-प्राप्ति की भी इच्छा हुई। भारतीय युद्धपद्धति से उनकी युद्धपद्धति बहुत अधिक उन्नत थी और उनमें नवीन उत्साह की तरंगें भी उद्वेलित हो रही थीं। पहले दक्षिण में ही उन्होंने व्यापार छोड़ तलवार ग्रहण की थी। बंगाल में सिराजुद्दौला की निर्बलता से उन्होंने पूरा पूरा लाभ उठाया। सं० १८१४ में पलासी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला को हराकर क्लाइव ने भारत में बृटिश साम्राज्य की नींव डाली। सं० १८२१ में बक्सर के युद्ध में बंगाल और अवध के नवाबों तथा मुगल सम्राट् शाह आलम की सम्मिलित वाहिनी को परास्त कर विजयी अँगरेजों ने उत्तर भारत के एक विशाल खंड पर अपना स्वत्व जमाना चाहा; पर मराठों के प्रयत्न से शाह आलम फिर से दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुआ। मराठों की चौथ इस समय प्रायः भारतव्यापी हो रही थी। इधर हेस्टिंग्स ने बंगाल में अँगरेजी शासन दृढ़ किया और अवध को अपने पंजे में किया। महादजी के हटने से मराठों की शक्ति कम होने लगी। लार्ड वेलेजली के समय में मराठे उत्तर भारत में शक्तिहीन हो गए। पर इतने में ही सिख शक्ति वीर रणजीतसिंह के नेतृत्व में संघटित होकर मैदान में आई। काश्मीर और पेशावर तक के प्रांत सिखों के थे। परंतु

रणजीतसिंह की मृत्यु (१८९६) के उपरांत सिख साम्राज्य भी स्थिर न रह सका। संवत् १९०५ के सिख-युद्ध में अँगरेजों की विजय हुई और सिख साम्राज्य का अंत हो गया। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र और सिंध नदियों के बीच का विशाल उत्तर भारत अँगरेजों का हो गया।

राजनीतिक उथल पुथल के इस युग में जनता की अवस्था कितनी भयानक थी, इतिहासकार इसके संबंध में चुप नहीं हैं। बंगाल की दोहरी शासनप्रणाली के (Double government) कारण जो दुर्दशा थी, वह तो थी ही, मराठों के उत्पात और अँगरेजों की व्यापारिक नीति से उसकी और भी शोचनीय स्थिति हो गई। नए बंदोबस्त से जमींदारों को धक्का लगा और किसानों पर कड़ाई से कर लेने की प्रथा चल निकली। इस तरह व्यापार और कृषि के चौपट हो जाने से जनता की आर्थिक दुरवस्था भीषण हो गई और बेकारी के कारण ठगी का आश्रय लिया जाने लगा। गाँवों के प्राचीन संघटन में भी बाधा डाली गई और पंचायतों की जगह ऐसी अदालतों का प्रचार हुआ जिनकी दंडविधि से कोई परिचित ही न था। अँगरेज जजों को भारतीय रीति नीति का पता न था और दूसरी ओर हिंदुस्तानियों को अपने नए शासकों के कानूनों का ज्ञान न था। इसका फल यह हुआ कि वकीलों की एक नई श्रेणी निकल पड़ी। कार्नवालिस के समय से हिंदुस्तानियों को बड़ी सर्कारी नौकरियाँ न दी जाने लगीं क्योंकि उसका विश्वास था कि हिंदुस्तानी झूठे और घूसखोर होते हैं। संवत् १८९० से यह नीति कुछ कुछ बदली। शासन और न्याय का काम

सामाजिक अवस्था

बहुत बढ़ जाने के कारण हिंदुस्तानियों की सहायता लेना अनिवार्य हो गया। तभी से देश के शासन का कुछ अंश यहाँ के निवासियों को भी दिया जाने लगा।

हिंदुओं और मुसलमानों को एक बनाने के लिये सिक्ख धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था परंतु मुसलमान शासकों की संकीर्ण

धार्मिक अवस्था

नीति के कारण मुसलमान सिक्खों के घोर विरोधी बन बैठे। अँगरेजों के साथ साथ ईसाई मत का भी प्रचार हुआ। यद्यपि प्रकट रीति से सरकार की ओर से भारतीयों के धार्मिक विचारों पर आघात नहीं किए गए, पर विजेता की शक्ति का प्रभाव विजितों पर कैसे न पड़ता। वेलेजली के समय में सात देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद निकाला गया। सं० १८७० में लाइसेंस लेकर प्रचारकार्य के लिये पादरियों को आने की अनुमति मिल गई। उसी समय कलकत्ते में एक विशप और चार पादरी नियुक्त हुए। पादरियों ने पुस्तकें प्रकाशित करके तथा उपदेशों आदि द्वारा प्रचार-कार्य करके और साथ ही प्रलोभन भी देकर ईसाई मत को फैलाने की चेष्टा की। लार्ड बेंटिंक ने सतीप्रथा बंद कर दी। धीरे धीरे अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने लगा। बेंटिंक ने अँगरेजी का प्रचार सरकारी नीति का एक अंग बना दिया। मेकाले ने कहा कि अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से देश में एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। संस्कृत और फारसी का निरादर किया जाने लगा। उर्दू अदालती भाषा बन गई और हिंदी को राजाश्रय न मिल सका। अँगरेजी के साथ साथ इस देश में पाश्चात्य भावों का भी प्रवेश हुआ। जनता पर अँगरेजों की रहन-सहन और

आचार विचार का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। नए आवेश में देश की बहुत सी अच्छी बातें भी बुरी और असभ्यतापूर्ण मानी जाने लगीं। इस प्रकार देश पर अँगरेजों की मानसिक विजय भी चलती रही जिसने राजनीतिक विजय को खूब दृढ़ बना दिया।

उत्तर काल

राजनीतिक स्थिति

देशी राज्यों के प्रति अँगरेजों की नीति और ईसाई मत के प्रचार का फल यह हुआ कि सं० १९१४ में भारतीयों की ओर से प्रबल विद्रोह की आग धधक उठी। परंतु संघटन के अभाव और शक्ति की विशृंखलता के कारण विद्रोह सफल न हो सका। परिणामस्वरूप सं० १९१५ से भारत ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया और कंपनी का राज्य उठ गया। उत्तरी और दक्षिणी भारत का भेद मिट गया और सारे देश में एक प्रकार की शासननीति काम में लाई जाने लगी। महारानी विक्टोरिया की प्रसिद्ध घोषणा से सरकारी नौकरियों में जाति-भेद उठा देने, धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने और देशी नरेशों के अधिकार बनाए रखने का वचन दिया गया। अँगरेजी शिक्षा के लिये यूनीवर्सिटियाँ स्थापित की गई जिनसे राजनीतिक भावों की जागर्ति हुई और थोड़ा बहुत शिक्षाप्रचार भी हुआ, पर अधिकतर अँगरेजी रीति-नीति की स्थापना को ही सहायता मिली।

सामाजिक अवस्था

सामाजिक अव्यवस्था के उस युग में बंगाल के प्रसिद्ध राजा राममोहन राय ने जो कार्य किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। अविद्यांधकार में डूबे हुए देश को ज्ञानालोक प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय उनको है। उनके कुछ समय उपरांत स्वामी दयानंद

के आविर्भाव से उत्तर भारत में एक नवीन जातीय चेतना का अभ्युदय हुआ और ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्मप्रचार को बहुत कुछ धक्का पहुँचा। उस समय साधारण हिंदू जनता का यही विश्वास हो रहा था कि हमारी रीति नीति, हमारी सभ्यता और संस्कृति तथा हमारा धर्म, सब मुसलमानों और ईसाइयों के सामने तुच्छ हैं। स्वामी दयानंद ने इस भ्रांत धारणा का समूल विनाश कर दिया और हिंदू जनता को अपने अमर भांडार उन वेदों की ओर अकर्षित किया जो संसार के उच्चतम ज्ञान के निदर्शन हैं और इस देश के अतीत गौरव के अमिट स्मृति-चिह्न हैं। स्वामी दयानंद के उद्योग से हिंदी भाषा का प्रचार थोड़ा बहुत बढ़ा और संस्कृत साहित्य के पुनरवलोकन तथा अनुशीलन की प्रवृत्ति भी बढ़ी।

समाचारपत्रों के प्रचार से राजनीतिक सामाजिक आदि आंदोलनों से जनता परिचित होने लगी और उसका इधर मनोयोग भी हुआ। इसी समय भारत की राजनीतिक आवश्यकताएँ प्रकट करने के लिये नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसमें तत्कालीन बड़े बड़े लोगों ने सहयोग दिया। लार्ड रिपन के समय से ही स्थानीय शासन में भारतीयों को सम्मिलित किया जाने लगा था। केंद्रीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में हिंदुस्तानी सदस्य चुने जाने लगे। रेल, तार, डाक आदि से भी सुविधाएँ बढ़ीं और समस्त भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव उदय हुआ। संवत् १९६२ में बंगविच्छेद के प्रश्न पर यह भाव स्पष्ट देख पड़ा था। उसी समय रूस पर जापान के विजयी होने से भारतीयों की हिम्मत भी बढ़ी। राजनीतिक आंदोलन की उन्नति देखकर लार्ड मार्ले को कुछ

सुधारों की व्यवस्था करनी पड़ी, परंतु उतने सुधार से उन्नतिशील राजनीतिक दल को संतोष नहीं हुआ। सं० १९७१ में महायुद्ध के प्रारंभ हो जाने पर समस्या और भी जटिल हो गई, परंतु तत्कालीन अँगरेज राजनीतिज्ञों ने बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाकर भारत की सहानुभूति प्राप्त की और भारत ने धन-जन से महायुद्ध में अँगरेजों की पूरी सहायता की। परंतु युद्ध समाप्त हो जाने पर भारत की आशाएँ पूरी नहीं हुई वरन् पंजाब के प्रसिद्ध हत्याकांड जैसे अत्याचार हुए और पाशविक शक्ति की सहायता से भारतीयों की आकांक्षाओं का दमन किया गया। फलतः तीव्र प्रतिकार का आरम्भ हुआ। इस प्रतिकार को महात्मा गांधी के प्रसिद्ध असहयोग आंदोलन ने अहिंसात्मक बना रखा। संसार के इतिहास में इस प्रकार के अहिंसात्मक अस्त्रों का प्रयोग प्रायः नवीन है। देश में चारों ओर उद्वेगपूर्ण जागर्ति देख पड़ती है, पर भविष्य अब तक अंधकार की गोद में है।

सर्वतोमुखी प्रगति

राजनीतिक क्षेत्र की नवीन जागर्ति ने इस समय जो चकाचौंध सी उत्पन्न कर दी है, उसके कारण हम राष्ट्र के अन्य उद्योगों को कम देख पाते हैं, पर हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि राजनीति तो राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का एक अंग मात्र है, वही सब कुछ नहीं है। राष्ट्र की चेतना अकेली राजनीति की ओर झुककर बहुत शुभ परिणाम नहीं उपस्थित कर सकती। उसका विकास प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिए। हमको यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि आधुनिक भारतीय मनोवृत्ति यद्यपि राजनीति की ओर विशेष उन्मुख है, पर अन्य

दिशाओं में भी प्रशंसनीय और संतोषप्रद उद्योग हो रहे हैं। हमारा विशेष संबंध साहित्य से है और हम यह स्वीकृत करते हुए बड़े प्रसन्न हो रहे हैं कि इस समय हिंदी साहित्य के अनेक अंगों की बड़ी सुंदर पुष्टि हो रही है। हिंदी को राष्ट्रीय भाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ है, और महात्मा गांधी तथा अन्य बड़े बड़े नेताओं के प्रयत्न से इसका देशव्यापी प्रचार हो रहा है। यदि हिंदी साहित्य के सभी अंगों का विकास इसी प्रकार होता रहा और यदि इसकी व्यापकता और सौष्ठव को मानकर देश ने इसको राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कर लिया, तो वह दिन दूर नहीं है जब हिंदी भाषा का साहित्य भी इस देश में व्यापक होकर राष्ट्र के प्रगतिशील भावों और विचारों का अभिव्यंजन कर सकेगा और संसार के अन्य श्रेष्ठ और बड़े साहित्यों के समकक्ष होकर मानव समाज के लिये कल्याणकर और आदरणीय हो जायगा।

तीसरा अध्याय

ललित कलाओं की स्थिति

साहित्य के इतिहास की इस साधारण आकार की पुस्तक में वास्तुकला, चित्रकला तथा संगीतकला आदि की स्थिति का परिचय देना उचित है या नहीं, अथवा उपयोगी है या नहीं इन बातों में मतभेद हो सकता है। हिंदी साहित्य के जो इतिहास-ग्रंथ इस समय तक निकले हैं, उनमें इन ललित कलाओं का विवरण नहीं दिया गया है। अँगरेजी की साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में भी इस ओर कम ध्यान दिया गया है। संभव है कि उसकी आवश्यकता भी नहीं समझी गई हो। परंतु हमारी सम्मति में साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में उपर्युक्त ललित कलाओं की समसामयिक प्रगति का प्रदर्शन उचित ही नहीं, उपयोगी भी है। साहित्य स्वयं एक ललित कला है; अतः अन्य ललित कलाओं के साथ उसका घनिष्ठ संबंध प्रत्यक्ष है। साथ ही राष्ट्र के विकास के इतिहास में कलाओं के समन्वित विकास का भी इतिहास विशेष रोचक होता है। हम तो विविध कलाओं की कल्पना एक परिवार के रूप में ही करते हैं, यद्यपि उस परिवार के विभिन्न व्यक्तियों की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। जब दो राष्ट्रों तथा दो विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष होता है, तब तो ललित कलाओं

ललित कलाओं का स्थान

की स्थिति में बड़े ही मार्मिक परिवर्तन होते हैं, जिनका ठीक ठीक स्वरूप हम तभी समझ सकते हैं जब उनका एकत्र विचार करें। इसके अतिरिक्त सबसे मुख्य बात यह है कि सभी कलाओं की उत्पत्ति मानव-मस्तिष्क से होती है; अतः जब हम किसी विशेष देश के किसी विशेष काल की जनता की चित्त-वृत्तियों का पता लगाना चाहेंगे, तब हमें उस देश तथा उस काल के साहित्य का ही अनुसंधान न करना पड़ेगा अपितु अन्य कलाओं की भी खोज करनी पड़ेगी। केवल साहित्य के इतिहास से जनता की चित्त-वृत्ति का जो अन्वेषण किया जाता है, वह एकांगी ही नहीं, भ्रामक भी हो सकता है।

उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने चारों ओर प्रकृति का जो प्रसार देखता है, दार्शनिक उसे ब्रह्म की व्यक्त कला बतलाते हैं। ब्रह्म की यह कला शाश्वत है। इस शाश्वत कला पर मनुष्य चिर काल से मुग्ध होता तथा इसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता चला आता है। प्रकृति के नाना रूपों के साथ मानव हृदय के नाना भावों का समन्वय आज से नहीं, सृष्टि के आदि से होता आ रहा है। दार्शनिक कहते हैं कि ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति उसकी कल्पना का परिणाम है, परंतु मनुष्य-हृदय ब्रह्म की इस अभिव्यक्ति में विश्व-हृदय की भी झलक देखता है। इस प्रकार ब्रह्म की व्यक्त कला अनंत अभिव्यक्ति तथा अनंत विकास के रूप में समझी जाती है, जिसके मूल में ब्रह्म की अनंत कल्पना तथा उसका अनंत हृदय समाया हुआ है। मनुष्य का दृश्य-जगत् से अविच्छिन्न संबंध है। वह चिर काल से प्रकृति के अनंत सौंदर्य पर मुग्ध होता आया

है। प्रकृति के नाना रूप मनुष्य के नाना भावों को जागरित तथा उत्तेजित करते आए हैं।

सभ्य मानव समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिव्यक्ति तथा विकास का प्रार्थी होता है। इसकी उसे स्वाभाविक प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने में सृष्टि के नाना उपकरण उसके सहायक होते हैं। उसकी कल्पना तथा उसके हृदय पर जगत् के नाना रूप जो प्रभाव डालते हैं, वह उन्हें अनेक रूपों में अभिव्यंजित करता है। कभी मूर्ति बनाकर, कभी चित्र खींचकर, कभी कुछ गाकर तथा कभी कविता रचकर वह अपनी मनोगत भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करता है। इस प्रकार उन ललित कलाओं की सृष्टि होती है, जिनका इस अध्याय में संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

कलाओं का वर्गीकरण

यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल से ही कलाओं की विशेष उन्नति होती आई है, पर संभवतः एक पारिभाषिक शब्द के रूप में "कला" का विवेचन यहाँ नहीं किया गया। हम उपनिषदों की अकल कला की बात नहीं कहते। साधारणतः कला और शिल्प आदि शब्द समवाची समझे जाते थे और अनेक मतों के अनुसार कलाओं की संख्या भी विभिन्न थी। सामान्य रूप से ग्रंथों में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ उपयोगी तथा कुछ ललित कलाएँ भी सम्मिलित हैं, यद्यपि उपयोगी और ललित कलाओं का यह वर्गीकरण पाश्चात्य है। इस देश में अधिकतर स्त्रियों की कला तथा पुरुषों की कला आदि के स्थूल विभेद ही माने जाते

थे। "साहित्य-संगीत-कला-विहीन:" वाले प्रसिद्ध पद्य में साहित्य तथा संगीत कला नहीं माने गए, मानों कला इनसे कुछ विभिन्न हो। आधुनिक विवेचन के अनुसार साहित्य तथा संगीत प्रसिद्ध ललित कलाएँ हैं। आगे के पृष्ठों में हम जिन ललित कलाओं का विवरण देना चाहते हैं, पाश्चात्य विश्लेषण के अनुसार उनका नामकरण वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीतकला हो सकता है। इन्हीं के साथ साहित्यकला की भी गणना कर लेने से ललित कलाओं की पाँच शाखाएँ हो जाती हैं। हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना तो इस पुस्तक का प्रतिपाद्य ही है, साथ ही तत्कालीन ललित कलाओं की प्रगति का विवरण भी प्रसंगवश इसमें दिया गया है। परंतु प्रगति के विवरण के पहले इनके स्वरूप से परिचित होना भी आवश्यक है।

ललित कलाओं का स्वरूप

ललित कला के अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला—ये पाँच कलाभेद हैं। इन ललित कलाओं से मनुष्य के अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है। ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक ऐसी हैं जो मानसिक तृप्ति का साधन चक्षुरिंद्रिय के सन्निकर्ष से करती हैं और दूसरी श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से। वास्तु (नगर मंदिर आदि का निर्माण), मूर्ति (तक्षणकला) और चित्रकलाएँ तो दर्शन से तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा काव्य श्रवण से। यह ठीक है कि रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है; पर यहाँ हमारा आशय केवल उसके साहित्यिक अंग

से ही है। वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाओं में मूर्त आधार प्रत्यक्ष रहता है, परंतु संगीत में उसका स्वरूप नाद के रूप में ही व्यक्त होता है; और काव्य कला में तो मूर्त आधार प्रायः होता ही नहीं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्यकला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं; क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि संगीत कला का स्थान सबसे ऊँचा है, क्योंकि काव्य में तो शब्दों का आधार भी है पर संगीत में केवल नाद है। यह विषय विवादग्रस्त है। हमारे प्रयोजन के लिये तो यह मान लेना आवश्यक है कि संगीत और काव्य दोनों उच्चतम कलाएँ हैं और दोनों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उसी के अनुसार हम वास्तुकला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार के सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तुकला को ललित कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्तिकला का है। इसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो भूत वर्ग में उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को निर्जीव से सजीव बनाने का उपक्रम करता है और उसके प्रयास से उसकी रचना में बहुत कुछ सजीवता की अभिव्यक्ति हो जाती है। मूर्तिकला के अनंतर तीसरा स्थान चित्रकला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और

मोटाई होती है। वास्तुकार और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मोटाई तो उसके आधार में नाममात्र को ही होती है, और वह भी एकाकार; चित्रकार उसे घटा बढ़ा नहीं सकता। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का वह प्रतिबिंब अंकित कर देता है, जिसमें बिंब के समान ही रूप रंग आदि देख पड़ते हैं।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। नाद अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार चढ़ाव) ही संगीत का आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्यकला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्दसमूहों या वाक्यों से होता है जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य के रूप में मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्यकला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है और इसी आधार पर शब्दों की रमणीयता को काव्य का एक प्रधान और कहीं कहीं मुख्य अंग

माना गया है, पर अर्थ की रमणीयता के समान यह काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्यकला का प्रधान गुण और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

हम जिस समय से ललित कलाओं का विवरण प्रारंभ करते हैं, वह भारतीय इतिहास का विशेष महत्त्वपूर्ण युग था। मुसलमानों के आक्रमण तो पहले ही प्रारंभ हो चुके थे, अब वे राज्य-स्थापन करने तथा यहाँ आकर बसने के प्रयास में थे। अब उनमें लुटेरों की सी उतनी बर्बरता तथा उच्छृंखलता नहीं रह गई थी, वरन् वे अधिकाधिक सभ्य तथा संयत होते जा रहे थे। उनके सभ्य तथा संयत होने का यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में आने के पहले वे नितांत बर्बर तथा असभ्य थे, अथवा उनकी धार्मिक तथा संस्कृतिजन्य अवस्था अविकसित और पतित थी, वरन् हमारे कहने का आशय यह है कि धार्मिक उन्माद और क्रूरता आदि के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता आ गई थी जो असभ्यता की सूचक है। यह कर्कशता प्रारंभ के मुसलिम आक्रमणों की विशेषता थी। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य प्रदेशों में भी मुसलमानों का प्रवेश उन देशों की विविध कलाओं तथा सभ्यता के निदर्शनों का नाशक ही हुआ, उन्नायक नहीं। यह हम तत्कालीन नवोत्थित मुसलिम शक्ति की बात कह रहे हैं। थोड़े समय के उपरांत जब उन्माद का प्रथम प्रवाह कुछ धीमा पड़ गया, और मुसलमानों ने तलवार के साथ साथ कुछ मनुष्यत्व भी धारण कर लिया, तब कलाओं के क्षेत्र में भी प्रचुर उन्नति हुई।

मुसलमान और ललित कलाएँ

हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारत में आए हुए मुसलमान निरे असभ्य और जंगली न थे और उनका धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास भी संतोषप्रद था। विविध कलाओं की उनकी निजी शैली थी जो भारतीय शैली से सर्वथा भिन्न थी। उनके भारत में आने पर दोनों शैलियों का सम्मिश्रण होने लगा, जो स्वाभाविक ही था। प्रत्येक कला पर इस सम्मिश्रण की छाप स्पष्ट देख पड़ती है, परंतु साथ ही दोनों का स्वतंत्र विकास भी अनुल्लेख्य नहीं है। नीचे हम वास्तु-कला की तत्कालीन अवस्था का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

वास्तुकला के इतिहास में मुसलमानों तथा हिंदुओं की शैलियों का सम्मिश्रण बहुत ही रोचक तथा चमत्कारपूर्ण है।

मुसलमानी तथा हिंदू वास्तुकला का तारतम्य

विजयी मुसलमानों ने जिस प्रकार हिंदू तथा जैन मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाईं वह एक दृष्टि से उनकी नृशंसता का परिचायक है, और दूसरी दृष्टि से उनकी कलामर्मज्ञता का द्योतक है। इस देश में आकर इस देश की समृद्ध तक्षणकला से प्रभावित न होना विदेशियों के लिये असंभव था। उन्हें अनिवार्य रीति से यहाँ के शिल्पसाधनों तथा शैलियों का प्रयोग करना पड़ा। उनके कारीगर सब अरब और फारस से तो आए नहीं थे, वे अधिकतर इसी देश के होते थे। अतः जब उनके भवन-निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ, तब उसमें हिंदू-भवन-निर्माण-विधि की स्पष्ट झलक देख पड़ी। कलाविदों का कथन है कि सभी भारतीय आदर्शों तथा शैलियों का प्रवेश, किसी न किसी रूप में, तत्कालीन मुसलिम इमारतों में हुआ। परंतु उन पर इस देश का ऋण केवल बाह्य आदर्शों तथा शैलियों

तक ही परिमित न रहा। भारतीय स्थापत्य की सबसे बड़ी दो विशेषताओं—शक्ति तथा सौंदर्य—की छाप भी उनमें पूरी पूरी देखी गई। मुसलिम स्थापत्य की ये विशेषताएँ भारत में ही उपलब्ध होती हैं, अन्य देशों में नहीं। जेरुसलम और दमिश्क आदि के यवन स्थापत्य में पच्चीकारी का जो सौष्ठव है, फारस के चीनी के खपड़ों में जो चमक दमक है, अथवा स्पेन की मस्जिदों में जो कल्पनात्मक विशेषता है, संभव है इस देश की मुसलिम इमारतों में वह न हो; परंतु शक्ति तथा सौंदर्य का ऐसा मणि-कांचन-संयोग भारत को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिल सकता।

मुसलिम तथा हिंदू तक्षणकला का साधारण विभेद मस्जिदों तथा मंदिरों की निर्माणशैली से ही प्रत्यक्ष हो जाता है। हिंदुओं के मंदिर का मध्य भाग, जहाँ मूर्ति रहती है, विशेष विस्तृत नहीं होता। उसमें एक प्रकार की अद्भुत प्रभविष्णुता तथा अनुभावकता रहती है, जो उसकी परिमिति के ही फलस्वरूप होती है। इसके विपरीत मुसलमानों का उपासनागृह चारों ओर से खुला और अधिक फैला हुआ रहता है जिससे उसमें भव्यता का समावेश होता है। हिंदुओं ने सीधे स्तंभों का प्रयोग किया था, परंतु मुसलिम मस्जिदों में प्रायः मिहराबदार खंभे देते थे। मंदिर के शीर्ष पर कलश बनते हैं, मस्जिदों में गुंबद होते हैं। परंतु इन साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनकी एक दूसरी विभिन्नता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिंदू मंदिरों में मूर्तियाँ होती हैं, मुसलिम मस्जिदों में नहीं होतीं। हिंदुओं ने ब्रह्म की व्यक्त सत्ता पर जोर देकर सगुणोपासना का जो मार्ग प्रशस्त किया था, उसमें मूर्तियों के लिये स्थान था। हिंदू अपने इष्टदेवों की सुंदर मूर्तियाँ बनाकर उनकी

वेष-भूषा का विधान भी करते थे। उनकी यह कला अद्वितीय है। परंतु मुसलमानों ने मूर्तियों तथा चित्रों का घोर निषेध कर रखा था। उनकी मस्जिदें मूर्तियों के न होने से उजाड़ सी जान पड़ती हैं। हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों के कारण मानों सजीवता आ जाती है। साथ ही मस्जिदों के विस्तार में अनंतता की कुछ छाया झलकती है।

इन विभेदों के साथ ही मंदिर तथा मस्जिद में बहुत सी समानताएँ भी होती हैं। हमारा तो विचार है कि समानताओं के कारण दोनों शैलियों के सम्मिश्रण में सुगमता ही नहीं हुई होगी प्रत्युत् उसको उत्तेजना भी मिली होगी। मंदिरों तथा मस्जिदों में समान रूप से आँगन होते हैं, जो खंभों आदि से परिवृत रहते हैं। ये आँगन पूरे एशिया महाप्रदेश की विशेषता हैं। इसके अतिरिक्त हिंदू तथा मुसलिम वास्तुकला में सजावट अथवा शृंगार की ओर सामान्य प्रवृत्ति होती है। वेष-भूषा के बिना दोनों का काम नहीं चलता। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंदू वास्तुकारों में शृंगार की प्रेरणा स्वाभाविक होती है, उन्हें यह परंपरागत रीति से प्राप्त हुई है, और मुसलमान वास्तुकारों ने इसे दूसरों से ग्रहण किया था। भारत में आने पर मुसलमानों का बनाव-सिंगार की ओर विशेष झुकाव हुआ।

हिंदू स्थापत्य की एक ही शैली समस्त देश में व्याप्त नहीं थी। उत्तरी भारत में ही उसकी कई शाखाएँ थीं। इतने विस्तृत देश में शैली-भेद का होना स्वाभाविक है भी। जिस प्रकार यहाँ अनेक भाषाएँ प्रचलित थीं, जिस प्रकार यहाँ अनेक धार्मिक संप्रदाय चल रहे थे, जिस प्रकार यहाँ अनेक

विदेशियों ने आकर अनेक प्रभाव डाले थे तथा जिस प्रकार यहाँ के विभिन्न प्रदेशों की जलवायु भौगोलिक स्थिति आदि भिन्न भिन्न हैं, उसी के अनुरूप यहाँ के स्थापत्य में भी अनेक प्रांतीय विभेद हुए। परंतु इन विभेदों के होते हुए भी जिस प्रकार समस्त देश में एक ही ढंग की संस्कृति तथा एक ही ढंग की सभ्यता का विकास हुआ था उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य में सामूहिक एकता भी मूलीभूत थी। विजयी मुसलमान जब क्रम क्रम से उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैल गए, तब उन्होंने उन प्रदेशों में प्रचलित स्थापत्य का अपने ढंग पर उपयोग किया। जिन स्थानों में मंदिर ढहाकर मस्जिदों की रचना हुई, वहाँ तो उन स्थानों की वास्तुकला का आधार ग्रहण ही किया गया, पर जिन स्थानों में स्वतंत्र रूप से इमारतें बनवाई गईं, वहाँ भी अधिकतर प्रांतीय शैलियों का ही आश्रय लिया गया। कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक होगा।

दिल्ली प्रारंभ से ही मुसलमानों का केंद्र रही थी। यहाँ वे सबसे अधिक प्रभावशाली भी थे, और यहीं उन्हें अपनी संस्कृति की रक्षा तथा विकास का सबसे अधिक अवसर भी मिला था। परंतु दिल्ली की प्रसिद्ध मुसलिम इमारतों में भी भारतीय स्थापत्य की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। प्रारंभ में तो मुसलमान विजेताओं ने स्थानीय मंदिरों को तोड़कर मस्जिदों की स्थापना की थी, अतः उस काल की इमारतों में भारतीय शैली प्रत्यक्ष ही है, परंतु दिल्ली की उत्तरकालीन इमारतों से भी इस देश की स्थापत्यसंबंधिनी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो सकीं। यद्यपि दिल्ली के कुछ शासक अरब की संस्कृति को भारत में अक्षुण्ण रखना चाहते थे, और वे धार्मिक कट्टरपन

के उच्चतम प्रतिनिधि थे, फिर भी उनके निर्मित भवनों तथा मस्जिदों आदि में शुद्ध मुस्लिम स्थापत्य नहीं मिलता। दिल्ली को छोड़कर अन्य स्थानों में मुसलमानों को न तो ऐसे साधन ही प्राप्त थे और न उनकी ऐसी प्रवृत्ति ही थी कि वे इस देश में रहकर यहाँ के स्थापत्य की अवहेलना कर सकें और अरब की कारीगरी का निर्वाह कर सकें। जौनपुर तथा दक्षिण की मुस-लिम इमारतों में भारतीय प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। बंगाल की मस्जिदें ईंट की बनी हुई हैं जो भारत की ही वस्तु हैं। उनका सजाव-शृंगार भी बंगाली है। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही गुजरात पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और वहाँ अहमदाबाद की मस्जिदों आदि में मुसलिम शैली का मिश्रित रूप, अजमेर के ढाई दिन के झोपड़े के समान स्पष्ट देख पड़ता है। इसी प्रकार काश्मीर में भी भवननिर्माण के लिये भारतीय शैली ही ग्रहण की गई। पूर्व परंपरा के अनु-सार मुस्लिम काल में भी वहाँ लकड़ी पर कारीगरी की गई, जो अपने ढंग की अनुपम है।

हिंदी साहित्य का उद्भव चंद बरदाई के कुछ पहले ही, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग के लगभग हुआ था। वह हिंदी का वीरगाथा-काल था जो तेरहवीं शताब्दी तक चलता रहा और वीर हम्मीर के पतन के उपरांत समाप्त हुआ। उसके उपरांत हिंदी साहित्य का भक्तिकाल प्रारंभ हुआ जिसके उन्नायक कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि हुए, जिनकी वाणी में अभूतपूर्व पवित्रता तथा सरसता का सन्निवेश हुआ। यदि इस काल को हम पूर्व मध्य काल कहें तो उत्तर मध्य काल में हिंदी साहित्य के शृंगारी कवियों की उत्पत्ति हुई जिनकी मुक्तक

रचनाओं में शृंगारिकता का मुक्त प्रवाह देख पड़ता है। इसी समय हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण का विकास भी हुआ, पर वे प्रबल वेग से उमड़ी हुई शृंगार-धारा का अवरोध न कर सके। उसका वास्तविक अवरोध आगे चलकर भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में हुआ। वहीं से हिंदी का आधुनिक काल आरंभ होता है। इस काल में साहित्य की अनेकमुखी प्रगति हुई और साहित्य-निर्माण में गद्य का प्रयोग आरंभ हुआ। यह आधुनिक विकास बहुत कुछ पश्चिमीय ढंग पर हो रहा है, यद्यपि पाश्चात्य आवरण में भारतीय आत्मा की रक्षा का प्रयास भी साथ ही साथ किया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य का काल क्रमानुसार कई विभागों में बाँटा जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य का कालविभाग होता है, उसी प्रकार अन्य कलाएँ भी समयानुसार अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। उनका स्वरूप-परिवर्तन अधिकतर साहित्य के स्वरूप-परिवर्तन के अनुरूप ही हुआ करता है; क्योंकि साहित्य की ही भाँति अन्य कलाएँ भी जनता की चित्तवृत्ति पर अवलंबित रहती और उन चित्तवृत्तियों के हेर फेर के साथ स्वयं भी परिवर्तित होती रहती हैं। यहाँ हम विभिन्न ललित कलाओं का वर्णन सुगमता के लिये हिंदी साहित्य के उपर्युक्त कालविभाग के अनुसार करेंगे।

वास्तुकला तथा मूर्तिकला

ऊपर हमने हिंदू तथा मुस्लिम स्थापत्य का जो भेद बतलाया है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तियों का निर्माण मंदिर-स्थापत्य का अविच्छिन्न अंश है, अतः मूर्तिकला का विकास वास्तुकला के साथ युगपद रूप में हुआ है। मुस्लिम स्थापत्य

आदि काल

में तो इस कला का कहीं पता भी नहीं मिलता, क्योंकि अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार मुसलमान मूर्तिपूजा की कौन कहे मूर्ति-निर्माण तक को कुफ्र समझते थे, परंतु हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों को सदा से प्रधान स्थान प्राप्त रहा है। यहाँ हम वास्तुकला तथा मूर्तिकला का विवरण सम्मिलित रूप से देंगे, क्योंकि भारतीय स्थापत्य में इन दोनों का संबंध प्रारंभ से ही घनिष्ठ तथा अटूट रहा है।

उत्तर भारत के तत्कालीन क्षत्रिय नृपति अधिकतर शाक्त तथा शैव थे और युद्धप्रियता के साथ ही हिंसा तथा मांस-भक्षण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति थी। उस समय का सबसे उत्तम मंदिर-समूह बुंदेलखंड के खजराहो नामक स्थान में है। वहाँ छोटे बड़े पचासों हिंदू तथा जैन मंदिर हैं। हिंदू मंदिरों में सर्वोत्तम कंडरिया महादेव का विशाल मंदिर है, जो जमीन से ११६ फुट ऊँचा और बहुत सुंदर है। इसके नीचे जो भारी कुरसी या चबूतरा बना है उससे इसका विशाल आकार और भी प्रभविष्णु हो गया है। क्रमश: छोटे होते हुए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य हैं, जिनके द्वारा कला में कैलास की अभिव्यक्ति का अनुपम नमूना मिलता है। वहाँ के वैष्णव तथा जैन मंदिरों में विशेष मौलिकता नहीं है, वे सब इसी कंडरिया महादेव के मंदिर के अनुकरण पर हैं और केवल मूर्तियों की विभिन्नता-ही उनकी विशेषता है। मूर्तियों की काट छाँट गुप्तकालीन मुखाकृति की रचना का अनुकरण तथा अलंकरण है। आभूषणों की सजावट में गुप्तकालीन सरलता नहीं है और न हस्त तथा चरण-मुद्राओं में विशेष भाव-भंगी है, केवल लावण्य-शृंगार
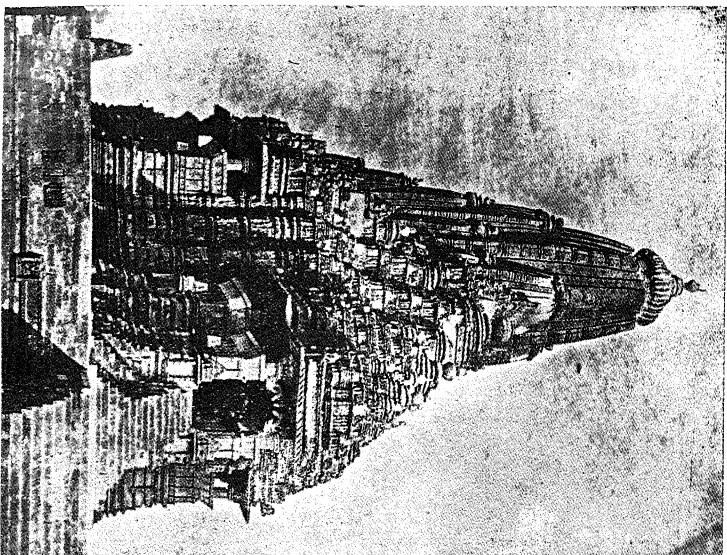
कंडरिया महादेव का मन्दिर (खजराहो)
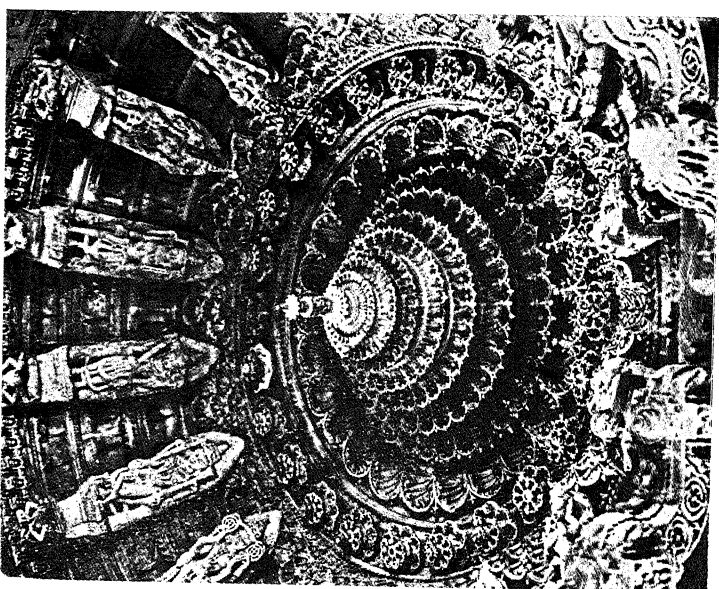
तेजपाल के मन्दिर की छत (आबू)
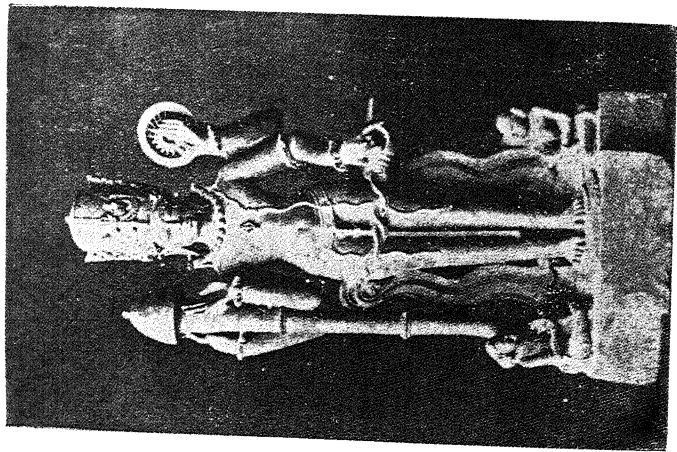
विष्णु की मूर्ति सुलतानपुर
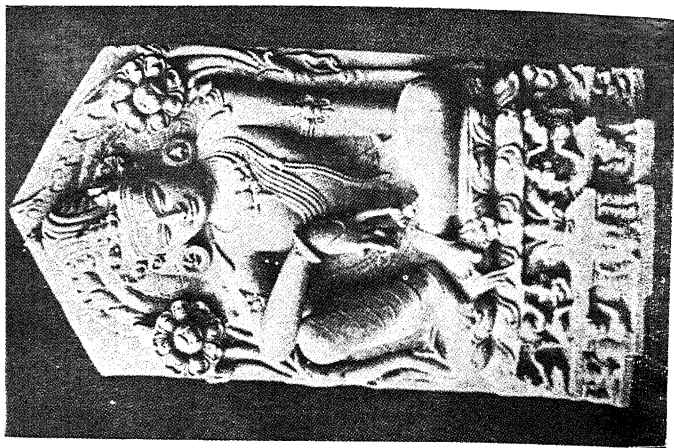
पद्मपाणि की मूर्ति (महोबा)

की प्रचुरता है। तथापि उस काल की जो विशिष्ट मूर्तियाँ हैं, वे गुप्तकाल की सुंदर प्रतिमाओं की समानता करती हैं। सुलतानपुर (अवध) की विष्णु की, महोबा की पद्मपाणि की, तथा भोजनगर (मालवा) की सरस्वती की मूर्तियाँ इसका उदाहरण हैं। इसी समय के लगभग गुजरात की विशेष अलंकृत शैली का जन्म हुआ, जिसका प्रसार पश्चिमी राजपूताने तक था। सोमनाथ, मोडेरा, दभोई तथा सिद्धपुर के मंदिर इसके उदाहरण हैं। परंतु इसका प्रधान और लोकोत्तर उदाहरण विमलशाह का वि० १०३१ में बनवाया हुआ आबू का जैनमंदिर है, जो देखनेवाले की आँखों में आश्चर्य चकाचौंध उत्पन्न कर देता है। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में बने नागदा में सर्वोत्कृष्ट दो मंदिर सास-बहू के हैं, जिनकी स्थापत्य की बड़ी प्रशंसा है। इन तथा अन्य स्थानों के बने हुए तत्कालीन मंदिरों की शैली का विश्लेषण करने पर उनके प्रचुर प्रभविष्णुता, अनुभावता तथा श्रृंगारिकता स्पष्ट झलकने लगती है, जो उस समय की प्रधान राजपूत मनोवृत्तियाँ थीं। साहित्य में ये ही चित्तवृत्तियाँ युद्ध और प्रेम के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई हैं।

जब हम इस काल के मुसलिम स्थापत्य की ओर ध्यान देते हैं तब हमारी दृष्टि पहले पहल दिल्ली की ओर जाती है। दिल्ली के पहले सिंध और अफगानिस्तान में आए हुए अरबों ने कुछ इमारतें बनवाई थीं; परंतु मंसूरा के भग्नावशेषों के अतिरिक्त अब उनका कोई अवशेष-चिह्न नहीं मिलता। गजनी में भी महमूद के समाधि-मंदिर तथा दो मीनारों अथवा विजयप्रासादों के अतिरिक्त स्थापत्य का कोई उल्लेखयोग्य

कार्य नहीं हुआ। दिल्ली की इमारतों में जामा या कवायतुल इस्लाम मस्जिद उस समय की प्रधान कृति मानी जाती है। इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली की विजय के उपरांत किया था और विजयस्मृति में उसे मुसलिम वीरत्व का निदर्शन मानकर तदनुरूप उसका नामकरण भी किया था। इस विशाल मस्जिद को कुतुबुद्दीन के परवर्ती अल्तमश तथा अलाउद्दीन खिलजी आदि नृपतियों ने अधिकाधिक विस्तृत तथा अलंकृत किया। पहले इसमें हिंदू स्थापत्य की ही प्रधानता थी, परंतु ज्यों ज्यों दिल्ली में मुसलमानों का सिक्का जमता गया और उन्हें साधन मिलते गए त्यों त्यों इस मस्जिद का रूप-परिवर्तन भी होता गया और इसमें मुस्लिम कारीगरी बढ़ती गई। वि० १२८९ कुतुब-मीनार के निर्माण का समय है। संभवत: इसकी रचना का प्रारंभिक उद्देश्य कुछ और ही था, पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का स्मारक बन गया। प्रारंभ में यह लगभग २२५ फुट ऊँचा था। इसमें कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। प्रत्येक मस्जिद के कोने पर मीनार होते हैं। इससे अनुमान होता है कि लोहस्तंभ के निकटवाली, हिंदू मंदिरों को तोड़कर बनाई हुई मस्जिद का यह मीनार होगा, पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का चिह्न बन गया। इसकी मरम्मत भी दिल्ली की शासक-परंपरा ने बराबर की है। यद्यपि कुतुब में भारतीय अलंकरणों का समावेश देखकर तथा दो नागरी लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे पृथ्वीराज द्वारा निर्मित बतलाया है, किंतु ऐसी आशंका करना उचित नहीं जान पड़ता। यह कहीं से परिवर्तित की हुई इमारत नहीं है, अपने मौलिक रूप में ही है।
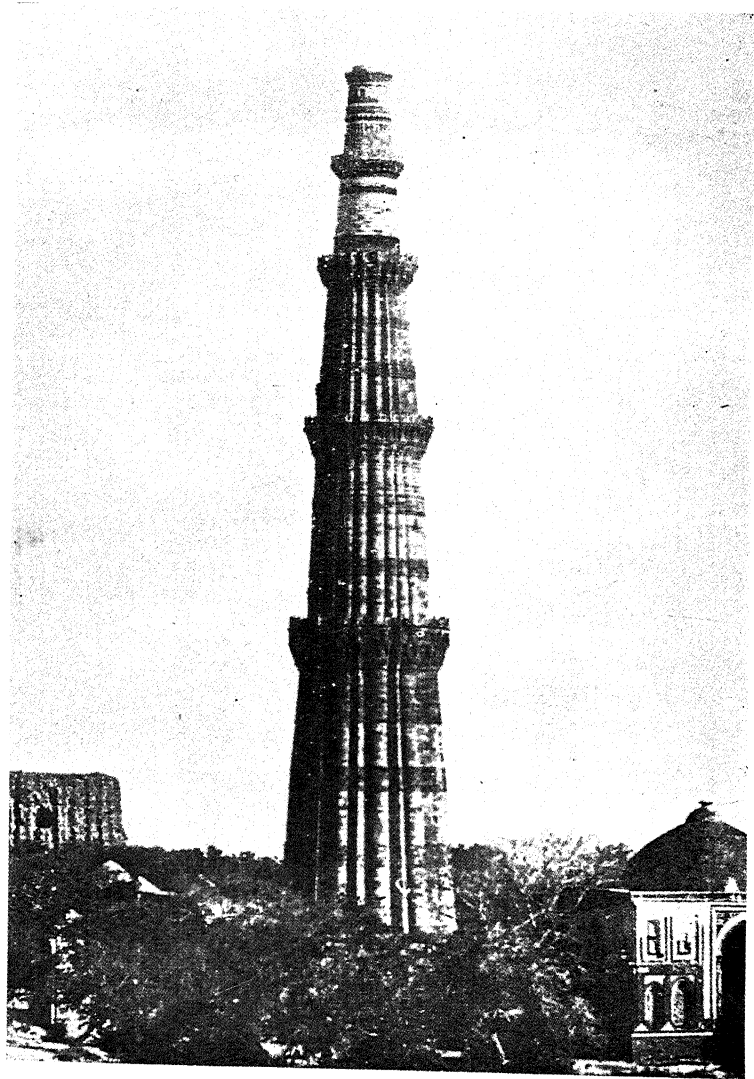
कुतुबमीनार (दिल्ली)

तेरहवीं शताब्दी की बनी हुई अजमेर की "ढाई दिन का झोपड़ा" मस्जिद दिल्ली की 'कवायतुल इस्लाम' मस्जिद की ही भाँति भव्य तथा विशाल है। इस काल की ये ही विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन प्रसिद्ध इमारतों से मुसलमानों के प्राथमिक विजयोल्लास का पूरा पूरा अनुभव हो जाता है।

जब दिल्ली का शासन खिलजियों के वंश से निकलकर तुगलक वंश के हाथ में आया, तब वहाँ के स्थापत्य में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस समय तक मुसलमानों का प्राथमिक उल्लास बहुत कुछ शिथिल पड़ गया था और अब वे धर्म के शुचितर सिद्धांतों तथा जीवन की गंभीर समस्याओं की ओर ध्यान देने लगे थे। अतएव आदि काल के मुसलिम स्थापत्य में जो अलंकरणाधिक्य और बाह्य सुंदरता थी, वह इस काल में कम हो चली। यद्यपि आर्थिक स्थिति ने भी सरलता और सादगी की ओर प्रेरित किया, पर मनोवृत्ति में भी परिवर्तन अवश्य हुआ। इस काल की सभी प्रसिद्ध इमारतों में एक पूत भावना का समावेश सा जान पड़ता है। गयासुद्दीन के बनवाए हुए तुगलकाबाद (सं० १३७८—८२) का संपूर्ण स्थापत्य तथा विशेषत: उसकी समाधि, आदि इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं। फीरोजशाह के बनवाए हुए कोटला फिरोज-शाह आदि भी स्थापत्य की दृष्टि से अनलंकृत कोटि के हैं। फीरोजशाह के प्रधान मंत्री खानेजहाँ तिलंगानी की कब्र भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है; परंतु यह भी आदि काल की मुसलिम इमारतों के सामने बिलकुल सादी और उजाड़ सी जान पड़ती है। इस काल की कृतियों में भारतीय प्रभाव उतना अधिक नहीं है, जितना आगे चलकर मुगल काल में हुआ।

पूर्व मध्य काल

सैय्यद और लोदी शासकों के समय में स्थापत्य की दशा अच्छी नहीं रही। उनके पास उत्तम स्थापत्य के उपयुक्त साधन ही नहीं थे। अंत में जब मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई और सुख-समृद्धिपूर्ण समय आया, तब स्थापत्य को नए सिर से अभ्युत्थान का अवसर मिला। मुगल स्थापत्य का आरंभ हुमायूँ के मक़बरे से हुआ। इसमें सादगी, प्रभविष्णुता और भव्यता के साथ साथ भारतीयता का भी सन्निवेश हुआ। इसकी छेंकन सर्वथा भारतीय अर्थात् पंचरत्न, बौद्ध समाधि या देवालय की है। मुगल कला पर भारतीय प्रभाव का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। हुमायूँ के उपरांत जब इस देश के शासन की बागडोर अकबर के हाथों में गई, तब हिंदू और मुसलिम शैलियों का संमिश्रण जैसे अन्य चेत्रों में हुआ, वैसे ही स्थापत्य में भी हुआ। उसकी बनवाई हुई फतहपुर सिकरी की इमारतें देखने में बिलकुल हिंदू इमारतें जान पड़ती हैं। इनके अलंकरण भी अकबर के ही योग्य हुए हैं—न कम न अधिक; मानो उनमें पूर्णता आँखें खोलकर मुसकरा रही हो। अकबर की ही बनवाई हुई वहीं की जामा-मस्जिद भी अपनी मिश्रित कला के लिये प्रसिद्ध है, मानों वह सब प्रधान धर्मों के उपासकों का सम्मिलित उपासना-गृह हो। इसके अतिरिक्त जोधबाई का महल, मरियम ज़मानी के भवन, स्वयं अकबर का निवास-भवन, दीवानआम, दीवान-खास आदि सब अपने ढंग की बहुत ही उच्च कोटि की इमा-रतें हैं। जहाँगीर ने अकबर की परंपरा के रक्षण की चेष्टा की। उसने आगरे के किले में आँगनदार महल तथा लाहौर और काश्मीर में शालीमार बाग बनवाए जिनमें फौवारों,
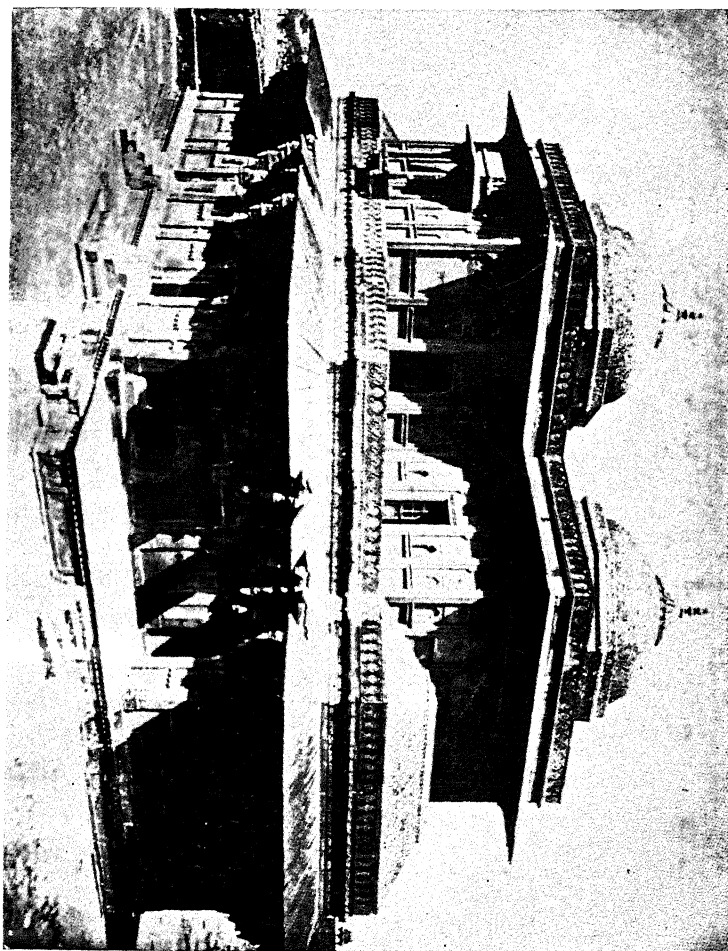
राजा वीरबल का महल (फ़तहपुर सिकरी)
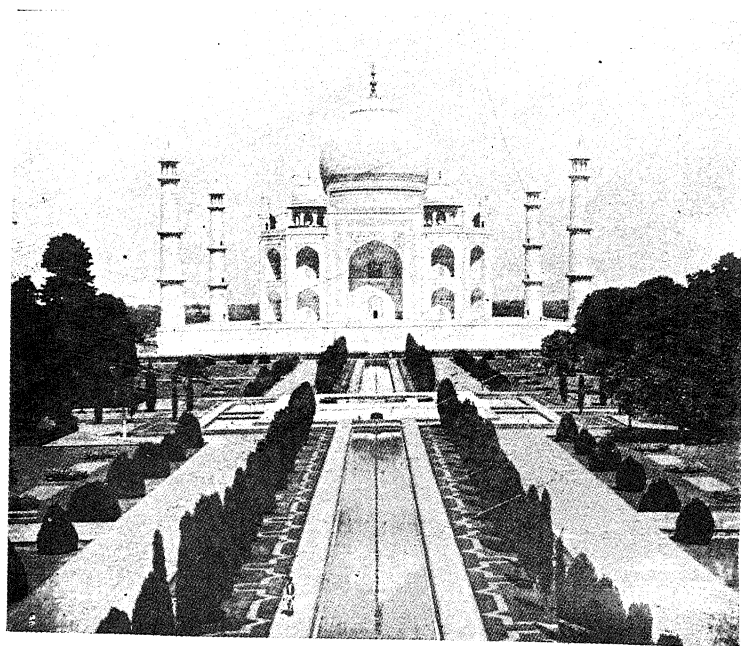
ताजमहल (आगरा)
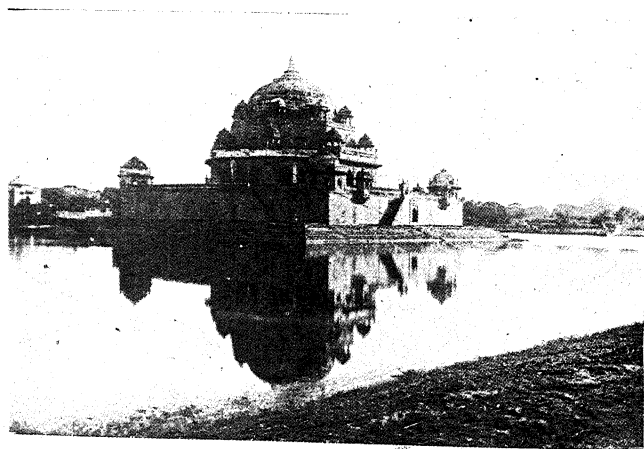
शेरशाह का मकबरा (सहसराम)

जल-प्रपात तथा प्रवाह का सौंदर्य दर्शनीय है। मुगलों के स्थापत्य का चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की प्रियतमा मुमताज़महल का मकबरा ताजमहल है जो एक रत्नजटित आभूषण सा सुंदर एवं मनोमोहक बना है। इसकी गणना संसार की कतिपय सर्वोत्कृष्ट मानव रचनाओं में विशेष आदर के साथ की जाती है। दिल्ली में शाहजहाँ का बनवाया हुआ लाल पत्थर का किला तथा बड़ी जामा-मस्जिद आदि अन्य उत्कृष्ट स्थापत्य भी उल्लेखनीय हैं।

यह तो शासकों की कृतियों का उल्लेख हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक मुसलमान मांडलिकों की कृतियाँ भी उत्कृष्ट हुई हैं जिनमें जौनपुर तथा गुजरात की, विशेषकर अहमदाबाद की, कुछ इमारतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बिहार में शेरशाह का सहसरामवाला मकबरा भी अपने ढंग का अद्वितीय समझा जाता है। इसका सौम्य तथा गंभीर रूप ही इसकी विशेषता है। इस काल की प्रायः सभी इमारतों में भारतीय भवन-निर्माण-विधि का पूरा पूरा संयोग है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि इस समय हिंदू और मुसलमान एक साथ रहकर हेल-मेल रखना भी सीख रहे थे।

मूर्तिकला का ह्रास इस युग तथा इसके परवर्ती युग की प्रधान विशेषता है। चित्तौड़ का महाराणा कुंभा का कीर्त्ति-स्तंभ और मीराबाई का (कुंभस्वामी) मंदिर भी प्रसिद्ध हैं। संवत् १५४३ का बना हुआ ग्वालियर का किला, १६४७ वि० में निर्मित वृंदावन का गोविंद देव का मंदिर और इसी समय के लगभग बना काशी विश्वेश्वर का प्राचीन मंदिर भी इसी श्रेणी की इमारतें हैं। इन सबमें कुछ न कुछ मुसलिम प्रभाव अवश्य मिलता है। यद्यपि महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ में

बहुत सुंदर मूर्तियाँ बनी हुई हैं, परंतु उनमें इस काल का ह्रास प्रत्यक्ष लक्षित हो जाता है। संवत् १६४६ से १६८७ तक की बनी मानसिंह की आमेर की इमारतों में मुसलिम स्थापत्य की छाप बहुत अधिक पड़ी। वे दिल्ली के दीवान आम की असफल नकल हैं। राजपूताने की वर्तमान भवन-निर्माण-शैली का जन्म यहीं से होता है।

अकबर के समय में बुंदेलखंड में प्रसिद्ध वीर वीरसिंहदेव हुए। उस समय वहाँ हिंदू संस्कृति की जो नवजागर्ति देख पड़ी थी, उसका प्रभाव स्थापत्य पर कम नहीं पड़ा। ओड़छे का सुंदर नगर तथा उसमें चतुर्भुजजी का विशाल मंदिर वहाँ के स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण तो हैं ही, वे हिंदू स्थापत्य में भी एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वीरसिंहदेवजी की छतरी तथा उनके महल भी वास्तुकला के बड़े सुंदर निदर्शन हैं। उनका दतियावाला महल तो सचमुच अद्वितीय है। यहाँ की इमारतों में मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम, प्रायः नहीं के बराबर पड़ा। इनमें व्यर्थ अलंकरणों के अभाव से एक प्रकार की सादगी आ गई है जिससे इनके भारतीय गृहस्थ के शुचितम तथा सुंदरतम आवास होने का आभास मिलता है। अकबर की तुलना में यद्यपि ये वीर बुंदेले कुछ भी न थे, फिर भी अपनी इमारतों के विचार से ये उससे टक्कर लेते हैं।

शाहजहाँ के ताजमहल में मुगल स्थापत्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। यहीं से एक नवीन युग का आरंभ

उत्तर मध्य काल

होता है जिसे हम ह्रास का युग कह सकते हैं। यों तो शाहजहाँ के समय
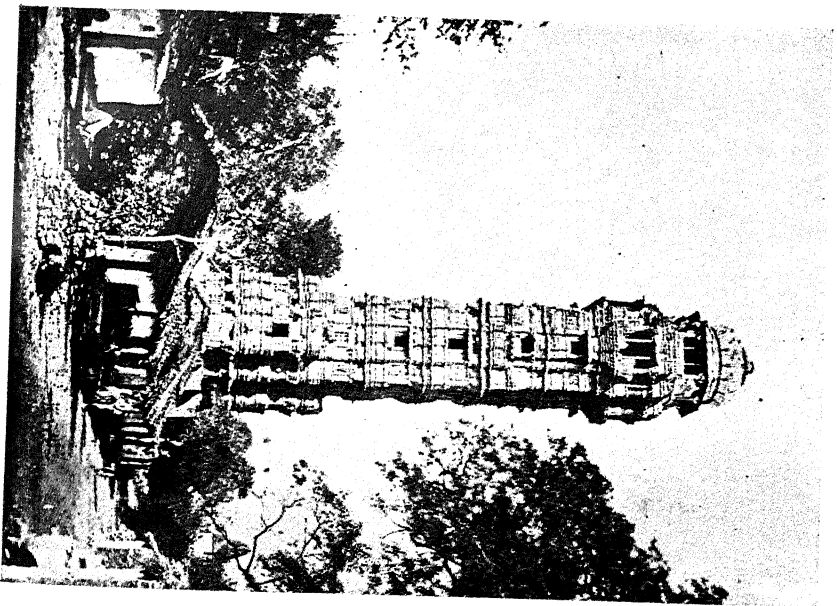
कीर्ति-स्तम्भ (चित्तौड़)
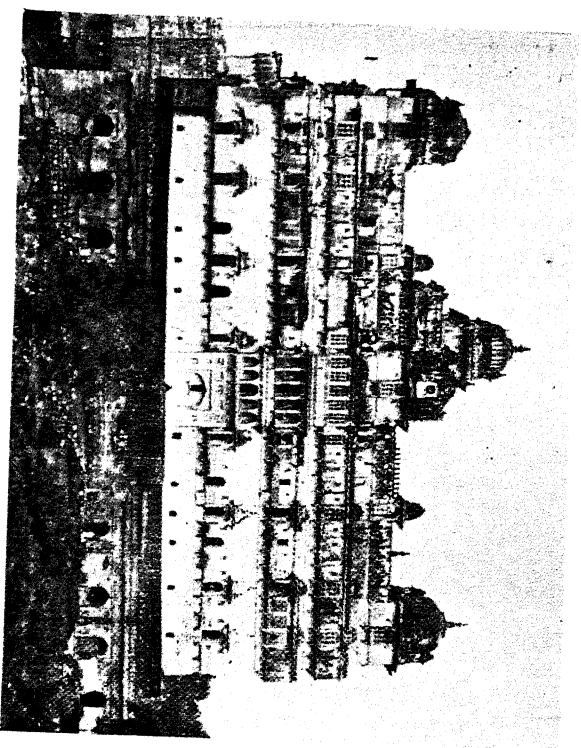
वीर सिंहदेव का महल (दतिया)

से ही मुसलमानों का धार्मिक कट्टरपन जोर पकड़ रहा था, परंतु उसके उत्तराधिकारी औरंगजेब की नृशंसता तो इतिहास-प्रसिद्ध हुई। पुर्तगाली मंदिरों को तुड़वाकर शाहजहाँ ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया था, औरंगजेब ने जीवन-पर्यंत उसकी पुष्टि की। ऐसी अवस्था में ललित कलाएँ उन्नति नहीं कर सकती थीं। औरंगजेब की बनवाई हुई इमारतों में अधिकांश मस्जिदें तो मंदिरों को तोड़कर बनी हैं। उनमें एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई तथा उजाड़पन सा निदर्शित होता है। शाहजहाँ के समय के सुंदर स्थापत्य को उसने ऐसा रूप दिया है, मानों उसकी खाल खिंचवा ली हो। उसकी इमारतों में काशी के गंगा तट पर बनी वह मस्जिद है जो बिंदु-माधव के मंदिर को तोड़कर बनाई गई थी। यह अब भी उसी पुराने नाम "माधवराय का धौरहरा" से पुकारी जाती है। दक्षिण में उसने अपनी बेगम का मकबरा बनवाने में ताज की नकल की, पर उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिली। औरंग-जेब के पीछे मुगलों की कोई विशेष प्रसिद्ध इमारत नहीं बनी। केवल दूसरे शाह आलम ने अहमदाबाद (गुजरात) में कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन-मंदिर-निर्माण-विधि का अनुकरण किया गया। जैनों की मंदिर-निर्माण-कला पूर्ववत् ही बनी रही, उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

जिस प्रकार हिंदी साहित्य की शृंगार-परंपरा के बीच में भूषण का उदय हुआ था, जिनकी वाणी में अद्भुत ओज तथा जातीयता का प्रसार हुआ, उसी प्रकार औरंगजेब की नृशंसता से नष्ट होती हुई वास्तुकला को भी मराठों तथा सिक्खों ने पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया था। मराठों ने काशी

में अनेक घाट और मंदिर बनवाए। मंदिरों में तो प्राचीन शैली का अनुकरण मात्र मिलता है, पर घाटों की विशेषता उनके भारीपन में है, जिसके कारण उनके निर्माताओं की महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित होती है। यदि मराठों की सत्ता जीवित रहती, तो उनका स्थापत्य अवश्य ही विशेष उन्नत होता, परंतु संयोगवश ऐसा न हो सका। सिक्खों की इमारतों में संवत् १८२३ का बना अमृतसर का तालाब और स्वर्ण-मंदिर मनोहर स्थापत्य के निदर्शन हैं। इनमें सौंदर्य और प्रभविष्णुता दोनों हैं। यद्यपि इस मंदिर में ताज की शैली का बहुत कुछ अनुकरण दृष्टिगोचर होता है, पर सादगी और पवित्रता के नए भाव भी इसमें स्पष्ट देख पड़ते हैं।

इस काल में मूर्तिकला तो प्रायः विस्मृत सी हो गई थी। उड़ीसा और गुजरात में प्राचीन परंपरा का निर्वाहमात्र करती हुई मूर्तियाँ बनती रहीं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा का पता नहीं है। नेपाल के हिंदू नृपतियों के संरक्षण में भी इस कला का थोड़ा बहुत विकास होता रहा, परंतु वहाँ की मूर्तिकला पर महायान (बौद्ध) शैली का ही अधिक प्रभाव पड़ा।

लखनऊ के नवाबों की बनवाई हुई इस काल की इमारतों में केवल बड़ा इमामबाड़ा अपनी विशालता के कारण उल्लेखनीय है। यहीं से युरोपीय प्रभाव का आरंभ समझना चाहिए।

वर्तमान काल के स्थापत्य के हम चार मुख्य विभाग कर सकते हैं। (१) पब्लिकवर्क्स डिपार्टमेंट की इमारतें—इनमें शैली के भद्देपन के अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं होती। इनका निर्माण काम चलाने के लिये ही किया जाता है, अन्य किसी उद्देश से

आधुनिक काल
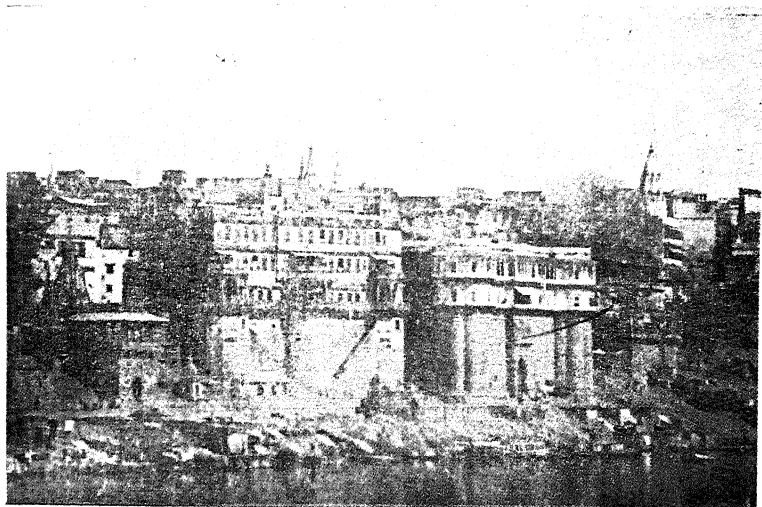
भोंसला और सेंधियाघाट (बनारस)
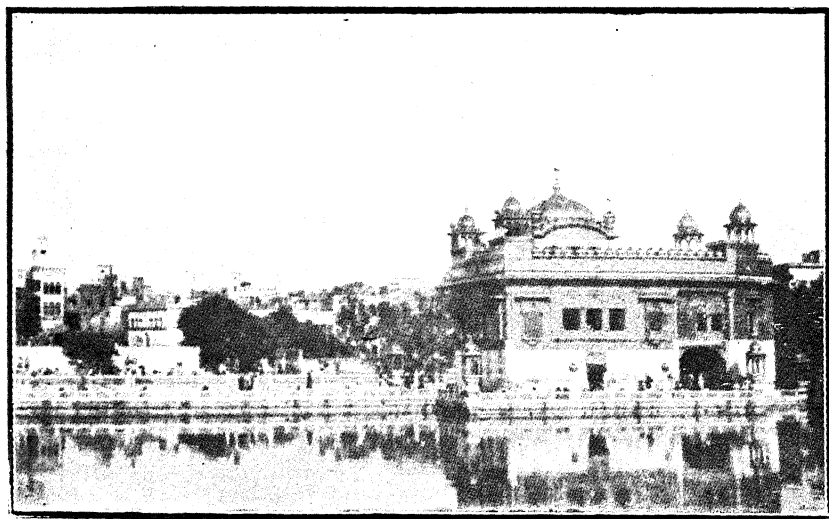
सिक्खों का गुरुद्वारा (अमृतसर)
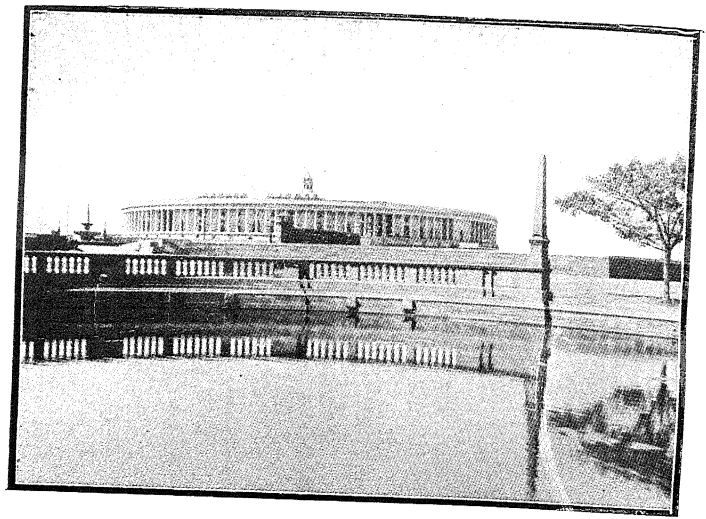
कौंसिल-भवन (नई दिल्ली)
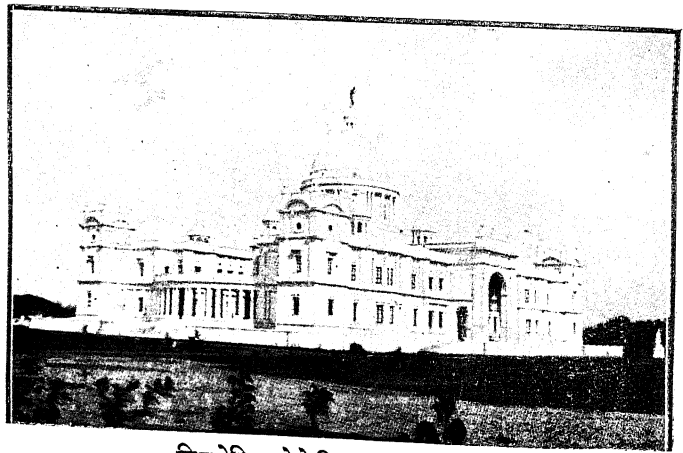
विक्टोरिया-मेमोरियल (कलकत्ता)

नहीं। (२) धनिकों की इमारतें—इनसे हमारा तात्पर्य उन मंदिरों, धर्मशालाओं और निवास-गृहों से है जो देश के सेठ-साहूकार, राजा-रईस आदि बनवाते हैं। इनमें भी स्वतंत्र कला की सजीवता नहीं देख पड़ती। इनकी शैली अधिकतर संकर शैली कही जा सकती है। कला की भावना से हीन कारीगर जहाँ जो चाहते हैं बनाते हैं, कोई पथप्रदर्शक नहीं है। पन्ना का बलदाऊजी का मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। (३) विलायत के बड़े बड़े वास्तुकारों के परिकल्पित भवन—इस श्रेणी में कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल तथा नई दिल्ली के भवन आते हैं। इनका स्थापत्य विदेशीय है, जो हमारे देश से बिलकुल विभिन्न होने के कारण यहाँ की परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। इस दृष्टि से उनकी विफलता प्रत्यक्ष है। (४) इस श्रेणी में वे इमारतें गिनी जा सकती हैं जिनमें भारतीय स्थापत्य की राजपूत शैली के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया है और मनोहरता पर विशेष ध्यान रखा गया है। इसके अंतर्गत काशी विश्वविद्यालय, स्वर्गीय महादेवप्रसाद जायसवाल का मिर्जापुरवाला मकान, पटना म्यूजियम, ग्राउस साहब का बनवाया हुआ बुलंदशहर का टाउनहाल, मथुरा का फाटक, नई दिल्ली की कुछ इमारतें गिनी जा सकती हैं। प्रत्येक प्रकार की कला पर वर्तमान युग के भावों और विचारों का प्रभाव पड़े विना नहीं रह सकता। प्राचीन शैली के साथ इन नए भावों तथा विचारों का सामंजस्य और सम्मिश्रण ही श्रेयस्कर है जिसमें प्राचीन परंपरा बनी रहे और साथ ही नवोत्थित आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

सारांश यह है कि जिस प्रकार धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, साहित्यिक आदि स्थितियों पर युरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है, उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य पर भी उसकी छाप दृष्टिगोचर होती है। जैसे काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में राजपूत और मुगल स्थापत्य का विशेष अनुकरण करने की चेष्टा की गई है, साथ ही खिड़कियों तथा दरवाजों में पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया गया है। कुछ कलाविद इस अनुकरण में भावना या कल्पना का अभाव बतला सकते हैं। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि अब प्राचीन कला के उद्धार तथा भारतीय आदर्शों के अनुसार नवीन विकास की योजना होने लगी है। काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में यह विकास प्रत्यक्ष देख पड़ता और चित्ताकर्षक सिद्ध होता है।

मूर्ति-निर्माण में बंबई के म्हातरे ने अच्छी ख्याति पाई है। दो एक अन्य महाराष्ट्र तथा बंगाली सज्जन भी कार्यक्षेत्र में अग्रसर हो रहे हैं, परंतु प्राचीन मूर्तिकला की आत्मा को सामयिक शरीर देने का कार्य अब तक विधिवत् प्रारंभ नहीं हुआ है।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़े, काग़ज़, लकड़ी, दीवार आदि का चित्रपट है जिस पर चित्रकार अपनी कलम या कूँची की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का कम आश्रय रहता है। इसी

से उसे अपनी कला का सौंदर्य दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपनी कलम या कूँची से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, कृशता, बंधुरता, उन्नमन, अवनमन, संनिकर्ष, विप्रकर्ष, छाया और प्रकाश आदि को यथायोग्य दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असल वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। कोई ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या प्राकृतिक दृश्य के बाहरी अंगों को जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपनी कूँची चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का मुख्य होता है। नीचे हम हिंदी साहित्य के क्रम-विकास के विभिन्न कालों में उत्तर भारत की चित्रकला की अवस्था का दिग्दर्शन कराएँगे।

अजंता की गुहाओं की उत्कृष्ट चित्रकला की शैली इस समय अधःपतित हो रही थी। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ ही भारत

में इस कला का जैसा अनुपम विकास हुआ था, उसके ह्रास के साथ ही उसकी भी अधोगति हुई। इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध काल ही इस देश की चित्रकला का स्वर्ण-युग था। फिर भी चित्रकला का यहाँ कुछ न कुछ प्रचार सदा बना रहा और बीच बीच में उसमें नवीन जागर्ति भी देख पड़ती रही। तत्कालीन प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों में अनेक स्थानों पर चित्रों का वर्णन बड़ी रमणीय रीति से किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जनता की अभिरुचि उस ओर से सर्वथा हट नहीं गई थी। यही नहीं, उस समय चित्राधारों के बनवाने की भी रीति थी और चित्रकारों का समाज में आदर भी अधिक था।

आदि काल

उस काल के तालपत्र पर लिखे कतिपय सचित्र जैन कल्प-सूत्र एवं कालकाचार्य-कथानक मिले हैं जिनमें से एक पाटन (गुजरात) के पुस्तक-भांडार में रक्षित है। यह १२९४ वि० का लिखा है। इन कल्पसूत्रों आदि में जो चित्र हैं वे गुजरात के ही बने हैं एवं इस काल की गिरी दशा के द्योतक हैं। उक्त चित्रकारी को केवल जैन पुस्तकों में पाकर डाक्टर कुमारस्वामी प्रभृति विद्वानों ने उसका नाम जैन चित्रकारी रखा था; परंतु श्रीयुत एन० सी० मेहता की नवीन खोज के अनुसार इस कला को गुजराती कलम कहना चाहिए। इसका प्रचार केवल गुजरात में ही नहीं था, वरन् उत्तर भारत के उस विस्तृत भूभाग में भी था जहाँ हिंदी साहित्य की आदिकालीन वीर-गाथाओं की रचना हुई थी।

यों तो पटों, फलकों और तालपत्रों पर चित्र बनते ही थे, किंतु उस समय तक चित्रण का मुख्य स्थल दीवारें ही थीं।
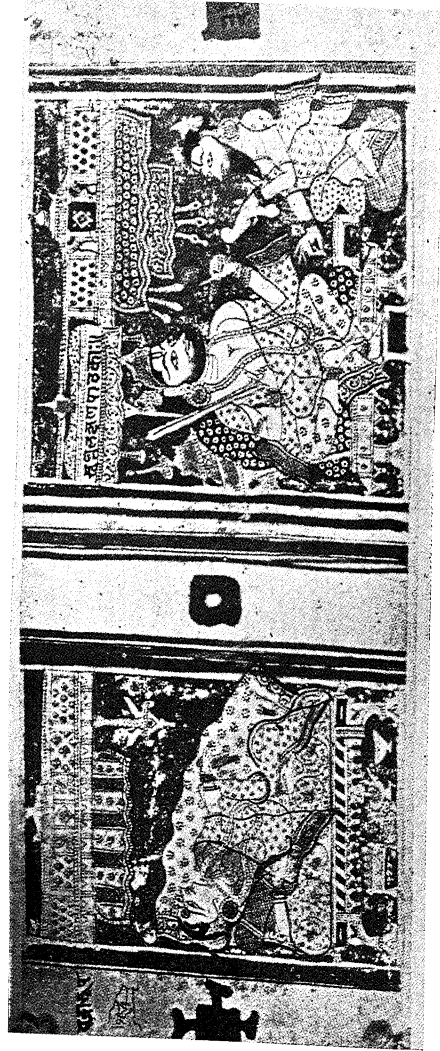
जैन-कल्पसूत्र का चित्र

भीतों की सजावट चित्रों ही द्वारा होती थी और वास्तुविद्या के अंतर्गत यह एक मुख्य कला थी।

इस काल की "वसंत-विलास" नामक एक रचना श्रीयुत एन० सी० मेहता को मिली है। इस पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के सुभाषितों का संग्रह है और बीच बीच में श्रृंगारिक चित्र भी हैं। इसका लिपि-काल १५०८ वि० है। अनुमान होता है कि विलासी श्रीमानों के लिये इस ग्रंथ की ऐसी सचित्र प्रतियाँ उस समय बहुत बनती रही होंगी। इसकी लिपि में थोड़ी थोड़ी दूर पर स्याही के रंग बदले गए हैं और कहीं कहीं सुनहली स्याही का भी प्रयोग किया गया है। हाशिए पर तरह तरह की बेल हैं। इसके चित्रों में कई ऐसे हैं जिनमें आगे की राजस्थान तथा बुंदेलखंड की चित्रकला के बीज मिलते हैं। इस श्रृंगारिक रचना के अतिरिक्त जैन धर्मग्रंथों की भी कतिपय सचित्र प्रतियाँ इस काल में बनी थीं जो अब भी ब्रिटिश म्यूजियम, इंडिया आफिस आदि में रक्षित हैं। भारत में भी कलकत्ते के दो एक बंगाली सज्जनों के संग्रहों में ऐसी कुछ प्रतियाँ हैं।

पूर्व मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अंत तक के इसी शैली के कई चित्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के भारत कला-भवन को प्राप्त हुए हैं। ये अपने ढंग के अनुपम हैं; क्योंकि इनका विषय कोई कथानक काव्य है जिसकी भाषा कहीं फारसी है और कहीं जायसी काल की हिंदी है। ये चित्र कागज पर खड़े बल में (किताबनुमा) बने हैं। दुर्भाग्यवश इस ग्रंथ के केवल छः पन्ने हाथ लगे हैं, वे

भी अभी ठीक ठीक पढ़े नहीं गए। तथापि उनके मिलने से अब यह चित्रण परिपाटी गुजरात की ही सीमा में न रहकर दो-आब तक खिंच आती है।

उत्तर मध्य काल

यद्यपि राजपूत चित्र-शैली का आविर्भाव इस काल के पूर्व सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हो गया था, पर उसका ठीक ठीक विकास कुछ समय के उपरांत हुआ। डाक्टर कुमारस्वामी और श्रीयुत अजित घोष के संग्रहों में कुछ राग रागिनियों के चित्र हैं जिनके रचना-काल के संबंध में बड़ा मतभेद चला था। अंत में वे सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग के लगभग बने माने गए हैं और उनमें चित्रकला के नवीन युग के बीज एवं प्राचीनता के चिह्न स्वीकृत किए गए हैं। राग रागिनियों के चित्र अब तक अविदित थे। पंद्रहवीं शताब्दी की संगीतपुस्तकों तथा सूर और तुलसी के पदों तक में रागों की इस प्रकार की कल्पना नहीं मिलती। तो भी ये राग-परिवार केवल कपोलकल्पना नहीं माने जा सकते, इनमें कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य हैं। छः रागों के ध्यान तो निःसंदेह ऋतुओं के अनुसार हैं, और रागिनियों के ध्यान भी संभवतः उनके द्वारा उद्दीप्त भावों का अभिव्यंजन करते हैं। कहा जाता है कि उक्त रागमाला के चित्र राजपूताने अथवा बुंदेलखंड में बने थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये चित्र मालवा की कलम के हैं क्योंकि उन दिनों वही एक संगीतप्रधान केंद्र था, पर राजपुताने में भी राग-रागिनियों के चित्र दो ढाई सौ वर्ष पहले के बने मिलते हैं। जो कुछ हो, राजपूत शैली की राजस्थानी शाखा का मुख्य विषय आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक राग-

मलार रागिनी का पुराना चित्र
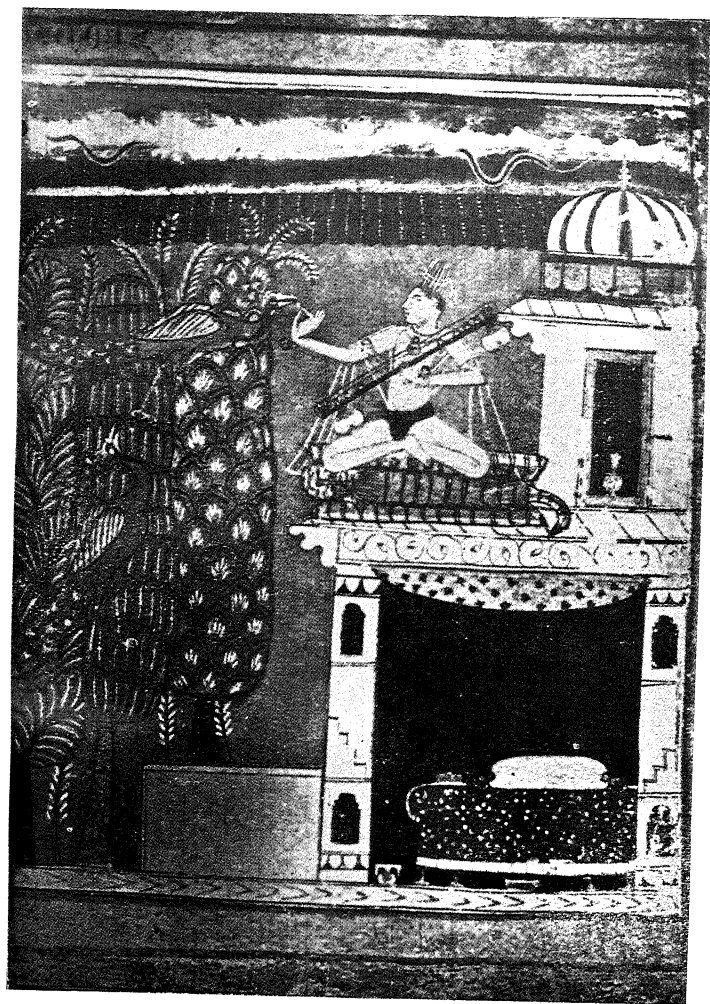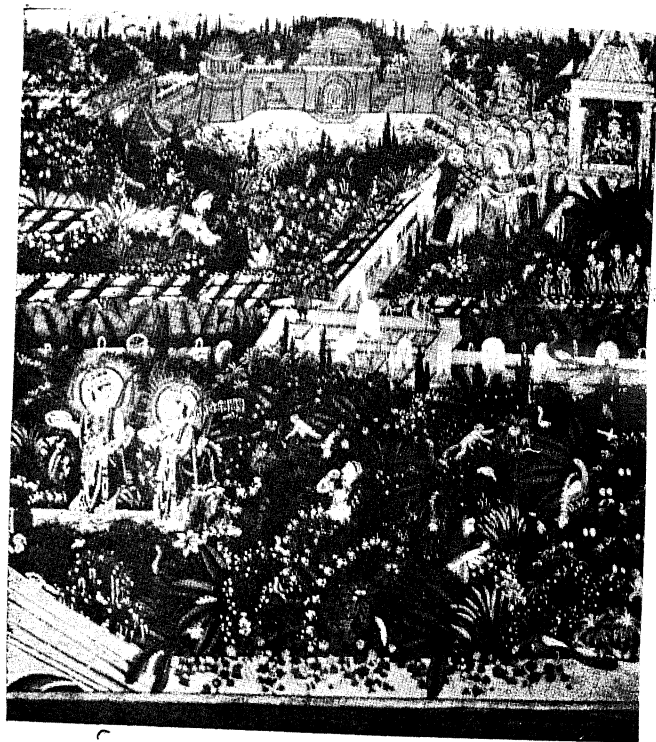
जनकपुर में फुलवाड़ी का दृश्य (कलाभवन काशी)

माला ही रहा है। इस काल में बारहमासा के चित्रों तथा धार्मिक चित्रों की ओर भी ध्यान दिया गया। धार्मिक चित्रों में कृष्णलीला को ही प्रधानता दी गई। नायिका-भेद या साहित्यिक विषयों के चित्र भी कुछ कुछ मिलते हैं। लाहौर म्यूजियम और जयपुर म्यूजियम में हम्मीरहठ के चित्रों का तथा बृटिश म्यूजियम और भारत कलाभवन में बारह मासे और नायिकाओं के चित्रों का अच्छा संग्रह है। इस शैली के चित्रों में वास्तविकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना कल्पना की ओर रहता था। काशिराज के पुस्त-कालय के रामचरितमानस, भारत-कला-भवन के अधूरे बाल-कांड और मधुमालती इसके उदाहरण हैं। बुंदेलखंडी शैली इसी राजस्थान शैली की परवर्ती शाखा थी। हम हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का आरंभ केशव की रचनाओं से पाने लगते हैं और चिंतामणि के समय तक उसके प्रत्यक्ष लक्षण देख पड़ते हैं। तदनुसार चित्रकला का उत्तर मध्य काल केशव की समकालीन बुंदेल-जागर्ति से मानना उचित होगा। बुंदेलों ने अकबर और जहाँगीर के काल में अत्यंत साधारण स्थिति से उठकर जो प्रमुखता प्राप्त की थी, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस नवीन अभ्युदय के परिणाम स्वरूप अन्य क्षेत्रों की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रगति देख पड़ी। इसका लक्ष्य केशव की कविताओं को चित्रित करना, नायिका-भेद एवं रागमाला आदि बनाना था। आगे चलकर दतिया दरबार में इसी कलम की देव, मतिराम और विहारी की चित्रावली भी बनाई गई। चित्रकारों ने ज्योतिष और धर्मसंबंधी तथा अन्य चित्र भी अंकित किए थे, पर प्रधानता शृंगार की ही थी।

बुंदेल चित्रकला का हिंदी साहित्य के विकास के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

राजपूत शैली की दूसरी शाखा पहाड़ी चित्रकला के रूप में विकसित हुई परंतु हमारे अन्वेषण-क्षेत्र से इसका विशेष संबंध नहीं है। काँगड़ा आदि इस चित्रकला के प्रसिद्ध क्षेत्र हिंदी साहित्य के विकास-क्षेत्र के बहुत कुछ बाहर ही रहे। इसी प्रकार सिक्खों के द्वारा भी अमृतसर में चित्रकला की थोड़ी बहुत उन्नति हुई परंतु उससे हमारा सम्पर्क बहुत थोड़ा है।

इस देशी चित्रकला के साथ ही यहाँ के मुसलमान अधिपतियों, विशेषकर मुगलों के संरक्षण में भी चित्रकला का अच्छा विकास हुआ, परंतु यह सब होते हुए भी हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकाल की सबसे लोकप्रिय चित्र-रचना-शैली राजपूताने की ही है जिसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। यही शैली जनता की चित्तवृत्ति की सबसे अधिक द्योतक है।

आधुनिक काल

संवत् १९१४ के बलवे के साथ ही भारत में जो युगांतर उपस्थित हुआ, उसके साथ यहाँ की चित्रकला प्रायः निःशेष हो गई और युरोप के बने चित्रों से भारत के रईसों अमीरों तथा राजाओं के घरों का सजाव-शृंगार होने लगा। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि यूरोप के भद्दे छपे रंगीन चित्र भारतवर्ष के घर घर में व्याप्त हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में रवि वर्मा की बड़ी धूम हुई परंतु उनके बनाए कुछ चित्र तो बहुरूपियों की प्रतिकृति मालूम होते हैं। उनमें कोई लोकोत्तर बात नहीं है, उनसे केवल हिंदू चित्रण-विशेष का पुनरुत्थान अवश्य हुआ। राजा रवि वर्म्मा के इस प्रकार के

अवनीन्द्रनाथ अंकित महारानी तिक्ष्यरक्षिता
(सम्राट् अशोक की महारानी)

चित्रों में गंगावतरण और शकुंतला-पत्र-लेखन मुख्य है। धुरंधर ने प्राचीन वेष-भूषा की ओर कुछ ध्यान दिया; किंतु उनकी रचनाओं में कोई भाव, रस या प्राण नहीं मिलता।

श्रीयुत अवनींद्रनाथ ठाकुर और उनके उद्भावक स्वनामधन्य श्रीयुत हैवेल के उद्योग से भारत में एक नई चित्रकला का जन्म हुआ है। अजंता की प्राचीन शैली के मुख्यतः, तथा राजपूत-मुगल शैली की कुछ बातों और चीन जापान की अंकन तथा अभिव्यंजन विधि के मेल से यह नवीन शैली निकली है। इसमें एक निजी मौलिकता है। प्रारंभ में, भावों का व्यंजन करना तथा प्राचीन दृश्य आदि दिखाना इसकी विशेषता थी; पर अब यह लोक के सामान्य दृश्य तथा प्रकृति के उत्तमोत्तम चित्रों का चित्रण भी करती है। ठाकुर महाशय की शिष्य-मंडली देश में इस समय अच्छा काम कर रही है।

कंपनी के समय में पटने में कई कारीगरों ने पाश्चात्य ढंग से "शबीह" बनाने का अभ्यास किया था। मुगल कला की गिरती अवस्था में इनका अच्छा प्रचार हुआ था और अब भी कलकत्ते के प्रो० ईश्वरीप्रसाद और उनके सुपुत्र नारायणप्रसाद एवं रामेश्वरप्रसाद इस शैली के विश्रुत चित्रकार हैं। मुगल शैली के दो तीन बचे चित्रकारों में काशी के श्री रामप्रसाद का आसन बहुत ऊँचा है।

संगीत कला

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में हिंदू समाज को अनंत समय

लगा है। वेद के तीन स्वरों से बढ़ते बढ़ते संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हुए। ये ही सप्त स्वर संगीत कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। संगीत कला का आधार या संवाहन नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा व्यापक है और वह अनादि काल से मनुष्य मात्र पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव से वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पत्ती तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय को स्वच्छ और निर्मल कर सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों के द्वारा मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पत्तियों का कलरव हमारे कर्ण-कुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात संगीत की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्यकला

को छोड़कर और कोई कला नहीं हो सकी। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है। संगीत-कला और काव्यकला में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है। एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

यों तो आर्यों का वैदिक काल से ही संगीत से घनिष्ठ संबंध था और उन्होंने संगीत शास्त्र पर सामवेद रच डाला था।

आदि का

परंतु वि० ११०० के लगभग तो उनकी संगीत कला अत्यधिक उन्नत हो चुकी थी और वे संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न थे। कुछ विद्वानों की सम्मति में राजपूतों के तत्कालीन पतन का संगीत एक प्रधान कारण था।

उस समय के राजदरबारों में संगीत का विशेष प्रवेश ही नहीं था, वरन् स्वयं राजागण इसके पंडित होते थे। इनमें से नान्यदेव, भोज, परमर्दि चंदेल और जगदैकमल्ल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे संगीत की उन्नति और प्रचार के लिये उसकी शिक्षा की व्यवस्था करते थे और समय समय पर उसके सम्मेलन भी कराते थे। जिस प्रकार नाट्यकला के आदि आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं उसी प्रकार संगीत कला के आदि आचार्यों में भी उनका स्थान विशिष्ट है। उनका नाट्यशास्त्र केवल अभिनय कला का ही प्रमुख शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, वरन् संगीत और नृत्य कलाओं के संबंध में भी वह भरत मुनि की विशेष योग्यता तथा अनुभव का परिचायक है।

संवत् १२५० के लगभग का संगीताचार्य शार्ङ्गदेव का लिखा हुआ "संगीतरत्नाकर" नामक एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसे देखने से जान पड़ता है कि उस समय देश भर में जो संगीत प्रचलित था, उसका प्रकृत वंशधर वर्तमान कर्णाटकी संगीत है। उसमें जो गेय कविताएँ मिलती हैं वे संस्कृत की हैं, परंतु बोल-चाल की भाषा में भी गीतों की रचना उसके पहले ही से होती थी। संस्कृत तथा बोल-चाल की भाषा की कविताएँ सतुकांत होती थीं। जान पड़ता है कि सतुकांत कविता की सृष्टि संगीत के ही कारण हुई होगी। आज भी गायक समुदाय ऐसे भजनों का व्यवहार कम करते हैं जिनमें तुकों का जोड़ बदला रहता है। शार्ङ्गदेव के उपरांत इस देश में, विदेशीय रागों के सम्मिश्रण से उस संगीत का जन्म हुआ जिसे हम हिंदुस्तानी संगीत कहते हैं। लोकोत्तर प्रतिभाशाली, अद्भुत मर्मज्ञ और सहृदय अमीर खुसरो को इस नवीन परंपरा के सृजन का श्रेय प्राप्त है। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा भारतीय रागों को फारस के रागों से मिला कर १५-२० नए रागों की कल्पना की, जिनमें से ५-६ आज भी हिंदुस्तानी संगीत में प्रचलित हैं। ईमन और शहाना आदि ऐसे ही राग हैं। ख्याल परिपाटी का गाना उन्हीं ने निकाला था।

जौनपुर की पठान सल्तनत ने भी संगीत की विशेष उन्नति की थी। हुसेनशाह शर्की स्वयं बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने कई रागों की परिकल्पना की थी और एक दूसरी परिपाटी के ख्याल का गाना चलाया था। इन्हीं दिनों मेवाड़ के राणा कुंभा ने संस्कृत के गीतगोविंद पर एक टीका लिखी थी और संगीत कला पर अच्छा प्रकाश डाला था। इस काल में संगीत

के अनेक ग्रंथ लिखे गए जिससे सिद्ध होता है कि संगीत की इस समय अच्छी उन्नति हुई थी।

इस काल में अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक नामक संगीत के अच्छे आचार्य हुए। अलाउद्दीन यद्यपि अत्याचारी था, परंतु गुणियों का ग्राहक भी था। गोपाल को वह दक्षिण से लाया था, जिसकी रचनाएँ अब तक मिलती हैं, किंतु उनमें बहुत सा प्रक्षिप्त अंश अब मिल गया है।

पूर्व मध्य काल

संगीत के प्रसिद्ध आचार्य और गायक बैजू बावरा का समय सोलहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग है। वे गुजरात में उत्पन्न हुए थे और ग्वालियर के राजा मान तोमर के यहाँ उन्होंने शिक्षा पाई थी। ये महाराज स्वयं संगीत में पारंगत थे और ध्रुपद प्रणाली के परिष्कारक, उन्नायक तथा प्रचारक थे। ध्रुपद संस्कृत छंद पर अवलंबित है और ध्रुवा नामक गीत से इसका घनिष्ठ संबंध है। मान तोमर के समय से लेकर मुहम्मदशाह रँगीले के समय तक इस प्रणाली का एकच्छत्र राज्य रहा। अब भी यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, यद्यपि लोकरुचि इस समय इसकी ओर नहीं है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि संगीत की यह पद्धति कलावंतों की पद्धति है, जिसे आजकल पक्का गाना कहते हैं। इसके अतिरिक्त गाने की दो शैलियाँ और भी प्रचलित थीं। एक तो पदभजन की, जिसके ज्ञात आदि आचार्य जयदेव जी कहे जा सकते हैं और जिसके अधिक प्रचार का श्रेय तानसेन, उनके गुरु स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश जी को प्राप्त है। विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी आदि की कविता भी इसी

प्रकार की है। इस ढंग के सभी गायक वैष्णव हुए हैं अतएव इसे वैष्णव शैली कहना उपयुक्त जान पड़ता है। इन लोगों ने स्वरों का सौंदर्य दिखाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, वे अधिकतर रसों और भावों की अभिव्यक्ति ही करते रहे। दूसरी प्रणाली संतों के गान की है। इन अनंत प्रेम के मतवालों ने, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों सम्मिलित हैं, बड़ी मस्ती से गाया है। मुसलमान संतों के इस गान के कव्वाली, सनमगनम आदि विभेद हुए और हिंदू संतों के गान "बानी" कहलाए। यहाँ बानी का अर्थ वाङ्मय रचना नहीं है, यह शब्द उन रचनाओं के गान की रंगत का द्योतक है।

अकबर के समय में अन्य सभी कलाओं की भाँति संगीत की भी उन्नति हुई। स्वयं सम्राट् भी नकारा बजाने में सिद्धहस्त थे। उनकी बनाई नकारे की कुछ नई गतें अब तक 'अकबरी गत' के नाम से प्रचलित हैं। इसी समय के स्वामी हरिदास वैष्णव महात्मा तथा संगीताचार्य हुए। इनके शिष्य तानसेन वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के मूलपुरुष हैं। तानसेन पहले रीवाँ दरबार में थे, वहाँ से सम्राट् के पास उपहारस्वरूप भेजे गए थे। पहले ये ब्राह्मण थे, पीछे से मुसलमान हो गए। इनकी कब्र ग्वालियर में है जहाँ कलावंत तीर्थ करने जाते हैं। अकबर और उसके वंशजों के दरबार में भारत के संगीत को ही स्थान मिला था और रुबाब, सारंगी आदि जो विदेशीय वाद्य यंत्र थे वे भी हिंदुस्तानी संगीत के अनुकूल बना लिए गए थे। अकबर के समय में ही पदभजन के अद्वितीय गायक और रचयिता महात्मा सूरदास हुए जिन्होंने साहित्य और संगीत का अद्वितीय सफलता से संयोग किया। जहाँगीर और शाहजहाँ

के राजत्वकाल में अकबरी संगीत का ही अलंकरण होता रहा; कोई मौलिक उद्भावना नहीं हुई। महाकवि तुलसीदास की रचनाओं से भी उनकी संगीतज्ञता का परिचय मिलता है।

औरंगजेब के समय में संगीत पर बड़ा कुठाराघात हुआ। क्रूर सम्राट् ने कड़ी आज्ञा देकर दरबार से संगीत का बहिष्कार कर दिया। यद्यपि मुहम्मदशाह रंगीले के राज्य में संगीत की पुनर्जागर्ति के चिह्न देख पड़े परंतु वह अपना असली रूप नहीं पा सका। मुहम्मदशाह के समय में ध्रुपद वानी के 'ख्याल' का खूब प्रचार हुआ था और पंजाब के मियाँ शोरी नामक एक उस्ताद ने "टप्पा" नामक गानशैली को जन्म दिया था जिनमें गले से "दानेदार" तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।

उत्तर मध्य काल

दिल्ली के नाश के साथ साथ वहाँ का गायक-समुदाय भी छिन्न-भिन्न होने लगा। राजाओं तथा नवाबों ने उसे आश्रय दिया। मराठों ने संगीत को खूब अपनाया। ख्याल के पिछले सभी आचार्य ग्वालियर में ही हुए। अब भी ख्याल का वह सबसे बड़ा केंद्र है।

कृष्णानंद व्यास नामक एक संगीतप्रेमी किंतु अर्थहीन ब्राह्मण सज्जन ने असाधारण परिश्रम करके सं० १९०२ के लगभग 'रागकल्पद्रुम' नामक संग्रह चार विशाल खंडों में प्रकाशित किया। गेय साहित्य का सचमुच यह ग्रंथ कल्पद्रुम है। उस काल में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक संकीर्णचित्त गायकों से उनकी चीजों का संग्रह करना अवश्य ही भगीरथ प्रयत्न था।

अवध के अधीश्वर वाजिद अलीशाह ने ठुमरी नामक गानशैली की परिपाटी चलाई। यह संगीतप्रणाली का अन्यतम

स्त्रैण और शृंगारिक रूप है। इस प्रकार अकबर के समय के ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली, उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायिकी तथा वाजिद अलीशाह के समय की रंगीली रसीली ठुमरी अपने अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।

वर्तमान काल

वर्तमान संगीत की दशा बहुत गिरी हुई है। प्राचीन गायक केवल स्वरों का रियाज और कलाबाज़ी दिखाना ही संगीत समझते हैं, गेय कविता बुरी तरह से तोड़ मरोड़ दी गई है। हारमोनियम के प्रचार और थियेट्रिकल गाने की अभिरुचि ने भारतीय संगीत पर विशेष आघात पहुँचाया है। हारमोनियम का एक स्वर दूसरे स्वर से जुडकर नहीं बज सकता, अतः उसमें श्रुतियाँ या मीड़ नहीं निकल सकतीं; और हिंदुस्तानी संगीत की यह एक प्रधान विशेषता है कि उसमें दो तो क्या चार चार पाँच पाँच स्वर मीड़ वा तान के रूप में एक साथ आश्लिष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन हिंदू संगीत कोंकण और मद्रास में जीवित रह आया है। वीणा तंत्र भी वहीं अब तक जीवित है। प्राचीन संगीत के उद्धार, परिष्कार और उन्नति के लिये श्रीविष्णु दिगंबर और श्रीविष्णु नारायण भरतखंडे ने बहुत उद्योग किया है और कर रहे हैं। भरतखंडेजी संगीत के प्रयोग के ही नहीं, शास्त्र के भी बहुत बड़े विद्वान् हैं और उन्होंने स्वरलिपि की जो पद्धति निकाली है, वह बहुत सरल, संक्षिप्त और

प्राय: सर्वमान्य है। रागों के लक्षण के गीत तत् तत् रागों में बाँधकर उन्होंने संगीत के विद्यार्थियों का मार्ग बहुत सुगम कर दिया है। उनके उद्योग और प्रेरणा से बड़ौदा, ग्वालियर, बंबई, लखनऊ तथा अन्य कई स्थानों में संगीत की बड़ी बड़ी और सफल पाठशालाएँ चल रही हैं।

बंगाल भी आज से ५० वर्ष पहले से ही आधुनिक संगीत में दत्तचित्त है। स्वर्गीय राजा सौरेंद्रमोहन ठाकुर और कृष्ण-धन वंद्योपाध्याय आदि ने इस क्षेत्र में बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के संगीत का एक निराला ढंग है, पर वह सर्वमान्य नहीं है। यहाँ के जिस संगीत में लोकाभिरुचि है, वह यद्यपि हिंदुस्तानी संगीत है, किंतु उस पर पाश्चात्य संगीत की छाया विशेष पड़ी है। इस समय संगीत के उन्नयन के लिये जो उद्योग पूना के बालिका विश्व-विद्यालय, काशी विश्वविद्यालय, बोलपुर के विश्व भारती विद्यालय आदि में हो रहा है उससे इसका भविष्य बहुत कुछ आशा-प्रद जान पड़ता है।

उपसंहार

ऊपर हम विविध कलाओं के विकास का जो संक्षिप्त विवरण दे आए हैं उससे हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। सब कलाएँ मानव चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल में हमारी जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है। हमने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है और प्रत्येक काल की परिस्थिति का विवेचन किया है। अन्य ललित कलाओं का दिग्दर्शन करते हुए भी हमने साहित्य के

उपर्युक्त चार काल-विभागों को प्रधानता दी है और उसी के अनुरूप सब ललित कलाओं का काल-विभाग भी किया है। इस प्रकार जब हम विभिन्न कालों की साहित्यिक परिस्थिति के साथ उन उन समयों की ललित कलाओं की परिस्थिति की तुलना करते हैं तब एक ओर तो हम उनमें बहुत कुछ समता पाते हैं, पर जहाँ कुछ विभेद मिलता है वहाँ उस काल की जनता की उन चित्तवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है जिनका प्रतिबिंब साहित्य में नहीं देख पड़ता। इससे हमको बहुत कुछ व्यापक रीति से तत्कालीन स्थिति को समझने में सहायता मिलती है।

हिंदी का आदि काल वीर गाथाओं का काल था। प्रबंध काव्यों और वीर गीतों के रूप में वीरों की प्रशस्तियाँ कही गईं। वीरता के साथ तत्कालीन विलासिता का चित्र भी उस काल की रचनाओं में मिलता है। भाषा की तत्कालीन रुक्षता भी एक प्रकार की कर्कशता का ही बोध कराती है। उस काल की वास्तुकला और मूर्तिकला को पहले लीजिए। शैव और शाक्त मतों की उन्नति थी, इसलिये शिवमंदिरों में सबसे अधिक मौलिकता देख पड़ी, अन्य मंदिर उनके अनुकरण में बनाए गए। मूर्तियों में अलंकरण बढ़ रहे थे और भाव-भंगी कम हो रही थी। यह तत्कालीन जनता की बाह्य शृंगारप्रिय तथा गंभीर अनुभूतिहीन चित्तवृत्ति का सूचक है। चित्रकला भी बहुत कुछ ऐसी ही रही। प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों में चित्र-रचना के जो उल्लेख मिलते हैं, वे उस काल के पूर्व के हैं। उस काल की प्रधान गुजराती चित्रण शैली का पतन हो रहा था, केवल जैनों में उसका थोड़ा बहुत प्रचार और

उन्नति हुई थी। संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न रहने के कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण पड़ रही थी। आधुनिक कर्णाटकी संगीत की मूल शैली का उस समय अच्छा प्रचार था।

हिंदू और मुसलमानों के संघर्ष के उपरांत दोनों जातियों में भावों और विचारों का आदान प्रदान होने लगा। साहित्य में इसका सबसे मुख्य प्रमाण कबीर और जायसी आदि की वाणी है। परंतु साहित्य में हिंदू और मुसलिम मतों का संमिश्रण कुछ देर से देख पड़ता है। अन्य कलाओं में मुसलमानी प्रभाव कुछ पहले से ही पड़ने लगा था। वीरगाथा काल में मूर्तियों की अधोगति का कारण मुसलमानों का मूर्ति-विद्रोह था। देहली की मुसलमानी इमारतों में भारतीय शैलियाँ स्वीकृत की गईं और हिंदू मंदिरों के निर्माण में कुछ मुसलिम आदर्श आ मिले। परंतु संगीत में तो इन दोनों जातियों के योग से अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के विधायक संगीताचार्य अमीर खुसरो थे, जो आधुनिक खड़ी बोली हिंदी के आदि आचार्य माने जाते हैं।

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल उसके चरम उत्कर्ष का काल था। भाषा की प्रौढ़ता के साथ विचारों की व्यापकता और जीवन की गंभीर समस्याओं पर ध्यान देने का यही समय था। विशाल मुगल साम्राज्य के प्रधान नायक अकबर के राजत्व काल में यह संभव न था कि साहित्य के विकास के साथ सभी ललित कलाओं का विकास न होता। जो काल साहित्य में सूर और तुलसी को उत्पन्न कर सका था वही काल कलाओं की सामुहिक उन्नति का था। अकबर की सामंजस्य बुद्धि और उदारता की स्पष्ट छाप फतहपुर सिकरी

की इमारतों में तो देख ही पड़ती है, वह तानसेन आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञों की आविष्कृत संगीतशैलियों में भी देख पड़ती है। चित्रकला भी बहुत दिनों तक पिछड़ी न रह सकी। शीघ्र ही उस राजपूतशैली का बीजारोपण हुआ जो आगे चलकर भारत की, अपने ढंग की, अनोखी अंकन-प्रणाली सिद्ध हुई। हिंदू मंदिरों में भी मुसलिम प्रभाव पड़े। मानसिंह के निर्मित भवनों में मुसलिम-निर्माण-विधि का बहुत अधिक अनुकरण था। राजपूताने की भवन-निर्माण-शैली पर मुसलिम कला की छाप अमिट है।

विकास के उपरांत ह्रास और ह्रास के उपरांत विकास का क्रम सर्वत्र देखा जाता है। सूर और तुलसी के पीछे देव और बिहारी का युग आया। विलासिता और शृंगारिकता का प्रवाह प्रबल पड़ा। साहित्य कुत्सित वासनाओं के प्रदर्शन का साधन बन गया। उसका उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। यह शाहजहाँ और औरंगजेब का काल था। इस काल का प्रसिद्ध "ताजमहल" वास्तुकला के चरम उत्कर्ष का आदर्श माना जा सकता है। परंतु उसी समय अवनति का भी प्रारंभ हुआ। औरंगजेब धार्मिक नृशंसता का प्रतिनिधि और कलाओं का संहारक था। सुंदर हिंदू-मंदिरों को भंग कर जो उजाड़ मस्जिदें उसने बनवाईं उनसे उसकी हृदयहीनता का पता लग जाता है। उसने मुसलिम धर्म के आज्ञानुसार नाच गान आदि बंद करा दिया था, जिससे संगीतकला को बड़ी क्षति पहुँची। मूर्तियों और चित्रों का भी ह्रास ही हुआ।

इस पतनकाल में महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ था जिससे साहित्य की शृंगारधारा में भूषण की ओजस्विनी

रचनाएँ देख पड़ीं। मराठों में उत्कट कला प्रेम का बीज था, परंतु वे सुख-शांति-पूर्वक नहीं रहे, निरंतर युद्ध में ही व्यस्त रहे। फिर भी उन्होंने संगीतकला की थोड़ी बहुत उन्नति की, और काशी के मंदिरों और घाटों के रूप में अपनी वास्तु-कला-दक्षता का परिचय दिया। इसके कुछ समय पीछे सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ पर इसी बीच में अँगरेजों के आ जाने और राज्यस्थापन में प्रवृत्त होने से जो अशांति फैली, उसके कारण कलाओं की उन्नति रुक गई।

आधुनिक काल में यद्यपि साहित्य की अनेकमुखी धाराएँ बह निकली हैं, पर अब तक इनमें गहराई नहीं आई है। पश्चिमीय आदर्शों की छाप और नकल अधिक देख पड़ने लगी है। आशा है कि शीघ्र ही हम नकल का पीछा छोड़ साहित्य में ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक ललित कला में अपने आदर्शों की रक्षा करते हुए स्वतंत्र रूप से उन्नति करेंगे।

चौथा अध्याय

वीरगाथा काल

हिंदी साहित्य का आरंभ

हिंदी साहित्य के आदि युग के संबंध में इतिहासवेत्ताओं तथा भाषाशास्त्रियों ने अब तक जितनी खोज की है वह विशेष संतोषजनक नहीं कही जा सकती। उतने से अभी तक न तो हिंदी के उत्पत्ति-काल का ठीक पता चलता है और न उसके आरंभिक स्वरूप का निश्चय हो सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषाओं के अनंतर हुई, परंतु इस अपभ्रंश-परंपरा का कब अंत हुआ और कब हिंदी पहले पहल प्रयोग में आई, इसका पता निश्चित रीति से अब तक नहीं लग सका है, और न इसके लगने की कोई संभावना है, क्योंकि भाषाओं की सहसा उत्पत्ति नहीं हो जाती। वे तो क्रमशः एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होती हैं और यह परिवर्तन या विकास उनकी उत्पत्ति से ही आरंभ होता है। इस अवस्था में हिंदी क्या किसी भाषा की उत्पत्ति का ठीक ठीक काल निश्चित करना असंभव है। पर साहित्य के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। जब भाषाएँ कथ्य अवस्था से निकल-कर साहित्य अवस्था में आती हैं तभी से उनके साहित्य का आरंभ माना जा सकता है, पर इस दिशा में भी अभी तक पूरी पूरी खोज नहीं हुई है। हिंदी के कुछ इतिहासलेखकों ने उसके आदि युग का प्रारंभ विक्रम की सातवीं शताब्दी से

माना है; और अपने मत का समर्थन अलंकार तथा रीति संबंधिनी एक ऐसी पुस्तक के नामोल्लेख से किया है जो अब तक अप्राप्य है तथा जिसके एक भी उद्धृत अंश के अब तक किसी को दर्शन नहीं हुए हैं। हम इस मत के समर्थक नहीं हैं। एक तो किसी लक्षण ग्रंथ को साहित्य के आदि युग की पहली पुस्तक मानने में यों ही बड़ी द्विविधा होती है; पर यदि संस्कृत साहित्य के परिणामस्वरूप ऐसा संभव भी हो तो भी यह स्पष्ट ही है कि इस अलंकार ग्रंथ की रचना के उपरांत लगभग दो तीन सौ वर्षों तक कोई दूसरी पुस्तक हिंदी में नहीं लिखी गई, अथवा यदि लिखी गई, तो अब उसका कहीं पता नहीं है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि विक्रम की आठवीं, नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में प्राकृत अथवा अपभ्रंश की पुस्तकें लिखी जाती थीं, और उनमें से अनेक पुस्तकें तथा पद्य हमें इस समय भी प्राप्य हैं। हेमचंद्र के प्रसिद्ध व्याकरण में नागर अपभ्रंश के जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें हिंदी के प्राथमिक स्वरूप की झलक दिखाई देती है। उनका व्याकरण विक्रम के बारहवें शतक का है। हेमचंद्र के इन उदाहरणों को हम उनकी सम-सामयिक रचनाएँ न मानकर कुछ पहले की मानेंगे, क्योंकि ये उदाहरण तो उद्धरण मात्र हैं; और अधिकतर उद्धरण अपने से प्राचीन लेखकों की कृतियों से ही लिए जाते हैं। अतः हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश काल के समाप्त होते ही विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हुई होगी। जिस समय अप-भ्रंश साहित्य अपने आसन से क्रमशः च्युत हो रहा था, उस समय हिंदी संभवतः उस आसन को प्राप्त करने के लिये

उन्मुख हो रही थी। अतएव हिंदी भाषा के बोल-चाल के प्रयोग के आरंभ तथा उसके साहित्यनिर्माण में प्रयुक्त होने में अवश्य ही कुछ अंतर रहा होगा। ग्यारहवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य की जो शृंखला चली, वह बीच में कहीं टूटी नहीं, बराबर अब तक चली चलती है।

ग्रंथों का अभाव

ऐतिहासिक अनुसंधान से अब तक इस युग की जितनी पुस्तकों का पता लगा है, एक तो उनकी संख्या बहुत थोड़ी है, और दूसरे उनमें प्रक्षिप्त अंश की इतनी अधिकता है कि तत्कालीन रचनाओं को पीछे की रचनाओं से अलग करना कठिन ही नहीं वरन् कभी कभी तो सर्वथा असंभव हो जाता है। कुछ पुस्तकों में तो इतिहास की तिथियों तथा घटनाओं का इतना अधिक विरोध मिलता है कि उन्हें सम-सामयिक रचना मानने में बहुत ही असमंजस होता है। इन पुस्तकों की भाषा भी इतनी बे-ठिकाने और अनियमित है कि तथ्य निरूपण में उसकी भी सहायता नहीं ली जा सकती। ऐसी अवस्था में हमको बहुत कुछ अनुमान पर ही अवलंबित रहना पड़ता है, क्योंकि अन्य उपलब्ध साधनों से हम निश्चित उद्देश तक नहीं पहुँच सकते।

अभाव के कारण

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि हिंदी साहित्य के आदि काल के लगभग तीन चार वर्षों में इतनी थोड़ी रचनाएँ क्यों हुई तब एक ओर तो हमारा ध्यान अब तक के अधूरे साहित्यिक अनुसंधान पर जाता है और दूसरी ओर तत्कालीन परिस्थिति पर भी हमारी दृष्टि जाती है। प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम अब तक विशेष रूप से संयुक्त प्रदेश में ही हुआ है,

जहाँ से हिंदी साहित्य के वीर गाथा काल का इतिवृत्त संकलित करने की बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई है। इस काल में भारतवर्ष का पश्चिमीय भाग, जहाँ कन्नौज, दिल्ली, अजमेर तथा अन्हलवाड़ा आदि के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे, बल और वैभव का केंद्र था और इन्हीं स्थानों पर मुसलमानी आक्रमणों का बवंडर आकर उन्हें नष्ट भ्रष्ट करता रहा। इस अवस्था में उस समय की यदि बची बचाई सामग्री कहीं से प्राप्त हो सकती है, तो वह राजपूताने में ही हो सकती है, जहाँ उस समय के राज्यों के स्थान पर उनके भग्नावशेष रूप में नए राज्य इस समय तक प्रतिष्ठित हैं। पर वहाँ के नृपतियों की इस ओर रुचि ही नहीं है; अतएव वहाँ के राज्यों में जो कुछ साहित्यिक सामग्री बची बचाई पड़ी हुई है, उसके प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। संभावना यह है कि काल की गति से वह सामग्री भी नष्ट हो जाय। यदि राजपूताने में प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम व्यवस्थित रूप से किया जाय, तो संभव है कि बहुत कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाय। यह भी संभव है कि हिंदी साहित्य के उस युग में देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति के कारण न तो किसी कला की ही विशेष उन्नति हुई हो और न अनेक साहित्यिक ग्रंथों का ही निर्माण हुआ हो। तत्कालीन मूर्तिनिर्माणकला तथा वास्तुकला के जो अवशेष इस समय मिलते हैं, एक तो उनकी संख्या अधिक नहीं है और दूसरे उनमें विदेशीय भावों तथा आदर्शों की ही झलक अधिक दिखाई पड़ती है। शुद्ध भारतीय आदर्शों का आधार लेकर किसी महत्त्वपूर्ण मूर्ति अथवा मंदिर का निर्माण संभवतः हुआ ही नहीं। जब अन्य

कलाओं की ऐसी अवस्था थी, तब यह आशा नहीं की जा सकती कि उस काल में साहित्यकला की सर्वतोमुखी उन्नति हुई होगी अथवा अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण हुआ होगा।

वह युग घोर राजनीतिक हलचल तथा अशांति का था। भारत के सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण

राजनीतिक स्थिति

तो बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भूभाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पादाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजयवैजयंती लाहौर, देहली, मुलतान तथा अजमेर आदि में भी फहराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भी इसी काल में भारतविजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन करने के उद्देश से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति लूट ले जाने की इच्छा से, हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के लक्ष्य में परिवर्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख-समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धन धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार जमाने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके, पर धीरे धीरे

राजपूत शक्ति अंतर्कलह से क्षीण होती गई और अंत में उसे मुसलिम शक्ति के प्रबल वेग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

राजनीतिक हलचल के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी, इस पर कम लोग ध्यान देते हैं। जब से गुप्त साम्राज्य का अंत हुआ था और देश अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से हर्षवर्धन के अस्थायी राजत्वकाल के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ ही नहीं। उलटे गृह-कलह की निरंतर वृद्धि होती गई और विक्रम की नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में यह भीषण दोष अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। स्वयंवरों में अपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण बात थी, कभी कभी तो केवल अपना बल दिखलाने या मन बहलाने के लिये ही अकारण लड़ाई छेड़ दी जाती थी। विप्लवों और युद्धों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत तथा विविध कलाओं का आविर्भावक था, वह अविद्यांधकार में पड़कर अनेक अंध-विश्वासों का केंद्र बन गया। जो लोग आसमुद्र क्षितीशों के साम्राज्य में सुख-समृद्धिपूर्वक समय बिताते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संयोगवश पीछे घूम पड़ने पर सारी सेना का भाग खड़ा होना हिंदुओं के तत्कालीन चरम पतन का सूचक है। यद्यपि अन्य स्थानों में प्रबल वीरता प्रदर्शित करने

सामाजिक स्थिति

के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना भला बुरा तक पहचानने में असमर्थ हो जाता है और जो अपने विलासी तथा अदूरदर्शी शासकों के ही हाथों का पुतला बन जाता है उसका कल्याण कब तक हो सकता है। फल यह हुआ कि साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई, और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के वे बीज बोए जिनका कटु फल देश तथा जाति को अब तक भोगना पड़ रहा है।

स्थिति के अनुरूप साहित्य

देश के जिस भूभाग में जिस समय ऐसी अशांति तथा अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भूभाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी साहित्य अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा था। हिंदी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशांति के उस युग में वीर गाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहती है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज देश भर में सुनाई पड़ती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं, और जो थोड़ी बहुत होती भी हैं, वे सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही कालकवलित हो जाती हैं। हिंदी के आदि युग में जो केवल वीररस की कविताएँ मिलती हैं, उसका यही कारण है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि तत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई; अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही साँस लिया, तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। उसका यह कार्य बराबर होता रहा। सारांश यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी हीन अवस्था हो जाती है और जिस समय कविता में उच्च आदर्शों का समावेश नहीं होता उस समय देश और जाति की ऐसी दुर्दशा अवश्यंभावी हो जाती है। हिंदी के आदि-युग में अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिंता नहीं थी, जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थसाधन करने की थी। यही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों की काल्पनिक वीर गाथाएँ रचनेवाले कवि तो हुए, पर सच्चे वीरों की पवित्र गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गईं और यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका कहीं पता नहीं है।

राजाश्रय और उसका परिणाम

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहास-सम्मत घटनाओं का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च प्रकार के कवित्व का ही उन्मेष पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपने मूल रूप में मिलती ही नहीं; और जो कुछ मिलती भी हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विभिन्नता पाई जाती है। जो कवि अपने अधिपतियों को प्रसन्न करने के लिये ही रचनाएँ करेगा उसे बहुत कुछ इतिवृत्त की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कृतियों में हृदय के सच्चे भावों का अभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्फुरण न हो सकेगा। जहाँ केवल प्रशंसा करना ही उद्देश रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को एक संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध करना पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्य-धारा परंपरागत हो गई जिससे भाट चारणों की जीविका तो चलती रही पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके और उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली, उससे कविता तो लक्ष्यभ्रष्ट हो ही गई, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप भी हो गया। ग्रंथों में क्षेपक इतने अधिक बढ़ चले कि वे मूल से भी अधिक हो गए और मूल का पता लगना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। यदि इस कुप्रथा का अंत हिंदी के भक्त कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का संपर्क राजाश्रय से हटकर जनसमूह की हार्दिक वृत्ति से न हो जाता, तो अब

युद्ध की साहित्यिक प्रगति

तक हिंदी कविता की कितनी अधोगति हो गई होती, इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। इस युग के कवियों की रचनाओं में जहाँ तहाँ सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी झलक देख पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये वे अपने आश्रयदाताओं को केवल अपनी वाणी द्वारा प्रोत्साहित ही नहीं करते थे, वरन् समय पड़ने पर स्वयं तलवार हाथ में लेकर मैदान में कूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों को चलाने की अपनी कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी ये कवि देश के अंतर्विद्रोह में सहायक होकर वाणी का दुरुपयोग भी करते थे, पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि कविगण उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते थे।

उस युग के कवियों में उच्च कोटि के कवित्व की झलक भी मिलती है। यद्यपि जीवन के अनेक अंगों की व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती, पर उन्होंने अपनी कृतियों में वीरों के चरित्र-चित्रण में नई नई रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक कोमल सूक्तियों का सुंदर समावेश किया है। इस काल के कवियों का युद्धवर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रासगर्भित किंतु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदावली के बीच में वीर भावों से भरी हिंदी के आदि युग की यह कविता सारे हिंदी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज-बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा वर्णन इस युग के कवियों ने किया, वैसा पीछे के

कवियों में देखने में नहीं आया। उनकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुन पड़ती है, और उनके युद्धवर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में सर्वत्र उनके वीर हृदय का परिचय मिलता है अतः हम उन्हें मिथ्या स्तुति करनेवाले काल्पनिक वीर गाथाकार कवियों की श्रेणी में रखने का साहस नहीं कर सकते।

हिंदी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध काव्यों के रूप में और कुछ वीर गीतों के रूप में। प्रबंध के रूप में वीर कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है।

प्रबंध काव्य

यूनान के प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्यों की रचना का मुख्य आधार युद्ध ही माना है और उनकी वीर-रसात्मकता स्वीकार की है। वहाँ के आदि कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य की आधारभूत घटना ट्राय का युद्ध ही है। भारतवर्ष के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में युद्ध का ही साम्य है; अन्य घटनाओं में बड़ा अंतर है। वीर गीतों के रूप में भी वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। हिंदी की वीर गाथाओं में प्रबंध रूप से सब से प्राचीन ग्रंथ, जिसका उल्लेख मिलता है, दलपति विजय का खुमानरासो है। ऐसा कहा जाता है कि इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। संभव है कि यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्धित संस्करण हो अथवा उसमें पीछे के राणाओं का

वर्णन परिशिष्ट रूप से जोड़ा गया हो। इस पुस्तक के संबंध में अभी बहुत कुछ जाँच पड़ताल की आवश्यकता है।

वीर गाथा संबंधी प्रबंध काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो है। इस विशालकाय ग्रंथ को हम महाकाव्यों की उस श्रेणी में नहीं गिन सकते जिसमें यूनान के प्रसिद्ध महाकाव्य ईलियड आदि तथा भारतवर्ष के रामायण महाभारत आदि की गणना होती है। ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी संपत्ति हैं, इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अंतर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराजरासो भी एक विशालकाय ग्रंथ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की ही प्रधानता है, पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गंभीर रीति से जातीय चित्त-वृत्तियों को स्थायित्व मिलता है, पृथ्वीराजरासो में उनका सर्वथा अभाव है। महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है, तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। पृथ्वीराजरासो में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उसमें उल्लेख है। सबसे प्रधान बात यह है कि पृथ्वीराजरासो में घटनाएँ एक दूसरी से असंबद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित हैं; महाकाव्यों की भाँति न तो घटनाओं का किसी एक आदर्श में संक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। ऐसी अवस्था में पृथ्वीराज-

रासो को महाकाव्य न कहकर विशालकाय वीर काव्य कहना ही संगत होगा।

पृथ्वीराजरासो में युद्धों की प्रधानता के साथ ही शृंगार की प्रचुरता भी की गई है। वीरों को युद्ध के उपरांत विश्रामकाल में मनबहलाव के लिये प्रेम करने की आवश्यकता होती है, और काव्यों में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में, ऐसे वीर काव्यों में, युद्ध और प्रेम की परंपरा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराजरासो आदि वीर काव्यों में भी बीच बीच में शृंगार की आयोजना की गई है और वीरों के आमोदकाल में शृंगार-मूर्तिमती रमणियों का उपयोग किया गया है। कभी कभी तो पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि तथा तत्संभव युद्ध के कारण-स्वरूप राजकुमारियों के स्वयंवर कराए गए हैं, और इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन के अवसर निकाले गए हैं। सारांश यह कि यहाँ की वीर गाथाओं में शृंगार कभी कभी वीरता का सहकारी और कभी कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है। अन्य देशों के ऐसे काव्यों में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ अँगरेज कवि स्काट के रोमेंस-काव्यों को लें। उनमें तो प्रेम की ही प्रधानता और वीरता की अपेक्षाकृत न्यूनता है। जहाँ कहीं प्रेम के कर्तव्य पक्ष के प्रदर्शन की आवश्यकता समझी जाती है, अथवा जहाँ स्त्री जाति के प्रति सदाचार तथा शील आदि का अभिव्यंजन करना पड़ता है, वहीं वीर भावों की उद्भावना की जाती है। हिंदी के वीर काव्यों तथा अन्य देशों के वीर काव्यों के इसी अंतर के कारण दोनों का रूप एक दूसरे

से इतना विभिन्न हो गया है कि समता का पता नहीं चलता। प्रेम-प्रधान होने के कारण ऐसे काव्यों की रंगशाला प्रकृति की रम्य गोद में होती है, जहाँ नायक नायिका के स्वच्छंदता-पूर्वक विचरण तथा पारस्परिक साक्षात्कार के लिये सब प्रकार के सुभीते रहते हैं। इसके विपरीत हिंदी के वीर काव्यों में मानों उनके सच्चे स्वरूप के प्रदर्शनार्थ ही रणभूमि को प्रधानता दी गई है और कुमारियों के स्वयंवर-स्थान तक को कभी कभी रक्त-रंजित कर दिया गया है। प्रेमप्रधान हृदयों में प्रकृति के नाना रूपों के साथ जो अनुराग होता है, वह युयुत्सु वीरों में नहीं होता। इसी लिये यहाँ की वीर गाथाओं में प्राकृतिक वर्णनों का प्रायः सर्वत्र अभाव ही पाया जाता है।

यह विशालकाय ग्रंथ हिंदी का प्रथम महाकाव्य समझा जाता है और इसके रचयिता चंद बरदाई पृथ्वीराज के सम-कालीन बतलाए जाते हैं, परंतु अपने वर्तमान रूप में यह किसी एक काल की अथवा किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। इसमें आए हुए संवतों तथा घटनाओं के आधार पर, साथ ही अनेक बाह्य साक्ष्यों की सहायता से इस ग्रंथ के रचनाकाल का निर्णय करने में रायबहादुर गौरीशंकर हीरा-चंद ओझा, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महामहो-पाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है; परंतु उनकी परस्पर विभिन्न तथा विपरीत सम्मतियों को देखते हुए ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इसमें बहुत प्राचीन काल से लेकर प्रायः आधुनिक काल तक की हिंदी में बने हुए छंद मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसमें

क्षेपक बहुत हैं। चंद बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है, और यह भी सत्य है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छंदों में लिखी थी; परंतु समयानुसार उस गाथा की भाषा तथा उसके वर्णित विषयों में बहुत कुछ हेर फेर होते रहे और इस कारण अब उसके प्रारंभिक रूप का पता लगाना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य हो गया है।

बाबू रामनारायण दूगड़ अपने "पृथ्वीराजचरित्र" की भूमिका (पृष्ठ ८६) में लिखते हैं—"उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की जिस पुस्तक से मैंने यह सारांश लिया है उसके अंत में यह लिखा है कि चंद के छंद जगह जगह पर बिखरे हुए थे जिनको महाराणा अमरसिंहजी ने एकत्रित कराया।" इस प्रति के अंत में यह छंद है—

गुन मनियन रस पोइ चंद कवियन कर दिद्धिय।
छंद गुनी ते तुट्टि मंद कवि भिन भिन किद्धिय॥
देस देस बिष्षरिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवत आस बिन आलय आवय (?)॥
चित्रकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बिन बीन करुणा उदधि लिषि रासौ उद्दिम कियौ॥

इससे स्पष्ट है कि किसी कवि ने राणा अमरसिंह के समय में उनकी आज्ञा से कवि चंद के छंदों को, जो देश देश में बिखरे हुए थे, पिरोकर इस रासो को पूर्ण किया। पर यह प्रति संवत् १६१७ की लिखी हुई है। अतएव यह प्राचीन प्रति नहीं है। संभव है कि राणा अमरसिंह के समय में जिस रासो का संग्रह, संकलन या संपादन किया गया हो उसी की यह नकल

हो। जो कुछ हो, मेवाड़ राजवंश में अमरसिंह नाम के दो महाराणा हुए हैं। पहले का जन्म चैत्र सुदी ७ संवत् १६१६, राज्यप्राप्ति माघ सुदी ११ सं० १६५३ और स्वर्गारोहण माघ सुदी २ सं० १६७६ को हुआ। दूसरे महाराणा अमरसिंह का जन्म मार्गशीर्ष बदी ५ सं० १७२९, राज्यप्राप्ति आश्विन सुदी ४ सं० १७५५ और स्वर्गारोहण पौष सुदी १ सं० १७६७ को हुआ। संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने राजसमुद्र तालाब के नौचौकी बाँध पर बड़ी बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया। इसमें पहले पहल रासो का उल्लेख मिलता है।

"भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तरः २७"

अतएव यदि चंद के बिखरे हुए छंदों का संकलन संपादन आदि किसी के राज्यकाल में हो सकता है तो वे दूसरे अमरसिंह नहीं, पहले ही अमरसिंह होंगे। संवत् १६४२ की लिखी पृथ्वीराजरासो की एक प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रह में है। इस संवत् तक तो प्रथम अमरसिंह गद्दी पर भी नहीं बैठे थे, उनके पिता स्वनामधन्य महाराणा प्रतापसिंह अकबर के साथ युद्ध करने में लगे हुए थे। इस युद्ध का अंत संवत् १६४३ में हुआ, जब कि महाराणा ने चित्तौरगढ़ और मंगलगढ़ को छोड़कर शेष मेवाड़ को अपने अधीन कर लिया। इन सब बातों के आधार पर क्या यह माना नहीं जा सकता है कि चंद नाम का कोई कवि था जिसने पृथ्वीराज की प्रशंसा में कविता की, पर यह बिखर गई थी। अतएव पीछे से प्रथम महाराणा अमरसिंह के समय में किसी कवि ने इसका संग्रह किया और उसे वर्तमान पृथ्वीराजरासो

का रूप दिया। इसमें जो भिन्न भिन्न 'समय' और कथानक दिए हैं वे प्राचीन रचना नहीं हैं वरन् राणा अमरसिंह के समय में जो किंवदंतियाँ प्रसिद्ध थीं उन्हीं के आधार पर इस ग्रंथ का जीर्णोद्धार हुआ। अतएव इस ग्रंथ को ऐतिहासिक घटनाओं का प्रमाण स्वरूप मानना उचित नहीं है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस समय जो पृथ्वीराजरासो वर्तमान है वह बहुत पीछे की रचना है। चंद के मूल छंदों का यदि कहीं कुछ पता लग सकता है तो वह संवत् १६४२ वाली प्रति से ही लग सकता है। उद्योग करने पर यह भी पता चल सकता है कि वर्तमान रूप में प्राप्य पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश कितना है। तीसरे समय का अंतिम छंद यह है—

पोडस गज उरद्ध राज ऊभौ गवष्ष तस।
संझ समय चीतार पत्र कीनो पेसकस॥
देषत सँभरीनाथ हाथ छूटन हथ सारक।
तीर कि गोरि बिछुट्टि तुट्टि असमान की तारक॥
अधबीच नीच परते पहिल लोहाने लीनो झरपि।
नट कला पेलि जनु फेरि उठि आनि हथ्थ पिथ्थह अरपि॥
हरषि राज पृथिराजं कीन सूर सामंतं।
बगसि ग्राम गजवाजं अजानवाह दीनयं नामं॥

ऐसा जान पड़ता है कि इसी एक छंद का विस्तार करके "लोहानो अजानबाहु समय" की रचना की गई है। पज्जून महुवा नामक समय का ३० वाँ दोहा इस प्रकार है—

जीति महुव्वा लीय वर दिल्ली आनि सुपथ्थ।
जं जं कित्ति कला बढ़ी मलैसिंह जस कथ्थ॥

इस दोहे का स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस प्रकार कीर्ति बढ़ती गई, उसी प्रकार मल्लैसिंह यश करता गया। मल्लैसिंह पज्जूनराय के लड़के का नाम भी था, पर यहाँ उससे कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि मल्लैसिंह नामक किसी कवि ने इस रासो में अपनी कविता मिलाकर भिन्न भिन्न सामंतों का यश वर्णन किया। अतएव यदि अधिकांश क्षेपक मिलाने के लिये हम और किसी के नहीं तो मल्लैसिंह के अवश्य अनुगृहीत हैं।

सारांश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है पर साथ ही उसमें बीच बीच में चंद के छंद बिखरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन छंदों का संग्रह, संकलन या संपादन संभवत: संवत् १६३६ और १६४२ के बीच में हुआ था। उसी समय बहुत कुछ कथानक बढ़ा घटाकर इन छंदों को ग्रंथ रूप दिया गया; और पीछे तो न जाने कितना और अधिक जोड़ तोड़कर उसका वर्तमान रूप प्रस्तुत किया गया।

जो कुछ हो, इस बृहद् ग्रंथ में यद्यपि विस्तार के साथ पृथ्वीराज चौहान का वीर चरित ही अंकित किया गया है पर अनेक प्रासंगिक विवरणों के रूप में क्षत्रियों के चार कुलों की उत्पत्ति और उनके अलग अलग राज्यस्थापन आदि की भी कल्पना की गई है। पृथ्वीराज की पूर्व परंपरा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रंथ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासंगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं में अनंगपाल द्वारा गोद लिए जाने पर

उसका दिल्ली और अजमेर के राजसिंहासनों का अधिकारी होना, कन्नौज के राठौर राजा जयचंद से विद्वेष होने के कारण उसके राजसूय यज्ञ में न सम्मिलित होकर छिपे छिपे उसकी कन्या संयुक्ता को हर लाना, जयचंद तथा अन्य क्षत्रिय नृपतियों से अनेक बार युद्ध करना, क्षीणशक्ति हो जाने पर भी अफगानिस्तान के गोर प्रदेश के अधिपति शहाबुद्दीन के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना, कई बार उसे कैद करके छोड़ देना आदि आदि अनेक प्रसंगों का, जिनमें से कुछ कविकल्पित हैं और कुछ ऐतिहासिक तत्त्वों पर अवलंबित हैं, बड़ा ही मार्मिक तथा काव्य-गुण-संपन्न वर्णन इस ग्रंथ में पाया जाता है।

पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन गाथा होने के कारण इसमें वीर गीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि "रामचरितमानस" अथवा "पद्मावत" की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में वीर भावों की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना

हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराज-रासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीरगाथा काल के प्रबंध काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचंदप्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंक-जसचंद्रिका, सारँगधर का जिसने हम्मीर काव्य और नल्ल-सिंह का जिसने विजयपाल रासो लिखा, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकाशित होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी, पर राजपूताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा अदूरदर्शिता के कारण अँधेरी कोठरियों में बंद पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रबंध-मूलक वीर काव्यों के अतिरिक्त उस काल में वीर गीतों की रचनाएँ भी हुई थीं।

गीत काव्य

अनुमान से तो ऐसा जान पड़ता है कि उस काल की रचनाओं में प्रबंध काव्यों की न्यूनता तथा वीररसात्मक फुटकर पद्यों की ही अधिकता रही होगी। अशांति तथा कोलाहल के उस युग में लंबे लंबे चरित-काव्यों का लिखा जाना न तो संभव ही था और न स्वाभाविक ही। अधिक संख्या में तो वीर गीतों का ही निर्माण हुआ होगा। युद्ध के लिये वीरों को प्रोत्साहित करने में और वीर-गति पाने पर उनकी प्रशस्तियाँ निर्मित करने में वीर गीतों की

ही उपयोगिता अधिक होती है। इसके अतिरिक्त राज-सभाओं में वीर नृपतियों अथवा सरदारों का गुणगान होता होगा, तब वीर गीतों के ही आश्रय लेने की आवश्यकता रहती होगी। इसके अतिरिक्त प्रायः पहले गीतों की ही रचना होती है और तब प्रबंध काव्यों की। यद्यपि इस युग में वीर गीतों की रचना अधिकता से हुई होगी, परंतु इस समय तो वे बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं और अब तो उनके प्रारंभिक स्वरूपों में भी बहुत कुछ हेर फेर हो गया है। बात यह हुई कि वे रचनाएँ बहुत काल तक लिपिबद्ध नहीं हुईं, वे भट्ट चारणों में बहुत कुछ मौखिक रूप में ही बनी रहीं। इसी कारण उनमें से बहुत सी तो कालकवलित हो गईं और बहुतों की भाषा आदि में परिवर्तन हो गए। कुछ रचनाओं में तो विभिन्न कालों की घटनाओं के ऐसे असंबद्ध वर्णन घुस गए हैं कि वे अनेक कालों में अनेक कवियों की की हुई जान पड़ने लगी हैं। अपने वर्तमान रूप में न तो वर्णित विषयों के आधार पर और न भाषा-विकास के आधार पर ही उनके रचनाकाल का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। नरपति नाल्ह-रचित वीसलदेवरासो तथा जगनिक-कृत आल्हखंड के वीर गीतों की बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था है।

इतना सब कुछ होते हुए भी भावों के सरल अकृत्रिम उद्वेग तथा भाषा के स्वच्छंद प्रवाह के कारण तत्कालीन वीर गीतों में एक अद्भुत ओज तथा तीव्रता सी आ गई है। न तो इन वीर गीतों में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश ही है और न इनमें प्राकृतिक दृश्यों का ही मनोरम चित्रण है। इनके कथा-नकों में भी अनेकरूपता तथा विचित्रता नहीं है और न इनकी

भाषा में ही किसी प्रकार का बनाव सिंगार है। इनके छंदों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है, वे तुकांत आदि के बंधनों से जकड़े हुए नहीं हैं। प्रायः किसी वीर को वाह्य आडंबर पसंद नहीं होते और उसके आचार विचार में एक प्रकार की सरलता तथा स्वच्छंदता होती है, साथ ही वह गंभीर तत्त्वों के समझने में असमर्थ तथा वीर कृत्य करने में तत्पर रहता है। लगभग ऐसी ही अवस्था हमारे उस युग के वीर गीतों की थी। जहाँ हम पृथ्वीराजरासो आदि प्रबंध काव्यों में अनेक क्षत्रिय वंशों की उत्पत्ति के विस्तृत किंतु नीरस वर्णन पाते हैं, और जहाँ भाषा को अलंकृत करने तथा छंदों में तुक आदि पर विशेष ध्यान देने के प्रयास का भी उनमें अनुभव करते हैं, वहाँ वीसलदेवरासो तथा आल्हा आदि वीर गीतों में कहीं भी शिथिलता नहीं पाते और न बंधनों की जटिलता का ही उनमें कहीं पता चलता है। कथानकों को सजाने तथा उनमें नवीनता लाने का जितना साहित्यिक प्रयास पृथ्वीराजरासो में पाया जाता है, उतना वीर गीतों में नहीं पाया जाता, फिर भी उनमें अरोचकता कहीं नहीं आने पाई है। वीर गीतों में यद्यपि वीर भावों की ही अधिकता रहती है, पर वीरों की कोमल मनोवृत्तियों के प्रदर्शनार्थ उनमें शृंगारिक वर्णन भी होते हैं। वीसलदेवरासो को तो उसके वर्तमान रूप में एक प्रेम गाथा ही कह सकते हैं, परंतु उसमें भी वीरों के सरल तथा कोमल हृदय की व्यंजना हो जाती है। यही उसके वीर गीत कहलाने की सार्थकता है। आल्ह खंड में आल्हा, ऊदल (उदयसिंह) आदि की वीर वाणी तथा वीर कृत्यों का जो जमघट सा उपस्थित किया गया है, उसके मूल में भी प्रेम ही

है, और स्थान स्थान पर उस प्रेम की निश्चय ही बड़ी सरस तथा मधुर व्यंजना पाई जाती है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही साधारण जनता में वीर गीतों का जितना प्रचार हुआ, उतना वीर प्रबंधों का नहीं हुआ। अपने साहित्यिक गुणों के कारण पृथ्वीराजरासो उस युग की सबसे श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण कृति है; और इस दृष्टि से उसकी तुलना में वीर गीत नहीं ठहर सकते, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि राज-दरबारों, अथवा अधिक से अधिक दिल्ली तथा अजमेर के आस पास के प्रदेशों को छोड़कर देश के अन्य भागों की जनता में पृथ्वीराजरासो का कुछ भी प्रचार नहीं हुआ। प्रचार की दृष्टि से आल्हखंड या आल्हा सबसे अधिक सौभाग्यशाली हुआ। यद्यपि इस प्रचाराधिक्य के कारण उसका पूर्व स्वरूप बहुत कुछ विकृत होकर विस्मृत भी हो गया, पर अपने नवीन रूप में वह आज भी उत्तर भारत की जनता का कंठहार हो रहा है। आषाढ़ और श्रावण के महीनों में जब वर्षा होने पर ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत कुछ कम हो जाता है और जब बादलों की गरज से हृदय एक अलौकिक उल्लास का अनुभव करने लगता है, तब ग्रामों में आज भी ढोल की गंभीर ध्वनि के साथ अलहैतों के तारस्वर में "आल्हा" के किसी प्रसंग का सुन पड़ना सबके साधारण अनुभव की बात है। युक्त प्रांत के बैसवाड़ा आदि प्रदेशों में आल्हा का बहुत अधिक प्रचार है और वहाँ संभवत: गोस्वामी-जी के रामचरितमानस को छोड़कर दूसरा सर्वप्रिय ग्रंथ आल्हखंड ही है। हम इन दोनों वीर गीतों का विवेचन आगे करते हैं—

इस छोटे से काव्य की रचना, वीर गीत की शैली पर, विक्रम संवत् १२१२ में हुई थी। इसका रचयिता नरपति नाल्ह नामक कवि अपने आश्रयदाता वीसलदेव का समकालीन और संभवत: राजकवि था। वीसलदेव उपनाम धारण करनेवाले विग्रहराज चतुर्थ बड़े वीर क्षत्रिय नृपति थे और उन्होंने मुसलमान शक्ति के प्रतिकूल सफलतापूर्वक कई युद्ध किए थे। परंतु उनकी इस गाथा में उनके युद्धों आदि का वर्णन नहीं है, इसमें जैसलमेर की राजकन्या राजमती से उनके विवाह करने और विवाहोपरांत अपनी नवविवाहिता पत्नी की किसी बात से चिढ़कर उड़ीसा चले जाने का उल्लेख है। अनेक वर्षों के बाद राजमती के संदेश भेजने पर उनके ससम्मान लौटने और लौटकर अपने कुटुंबियों से आनंदपूर्वक मिलने तथा फिर से राज्य-सिंहासन ग्रहण करने के साथ कथा का अंत हो जाता है।

वीसलदेवरासो

इस प्रेम-प्रसंग को वीर गीत स्वीकार करने में कुछ विद्वानों को संकोच होता है। उनका यह संकोच बहुत अंशों में ठीक भी है, परंतु स्मरण रखने की बात यह है कि वीर गीतों में वीरों की जीवनगाथाएँ नहीं होतीं, वरन् जीवन की किसी साधारण अथवा असाधारण घटना का चित्रण मात्र होता है। वे सदा वीर रसात्मक ही नहीं हो सकते, क्योंकि वीरों का युद्ध से अभिन्न संबंध नहीं रहता, वीरों के हृदय में यद्यपि उत्साह सदा उपस्थित रहता है, परंतु इसका यह आशय नहीं है कि वे निरंतर युद्ध ही करते रहें। उनके जीवन में हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रदर्शन भी हुआ करता है, और वीसलदेवरासो में ऐसी ही वृत्तियों का चित्रण किया गया है।

यह वीसलदेवरासो की एक विशेषता है कि प्रेम-प्रधान होने पर भी उसे वीर गीत कहे जाने का गौरव मिला है।

अपने उल्लिखित संवतों के आधार पर तो यह वीसलदेव की समसामयिक रचना ठहरती है, पर अन्य वीर गीतों की भाँति इसके भी अनेक मौखिक संस्करण हुए होंगे। इसके कथानक में भोज, माघ, कालिदास आदि नाम ऐसे घुस गए हैं कि इस गाथा के वीसलदेव के जीवनकाल में उसके दरबारी कवि द्वारा रचे जाने में संदेह होने लगता है, परंतु इन अंशों को प्रक्षिप्त मान लेने से शेषांश को नाल्हरचित स्वीकार किया जा सकता है।

आल्ह खंड

कुछ विद्वानों ने इसे चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो ग्रंथ का ही एक खंड बतलाया है और इस दृष्टि से इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ग्रहण नहीं किया है; परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। पृथ्वीराजरासो तथा आल्ह खंड में सबसे प्रधान भेद यह है कि पहला ग्रंथ दिल्ली के अधिपति पृथ्वीराज के दरबारी कवि का लिखा होने के कारण उसके कृत्यों को बहुत अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है; परंतु आल्ह खंड में यह बात नहीं पाई जाती। इस वीर गीत में न तो पृथ्वीराज के चरित की प्रधानता और न उसकी वीर कृतियों की प्रशंसा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ प्राचीन रूप में जगनिक का लिखा हुआ था जो महोबे के चंदेल शासक परमाल के दरबार में रहता था। यह चंदेल शासक पृथ्वीराज का सम-कालीन और कन्नौज के अधिपति जयचंद का मित्र तथा सामंत था।

इस पुस्तक में प्रधानतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) नामक वीर क्षत्रियों तथा साधारणतः उनके अनेक भाइयों और कुटुंबियों की वीर गाथाएँ हैं। आल्हा और ऊदल बनाफर शाखा के क्षत्रियों के वंशज थे और महोबे के तत्कालीन चंदेल अधिपति परमाल के सामंतों तथा सेनापतियों में थे। यद्यपि परमाल अशक्त तथा भीरु शासक था परंतु उसकी स्त्री मल्हना अपने वीर सामंतों की सहायता से कई बार पृथ्वीराज तक के आक्रमणों को विफल करने में समर्थ हुई थी। आल्हा, ऊदल, लाखन, सुलखे आदि वीर भ्राताओं की धाक तत्कालीन छोटे छोटे राज्यों पर तो थी ही, कन्नौज जैसे विस्तृत साम्राज्य का अधिपति जयचंद भी उनकी वीरता के आगे सिर झुकाता था। आल्हखंड के वीर गीतों में इन्हीं वीर भ्राताओं के अनेक विवाहों तथा प्रायः बावन लड़ाइयों का वर्णन है। उस समय की कुछ ऐसी स्थिति हो गई थी कि प्रत्येक विवाह में वीर क्षत्रियों के लिये अपनी वीरता का प्रदर्शन करना आवश्यक होता था और कन्यापक्ष वालों को पराजित करने पर ही उन्हें कन्या से विवाह करने का अधिकार मिलता था। यद्यपि इस पुस्तक में युद्धों का जितना विशाल रूप प्रदर्शित किया गया है, उसमें बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी है; परंतु यह निश्चित है कि महोबे के इन वीर सरदारों ने सफलतापूर्वक अनेक युद्ध किए थे और उनमें विजयी होकर उन्होंने राजकन्याओं का अपहरण भी किया था। पुस्तक के अंत में अत्यंत करुणाजनक दृश्य उपस्थित होता है। सब वीर बनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिये अग्नि की शरण लेती हैं

और बचे हुए केवल दो व्यक्ति, आल्हा और उसका पुत्र इंदल, गृह परित्याग कर, किसी कजरीबन में जा बसते हैं। इस कजरीबन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कविकल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस वीर गीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा चढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध हुए अवश्य थे और उनमें वीर बनाफरों की अनेक बार विजय भी हुई थी। यद्यपि जगनिक-कृत आल्हखंड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता, और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

उस युग की इन प्रतिनिधि रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से हम वीर गाथाओं के विभिन्न स्वरूप समझने में थोड़ा बहुत समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि इनमें प्रायः वे सभी विशेषताएँ आ जाती हैं जिनको हम उस काल की अन्य कृतियों में देखते हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि उपर्युक्त वीर गाथाओं में वर्णित चरित बहुत कुछ सच्चे वीरों के होने के कारण हमारे लिये विशेष आकर्षण रखते हैं और इसी लिये वे रक्षित भी रह सके हैं, परंतु कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनमें वर्णित वीरों की

वीरता पुस्तकों तक ही परिमित रही है और जिनके संबंध में इतिहास प्रायः मौन जान पड़ता है। ऐसी गाथाओं में से बहुत सी लुप्त हो गई हैं और कुछ राजदरबारों के पुस्तकालयों में पड़ी हुई हैं। जनता ने ऐसी रचनाओं को बहुत कम ग्रहण किया, अथवा वह उन्हें थोड़े ही दिनों में भूल गई। आज भी ऐसी गाथाओं की परंपरा कुछ राजाओं के यहाँ चली जा रही है, परंतु उनसे न तो साहित्य की श्रीवृद्धि होती है और न उनका प्रचार ही होता है।

जब देश के अधिकांश भाग में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया और यहाँ के हिंदू नृपति भी उनका सामना न कर सकने के कारण चुप मारकर बैठ रहे तभी वीर गाथाओं का प्रथम उत्थान-काल समाप्त हो गया और कवियों के प्रयत्न से देश की दृष्टि युद्ध से हटकर अपने धर्म के उस स्वरूप की ओर गई जिससे उसकी निराशा बहुत कुछ कम हो सकती थी और जिसका सहारा पाकर जाति का अस्तित्व लुप्त होने से बचा रह सकता था। यह काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण का था। इस काल के उपरांत फिर वीर गाथाओं का अभ्युदय नहीं हुआ। पर हिंदी साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसके भिन्न भिन्न युगों में ऐसा समय कभी नहीं आया जब कि किसी विशेष प्रकार की रचनाओं का सर्वथा लोप हो गया हो। इसी विशेषता के कारण समय समय पर अन्य अनेक वीर काव्य भी रचे गए, जिनका हम आगे चलकर इसी अध्याय में, संक्षेप में, वर्णन करेंगे।

इस युग की साधारण प्रगति की अपवादस्वरूप कुछ बातें हैं जिन पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इनमें एक यह

है कि खड़ी बोली की कविता के आदि कवि खुसरो की मस-नवियों, पहेलियों तथा मुकरियों आदि में हमें खड़ी बोली के प्राथमिक स्वरूप की झलक मिलती है।

खुसरो

खुसरो की कविता वीरगाथा काल के अंतिम भाग, लगभग चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल की है, और वह तत्कालीन मुसलमानी दरबारों के आश्रय में लिखी गई थी। खुसरो ने अधिकांश कविता फारसी में ही की; पर नवप्रतिष्ठित मुसलिम राज्य के शासकों को देशभाषा से परि-चित कराने के लिये उन्होंने खालिकवारी नामक एक पद्यात्मक कोश ग्रंथ की रचना की जिसमें फारसी शब्दों के हिंदी अर्थ बतलाए गए थे और दिल्ली के आसपास की उस प्रचलित भाषा में अपनी पहेलियाँ भी लिखीं जो आजकल की खड़ी बोली की जननी या पूर्व रूप कही जा सकती है। खुसरो ने कुछ रचनाओं में फारसी और खड़ी बोली का सम्मिश्रण भी किया था, पर उनमें से केवल एक पद्य अब प्राप्त है। उनके इस कार्य में हम मुसलमानों और हिंदुओं में भाषा संबंधी एकता स्थापित करने के उद्योग की झलक पाते हैं। इन्हीं दोनों जातियों में एकता स्थापित करने के अन्य गंभीर प्रयास हम कबीर आदि पीछे के कवियों में भी देखते हैं। परंतु भाषा-साम्य का खुसरो का उद्योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। खुसरो विजेताओं की जाति के थे और तत्कालीन फारसी कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा था, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन, तथा तुगलक वंश का आरंभ देखा था। उनके जीवन-काल में दिल्ली के सिंहासन पर ११ बादशाह बैठे जिनमें ७

की उन्होंने स्वयं सेवा की थी। वे अत्यंत प्रतिभाशाली और विद्वान् कवि थे। उनकी हिंदी रचनाओं का संग्रह छप भी गया है। यह कहना तो कठिन है कि ये रचनाएँ अपने आदि रूप में प्राप्य हैं पर फिर भी फारसी के अच्छे कवि का परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा (खड़ी बोली) में रचना करना कोई अधिक आश्चर्य की बात नहीं है। पर साथ ही भाषाओं के क्रमिक विकास का ध्यान करके हमें यह कहने में भी संकोच नहीं हो सकता कि अवश्य पीछे से भी इनकी रचनाओं का परिमार्जन हुआ होगा।

जिस प्रकार चंद बरदाई आदि वीरगाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू-मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिंदुओं के राजदरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है, उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से, यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्त्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलनेवाले जब आधुनिक हिंदी को उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रमनिवारणार्थ खुसरो की रचनाओं

का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषा-शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु खुसरो की कविता का वास्तविक रहस्य समझाने के लिये हमको तत्कालीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और, कुछ हिंदी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु कला और संगीत कला पर ध्यान देते हैं तो उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय हिंदू मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लगे थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" कोश तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में भावों का आदान-प्रदान भी प्रारंभ हुआ। इस प्रकार हम खुसरो की कविता में युग-प्रवर्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास पाते हैं।

वीरगाथा काल के अंतिम अंश में हमें हिंदी गद्य के आविर्भाव की भी झलक मिलती है। यद्यपि निश्चयपूर्वक

गद्य का आविर्भाव

यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदा में गद्य रचना का आरंभ कब से हुआ, पर जितनी छानबीन अब तक हुई है, उससे हिंदी गद्य का सबसे प्राचीन नमूना गोरखनाथजी के ग्रंथों में मिलता है।

गोरखनाथजी का आविर्भाव विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंत में हुआ था। अब तक उनके जितने ग्रंथों का पता लगा है, उनमें से एक में भी निर्माणकाल नहीं दिया है, किसी किसी में लिपि-काल दिया है, पर वह है संवत् १८५५ और १८५९। इनमें से एक ग्रंथ गद्य में भी है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई, परंतु भाषा में प्राचीनत्व के चिह्न अवश्य वर्तमान हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रंथ प्राचीन होगा। पृथ्वीराज के समय के कुछ पट्टे और पत्र भी राजपूतानी गद्य में लिखे हुए मिले हैं, पर अनेक विद्वानों का कहना है कि ये प्रामाणिक नहीं हैं। इस संदिग्ध अवस्था में यह कहना कठिन है कि हिंदी के गद्य का आविर्भाव कब हुआ।

प्रगति

उस काल के साहित्य का साधारण दिग्दर्शन कर लेने पर स्वभावतः यह इच्छा होती है कि हम उस युग के भाषा संबंधी विकास का भी निरीक्षण करें और वीरगाथाओं में प्रयुक्त छंदों आदि से भी परिचित हों। साहित्य के भावपक्ष के साथ ही साथ उसका कलापक्ष भी विकसित होता चलता है, और दोनों का संबंध बहुत कुछ घनिष्ठ हुआ करता है। अतएव साहित्य का इतिहास जानने में भाषा के क्रमिक विकास का रूप जानना भी सहायक और उपयोगी ही नहीं होता, वरन् बहुत कुछ अनिवार्य भी होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदी की उत्पत्ति प्राकृत काल की अपभ्रंश भाषाओं से हुई है। परंतु अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है इसका ठीक ठीक पता लगाना बहुत कठिन

है। अब तक अपभ्रंश भाषाओं का जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसके आधार पर तो केवल यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के पिछले स्वरूप में और हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप में बहुत अधिक एक-रूपता है, और इन दोनों भाषाओं में इतना कम अंतर है कि उनके बीच में समय-भेद अथवा देश-भेद बतलानेवाली कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिंदी भी। अपभ्रंश के उत्तर काल में भी देश की प्राय: वैसी ही स्थिति थी, जैसी हिंदी के आदि काल में थी, अत: वीर भावों की प्रधानता व्यक्त करनेवाले इन पद्यों को हम उत्तरकालीन अपभ्रंश मान सकते हैं—

> भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
> लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु ॥ १ ॥
> पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
> जा बप्पी की भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥ २ ॥

इसके साथ यदि हम चंद बरदाई के निम्नलिखित पद्यों को मिलाकर देखें तो दोनों की समता का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है—

> उच्चिष्ठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
> तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि ॥
> ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
> दिग्घ देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत ॥

इन पद्यों के रचनाकाल में हिंदी का रूप स्थिर हो चुका था और उसका विकास भी होने लगा था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में चंद का आविर्भाव हो चुका था

और इस बात का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंदी की उत्पत्ति उसके सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हो गई होगी। यदि ऐसा न होता तो पृथ्वीराजरासो जैसे महाकाव्य की रचना नितांत सद्यःप्रसूत भाषा में करने की कल्पना भी किसी को न हो सकती। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल महोदय ने बुद्धिसेन नामक जैन कवि की, विक्रम के दशवें शतक की, अपभ्रंश कविता के साथ पुरानी हिंदी का साम्य दिखाते हुए उसकी उत्पत्ति उसी काल में बतलाई है। यदि हिंदी की उतनी अधिक प्राचीनता न भी स्वीकृत की जाय, तो भी यह निश्चय है कि विक्रम के ग्यारहवें शतक में हिंदी का बीजारोपण अवश्य हो गया था और इसके उपरांत उसका रूप बहुत कुछ स्थिर होता रहा और उसके व्याकरण की प्रतिष्ठा भी होती रही। उसके बहुत कुछ विकसित हो जाने पर उसमें कविता भी रची जाने लगी, और चंद बरदाई के पृथ्वीराजरासो महाकाव्य रचने के समय तक उसका पर्याप्त विकास हो गया था।

देशभेद के कारण जिस प्रकार प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि तथा अपभ्रंश के नागर, उपनागर, व्राचड़ आदि अनेक विभेद हो गए थे, उसी प्रकार प्रारंभिक हिंदी भी किसी एक रूप में नहीं रही होगी। परंतु साहित्य ग्रंथों की अधिकता आदि के कारण जिस प्रकार प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश को प्रधानता मिली थी और वैयाकरणों ने उन्हीं का मुख्यतः उल्लेख करके शेष के संबंध में बहुत साधारण विवेचन किया था, उसी प्रकार हिंदी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की

प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिंदी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में "पिंगल" कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा "डिंगल" थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान् रचना करते थे जो अपने ग्रंथों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बंधन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करनेवाले राजपूताने के आस पास के भट्ट, चारण आदि थे जिन्हें न तो भाषा के शुद्ध रूप का ज्ञान ही था और न वे उसका प्रयोग करने की आवश्यकता ही समझते थे। पिंगल और डिंगल के इस भेद के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चंद बरदाई का "पृथ्वीराजरासो" पिंगल भाषा में लिखा गया है और नाल्ह का "वीसलदेवरासो" डिंगल की रचना है।

अमीर खुसरो ने अपनी मसनवियों और पहेलियों में जिस भाषा का प्रयोग किया, उसके संबंध में यहाँ केवल इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि वह दिल्ली और आस पास की प्रचलित देशभाषा थी और मुसलमान विजेताओं का केंद्र भी उसी प्रांत में होने के कारण उन्होंने उसको ही ग्रहण किया। पीछे से इसी भाषा में अरबी फ़ारसी के शब्दों को ठूस ठूसकर उसका स्वरूप ही बदल दिया गया और राज-भाषा होने के कारण उसके नए स्वरूप की उन्नति भी होती रही। जातीय वैमनस्य ने भी नई भाषा को अधिकाधिक अपरिचित बना देने में सहायता ही पहुँचाई। खुसरो द्वारा

प्रयुक्त खड़ी बोली की उत्पत्ति के संबंध में अब तक कुछ निश्चित रीति से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् उसका जन्म पैशाची प्राकृत से मानते हैं जो पंजाब (पंचनद) प्रदेश में बोली जाती थी; और कुछ विद्वान् उसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से मानते हैं। यहाँ हम इस वाद में नहीं पड़ेंगे और केवल इतना कहकर संतोष कर लेंगे कि शब्दों की उत्पत्ति तथा वाक्यविन्यास आदि की दृष्टि से तथा व्याकरण के अन्य प्रतिबंधों का पालन करने के कारण खुसरो की भाषा इसी देश के एक विशेष भूभाग की प्रचलित भाषा थी। वह न तो खुसरो द्वारा गढ़ी ही गई थी और न विदेश से ही लाई गई थी। वह तो साधारणतः ब्रजभाषा और पंजाबी के मिश्रण से उत्पन्न जान पड़ती है।

हिंदी की शैशवकाल की रचनाओं में दोहा छंद की सबसे अधिक प्रधानता थी। यद्यपि पृथ्वीराजरासो में सोरठा, छप्पय, कवित्त, पद्धरी आदि प्राकृत काल के तथा साटक, शार्दूलविक्रीड़ित आदि संस्कृत छंदों का प्रयोग भी पाया जाता है, परंतु जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुपों तथा प्राकृत में गाथाओं की ही प्रधानता रही है, उसी प्रकार पुरानी हिंदी का सर्वप्रिय छंद दोहा ही रहा है। पुरानी हिंदी ही क्यों, अपभ्रंशों में भी दोहों का अधिकता से व्यवहार हुआ है और उस काल की मुक्तक रचना के लिये दोहा छंद विशेष उपयोगी जान भी पड़ता है। "दोहा" का नामकरण कुछ संस्कृत-पक्षपातियों ने दोधक किया है, परंतु संस्कृत के दोधक से इस छंद का कुछ भी संबंध नहीं है। पृथ्वीराजरासो में भी भाषा का जितना सुष्ठु रूप दोहा छंद में देख पड़ता है, उतना अन्य

छंदों में नहीं देख पड़ता, पर यह भी जान लेना चाहिए कि प्राचीन हिंदी के जितने अधिक चिह्न चंद के छप्पयों में, जिन्हें कवित्त का नाम दिया गया है, मिलते हैं, उतने दोहों में नहीं मिलते। कुछ छंदों में तो उसकी भाषा संस्कृत और प्राकृत की खिचड़ी सी बन गई है और व्याकरण तथा भाषा शास्त्र के नियमों का कहीं पता ही नहीं लगता।

वीसलदेवरासो तथा आल्हखंड आदि वीर गीतों के छंदों में एक प्रकार का बंधनरहित मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अंत्यानुप्रास का ही प्रतिबंध रखा गया है और न संस्कृत के वर्णवृत्तों की सी कठोर नियम-बद्धता ही आई है। अन्य दृष्टियों से भी वे छंद वीरभावों के अभिव्यंजन तथा भाषा की स्वाभाविकता और स्वच्छंदता के रक्षण में सहायक हुए हैं।

अनुप्रासों आदि के द्वारा भाषा को सजाने तथा आलंकारिक उक्तियों द्वारा भावों को चमत्कारपूर्ण बनाने का जितना प्रयत्न पृथ्वीराजरासो में देख पड़ता है, उतना उस काल की अन्य रचनाओं में कहीं नहीं देख पड़ता। संभवतः यह कार्य पीछे से किया गया है।

वीरगाथाओं का द्वितीय उत्थान

जब देश का शासनाधिकार मुसलमानों के हाथ में जाकर स्थिर हो गया और जब रणथंभौर तथा चित्तौड़ आदि दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्मसमर्पण कर दिया, तब वीर गाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई और धीरे धीरे उनका ह्रास भी हो गया। स्वतंत्रता का सम्मान खोकर भारत नतमस्तक हो चुका था। जनता आतंकित और विलासी होकर आत्म-

विस्मृत सी हो गई। विदेशी शासन से राष्ट्र का जो अधः-पतन होता है, विजातीय और विधर्मी शासक से उसको जो धक्का लगता है, परतंत्रता में जो अभिशाप उसे मिलते हैं, उन पर तथा ऐसी ही अन्य बाते पर ध्यान देने की समझ भी जाती रही थी। विदेशी शासन को उलट देने की न किसी में शक्ति थी और न इच्छा। प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति हम्मीरदेव ने हिंदुओं के देश में हिंदुओं का राज्य बनाए रखने की जो प्रबल चेष्टा की थी, और सफलतापूर्वक विपत्तियों का जो अनेक बार सामना किया था, वही हिंदू वीरता का अंतिम निदर्शन था। इस दृष्टि से हम्मीरचरित्र उस युग की अंतिम वीरगाथा है। उसके उपरांत कई सौ वर्षों तक हिंदुओं की ओर से राज्य-स्थापन का कोई उल्लेख योग्य सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ। महाराणा प्रताप के उत्कट स्वदेशानुराग ने एक बार शिथिल और निष्प्राण हिंदू जाति को नवजीवन से संचरित करके उसकी नसों में उष्ण रक्त का तेजी से संचार अवश्य कर दिया, पर महाराणा की कार्यप्रणाली में राष्ट्रीय चेतना का सहयोग नहीं था। महाराणा की वीरता उनकी निजी वीरता थी, अथवा अधिक से अधिक वह स्वतंत्रताप्रिय चित्तौड़निवासी क्षत्रियों की वीरता थी, समस्त राष्ट्र का उसमें सहयोग नहीं था। इसका कारण स्पष्ट है। उस समय तक देश सो रहा था। विला-सिता का प्रवाह उस समय तक बंद नहीं हुआ था, वरन् प्रबल ही होता जा रहा था। हिंदू जाति उस समय तक परतंत्रता के कष्टों का अनुमान नहीं कर सकी थी, मुसलिम शासन की नृशंसता का पूरा पूरा अनुभव उस समय तक नहीं हो सका था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में हिंदू-

जाति बराबर पतनोन्मुख रही। वह उसकी सुषुप्ति की अवस्था थी। महात्मा तुलसीदास ने मंथरा के मुख से "कोउ नृप होय हमैं का हानी" कहलाकर उस समय के शासन के संबंध में प्रचलित जनता के विचारों की सच्ची अभिव्यंजना की है। जिस प्रकार शराबी मदिरा पीकर अपनी स्थिति भूल जाता है और आत्मविस्मृति की अवस्था में एक प्रकार की निर्द्वंद्वता का अनुभव करता है, उसी प्रकार समस्त भारतीय राष्ट्र उपर्युक्त मुगल शासकों की कूटनीति में फँसकर अपने को भूल गया था और अपनी स्थिति पर संतोष किए हुए बैठा था।

जब किसी जाति के विचारों में इस प्रकार की शिथिलता-जन्य स्थिरता आ जाती है, तब उसके लिये वह काल बड़ा भयावह हो जाता है। ऐसी स्थिरता का ही दूसरा नाम मृत्यु है। भारतीय जनता भी लगभग ऐसी ही अवस्था में थी; परंतु औरंगजेब के मुसलिम शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही परिस्थिति बदली। इतिहास की यह एक अद्भुत शिक्षा है कि कठोर अत्याचारी और अन्यायी नृपतियों के शासनकाल में ही जनता को अपने कल्याण का मार्ग दिखाई पड़ता है। हिंदू जाति, हिंदू धर्म तथा समस्त भारतीय राष्ट्र के लिये औरंगजेब का शासन सब से अधिक कठोर तथा नृशंस था। जनता के लिये चरम निराशा का काल यही था। देश के बड़े बड़े मंदिरों और उच्च कोटि की कला के निदर्शनों को ढाकर उनके स्थान में मसजिदें खड़ा करना, शासनकार्य में अधिक से अधिक पक्षपात दिखाना, जज़िया जैसे कर लगाकर तथा अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन दिखाकर हिंदुओं को बल-पूर्वक धर्मभ्रष्ट करना, हिंदुओं की मान-प्रतिष्ठा, धन-संपत्ति,

इज्जत-आबरू सबको द्विविधा में डाल देना आदि आदि अत्याचारों का फल वही हुआ जो ऐसी स्थिति में हो सकता था और जो सदा हुआ है। हिंदू जाति बहुत दिनों तक सोती न रह सकी। वह जाग उठी। उसने अपनी भयानक स्थिति का अनुमान किया। वह सब कुछ सहन कर सकती था, परंतु धर्म पर होनेवाले अत्याचार सहन करना उसकी शक्ति के बाहर था। हिंदू आदि से ही धर्मप्राण थे, दो तीन सौ वर्षों की भक्त कवियों की वाणी का रसास्वादन करते करते उनकी धर्मप्रियता और भी अधिक हो गई थी। सच बात तो यह है कि उस निस्सहाय अवस्था में उन्हें रह गया था एक धर्म का ही सहारा। जब उनका एक मात्र यह अवलंबन भी उनसे छीना जाने लगा, तब सारी हिंदू जाति विकल हो उठी। उसने सच्ची स्थिति समझने की चेष्टा की। राजनीतिक क्षेत्र में एक हलचल सी मच गई और इस हलचल में एक जाग्रत राष्ट्र की सम्मिलित चेतना दिखाई दी। पंजाब में गुरु गोविंदसिंह, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और बुंदेलखंड में वीर छत्रसाल इस जागर्ति का मूर्तिमान् स्वरूप धारण कर भारत के रंगमंच पर रणचंडी का नृत्य दिखाने लगे। इस नवीन जागर्ति के मूल में धर्म-भावना ही थी। मुसलमानों के पाप का घड़ा भर चला था। यही जागर्ति हिंदी कविता में वीरगाथाओं के नवीन उत्थान के मूल में है। इसी काल में वीर कवियों का दूसरी बार प्रादुर्भाव हुआ था।

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वीर हम्मीरदेव से लेकर छत्रपति शिवाजी के समय तक वीरगाथाएँ लिखी ही नहीं गईं। हाँ यह बात अवश्य है कि उस काल में वीर-

पूजा की सच्ची भावना से प्रेरित होकर वीर काव्यों की रचना नहीं हुई। ऐसे तो तत्कालीन विलासप्रिय नृपतियों की मन-स्तृप्ति के लिये कितने ही स्वार्थसाधक खुशामदी कवियों ने अर्थ-लोलुपतावश कविवाणी के तिरस्कार-स्वरूप अनेक वीर काव्य बनाए होंगे, जो या तो अब कालकवलित हो गए या रजवाड़ों के पुस्तकालयों में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में किसी कोने में पड़े हुए अपने रचयिताओं को चुपचाप मन ही मन कोस रहे होंगे। ऐसे काव्यों को हम वीरगाथात्मक काव्य नहीं कह सकते और न उनके रचयिताओं को वीरगाथाकार कह सकते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में और सच्चे वीर कविताकारों में स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। सच्चे वीरों की प्रशस्ति लिखने-वाले कवि सत्य का आश्रय लेते हैं, अतः उनकी रचनाएँ चिर-काल तक जनता की कंठहार बनी रहती हैं। उनमें समस्त जाति और समस्त देश का गौरव अंतर्निहित रहता है। उनका सार्वदेशिक प्रचार होता है और उनके निर्माता कवि यशस्वी तथा अमर हो जाते हैं। इसके विपरीत स्वार्थलोलुप खुशा-मदी कवियों की कृतियों में शब्द-चातुर्य की सहायता से कुछ काव्यगुण भले ही आ जाय, पर उनका बहुत शीघ्र लोप हो जाता है। मिथ्या स्तुति पर अवलंबित होने के कारण थोड़े ही दिनों में वे रचनाएँ आल्मारियों से बाहर निकलने के योग्य तक नहीं रह जातीं; क्योंकि मानव-प्रकृति सत्य को ग्रहण करती और असत्य से घृणा करती है। महाराणा प्रताप-सिंह जैसे सच्चे वीर का सम्मान उस समय देश न कर सका, उनकी एक भी उल्लेखनीय गाथा नहीं लिखी गई, एक यही बात पुकार पुकारकर कह रही है कि वह समय वीरगाथाओं

का नहीं था, वह समय जाति के पतन का और खुशामदी कवियों की वासना-तृप्ति का था। मुगल दरबारों में अनेक हिंदू कवि रहते थे और अपने आश्रयदाताओं की स्तुति करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। जातीय जीवन की पूर्ण विस्मृति का यह एक श्रेष्ठ उदाहरण है। यह स्थिति औरंगजेब के समय तक रही। उसके उपरांत हवा बदली। औरंगजेब की प्रशंसा करनेवाले किसी प्रसिद्ध हिंदू कवि का पता आज नहीं लगता, यद्यपि कुछ कवि उसके दरबार में रहते अवश्य थे। इसका कारण यही है कि हिंदुओं में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा था और मुगल शासन की ओर से धीरे धीरे आकर्षण हटता जा रहा था, चकाचौंध दूर हो रही थी और दृष्टि के आगे से मोह तथा अज्ञान का परदा धीरे धीरे उठ रहा था।

जब हम द्वितीय उत्थानकाल की वीर गाथाओं की तुलना आदि युग की वीर रचनाओं से करते हैं, तब उनमें कुछ बातों में समता और कुछ में विभेद दिखाई पड़ता है। इस समता और विभेद पर ध्यान देना अत्यावश्यक है; क्योंकि समता में तो हम वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं और विभेद में विभिन्न कालों की परिस्थिति का विवरण पाते हैं। दोनों कालों की वीरगाथाएँ अद्भुत ओज से भरी हुई हैं। दोनों की भाषा में जो कठोरता है, वह वीरकाव्योचित है। इस साधारण समता के अतिरिक्त कई दृष्टियों से दोनों कालों की रचनाओं में विभेद भी है। पहला विभेद भाषा संबंधी है। आदि युग की वीरगाथाएँ अपभ्रंश-भाषाओं और पुरानी हिंदी के सम्मिश्रण-काल की हैं। उस समय हिंदी का कोई

स्थिर रूप निश्चित नहीं हो सका था, अतः उस काल की रचनाओं में भाषा की प्रौढ़ता कहीं देख नहीं पड़ती। दूसरी बात यह भी है कि प्रारंभिक काल की वीर रचनाओं का केंद्र राजपूताने के आस पास का प्रांत था, अतः उन रचनाओं में वहाँ की भाषा की गहरी छाप पड़ी है। इसके विपरीत द्वितीय उत्थान काल की वीरगाथाओं में साहित्यिक ब्रजभाषा अपने प्रौढ़ रूप में प्रयुक्त हुई है। एक प्रौढ़ भाषा के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, उत्तर-कालीन वीरगाथाओं को हम या तो प्रबंधकाव्य के रूप में देखते हैं या संस्कृत मुक्तकों के रूप में देखते हैं। इस काल में हम आदि युग के से वीर गीतों का अभाव पाते हैं।

इस समता और विभेद के साथ हम सामूहिक रूप से दोनों कालों की वीरगाथाओं का चित्र थोड़ा बहुत देख सकते हैं, परंतु कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का पता नहीं लगा सकते। वीरगाथा काल के प्रायः सभी कवि राजाश्रित थे और अपने अपने वीर आश्रयदाताओं की स्तुति में काव्य-रचना करते थे। यद्यपि उनके आश्रयदाताओं में अधिकांश सच्चे वीर थे और उन्होंने जातीयता की भावना से प्रेरित होकर मुसलमानों से लोहा लिया था, परंतु राजपूत नृपति आपस में भी लड़ा करते थे और उनकी शक्ति गृह-कलह में भी क्षीण होती रहती थी। उनमें संघटित होकर मुसलमानों से युद्ध करने की इच्छा उतनी अधिक बलवती नहीं थी जितनी अलग अलग शौर्य प्रदर्शन की थी। अतः हमें उनके प्रयासों में समस्त राष्ट्र के प्रयास नहीं मिलते। इसी प्रकार उनकी प्रशंसा करनेवाले कवियों में जातीय या राष्ट्रीय भावना की प्रधानता नहीं देख

पड़ती। इस दृष्टि से हम उत्तरकालीन वीर कविताकार "भूषण" को अन्य सब कवियों से विभिन्न श्रेणी में रखेंगे क्योंकि उसकी कृतियों में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त मिलती है, उसकी वाणी हिंदू जाति की वाणी है, वह हिंदुओं का प्रतिनिधि कवि है।

औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब आत्मरक्षा और प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके मार्ग-प्रदर्शन का कार्य समर्थ गुरु रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुंदेलखंड के प्रसिद्ध अधिपति छत्रसाल ने भी स्थानीय राजपूत शक्ति को उत्तेजित करने का सफल प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी झलक दिखाई पड़ी। संयोग से इन दोनों राष्ट्रोन्नायकों को भूषण तथा लाल जैसे सुकवियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति-संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों की सम्मिलित सहायता मिलती है, तब वह बड़े ही सौभाग्य की सूचना होती है और उससे उनके कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निर्धारित हो जाता है। इसी काल में सिक्खों की वीरता का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रहित की साधना में पूरा पूरा सहयोग दिया। पर सिक्ख धर्म का आरंभ संतों की वाणी तथा उन्हीं की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की

स्थिति ने इस धर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह संत साधुओं के धर्म का बाना उतारकर वीरों की वेष भूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि गुरु गोविंदसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई पर वे वीरगाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रगति के अनुकूल थे।

भूषण और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नायिका-भेद की पुस्तकों, नखशिख-वर्णनों और शृंगार रस के फुटकर पद्यों का जो प्रबल प्रवाह उस समय चला था, उससे बचकर रहना तत्कालीन किसी कवि के लिये बड़ा ही कठिन था। भूषण और लाल भी उस सर्वतोमुखी प्रवाह से एक दम बचे न रह सके। यद्यपि भूषण की सभी रचनाएँ प्रायः वीर रस की हैं परंतु उन्होंने अपने शिवराजभूषण नामक ग्रंथ में उन रचनाओं को विविध अलंकारों आदि के उदाहरण-स्वरूप रखा है। यह काल-दोष था। उस समय इससे बच सकना असंभव था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि वीर व्रत धारण किया था, तथापि विष्णु-विलास नामक नायिका-भेद की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के छत्रप्रकाश नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध छत्रसाल की वीरगाथा अंकित है, और प्रबंध काव्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उन्हीं की भाँति इनकी इस रचना में शृंगार रस नहीं आने पाया है।

वीरगाथाओं के इस युग के दो प्रधान कवि भूषण और लाल ही माने जाते हैं; परंतु सूदन के सुजान-चरित्र में भी वीर रस की अच्छी झलक मिलती है। सूदन ने अपने आश्रयदाता सूरजमल का चरित्र फड़कती हुई भाषा में लिखा है। सूरजमल ने संवत् १८०२ के लगभग मेवाड़ जीता था और १८०४ में तत्कालीन जयपुर नरेश की सहायता से मराठों पर विजय पाई थी। यही नहीं उसने दिल्ली के मुगल सम्राट् से भी युद्ध किया था और कई बार उसने मुगल सरदारों को पराजित किया था। सूरजमल के इसी वीरचरित का वर्णन सुजानचरित्र में मिलता है। यद्यपि इस पुस्तक में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है, पर इसके मूल में जातीयता की वह चेतना नहीं देख पड़ती जो भूषण और लाल की रचनाओं में मिलती है। यद्यपि इसका नायक सूरजमल ऐतिहासिक व्यक्ति है, पर राष्ट्रोन्नति के कार्य में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिली थी। इसी प्रकार प्रसिद्ध शृंगारी कवि पद्माकर की हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक वीर रस की प्रसिद्ध पुस्तक भी इसी काल में लिखी गई थी; पर उसके नायक हिम्मतबहादुर नामक व्यक्ति अवध के तत्कालीन बादशाह के यहाँ नौकर थे और उनका कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। चंद्रशेखर वाजपेयी नामक कवि ने संवत् १८६० के लगभग हम्मीरहठ नामक एक वीर-गाथा लिखी और वह अवश्य उल्लेखनीय है। उसके नायक हम्मीरदेव प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति थे जिन्होंने कितनी ही बार मुसलिम शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया था और जो हिंदुत्व की रक्षा में जी जान से लगे रहते थे। हम्मीर-

हठ में यद्यपि उन नवीन उद्भावनाओं की कमी है जो प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों में होती हैं, परंतु प्रौढ़ भाषा में लिखे हुए इस वीर काव्य का महत्त्व अन्य दृष्टियों से बहुत अधिक है। "तिरिया तेल हमीरहठ चढ़ै न दूजी बार" वाली प्रसिद्ध पंक्ति के रचयिता चंद्रशेखर का हम्मीरहठ अवश्य इस युग की वीरगाथाओं में उच्च स्थान का अधिकारी है। इस काल में अनेक वीरगाथाएँ लिखी गई थीं, जिनमें से मुख्य मुख्य कृतियों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। अन्य साधारण कृतियों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। अंत में हम एक बार फिर यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस युग के अनेक वीरगाथाकारों में भूषण और लाल ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

भूषण

महाकवि भूषण का रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यद्यपि इनके जन्म और रचनाकाल के संबंध में कुछ लोगों ने अनुसंधान करने की चेष्टा की है, परंतु उनकी खोज अभी तक पुष्ट प्रमाणों पर अवलंबित नहीं है। भूषण का मतिराम और चिंतामणि का भाई होना और उनका शिवाजी का समकालीन होना लोकप्रसिद्ध बात है। इसके विरुद्ध जो कुछ प्रमाण दिए जायँ जब तक वे असंदिग्ध न हों, तब तक इस लोकप्रसिद्ध बात का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। भूषण की वीर-दर्पपूर्ण रचनाओं के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं अनेक युद्धों में शिवाजी के साथ उपस्थित थे और उन्होंने अपनी वाणी से वीर मराठों को प्रोत्साहित और उत्तेजित किया था।

यद्यपि भूषण की अनेक रचनाओं का उल्लेख मिलता है, पर इस समय शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक ये ही तीन पुस्तकें प्राप्य हैं। इनमें से शिवराजभूषण सबसे बड़ा ग्रंथ है और यह रीतिकाल की परंपरा के अनुसार अलंकारों के उदाहरणक्रम से लिखा गया है। निश्चय ही इसके छंदों की रचना भिन्न भिन्न कालों में हुई होगी, और अंत में उनका संकलन कर दिया होगा। इसी प्रकार शिवाबावनी के बावन छंद भी समय समय पर बनते रहे और पीछे से एकत्र कर दिए गए होंगे। छत्रसालदशक में बुंदेलखंड के राजपूत अधिपति छत्रसाल की प्रशंसा में बनाए हुए दस छंद हैं।

यों तो भूषण की सभी रचनाएँ ओजस्विनी और वीरदर्प से भरी हुई हैं, परंतु उनकी शिवाबावनी में उपर्युक्त गुणों की पराकाष्ठा देख पड़ती है। भूषण की सत्यप्रियता उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। राष्ट्रीयता की जिस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने वीर कविता की, वह तो उनके प्रत्येक छंद में वर्तमान है। शिवाजी का आतंक चारों ओर फैलाने और विपत्तियों में उनकी धाक जमाने में भूषण की कविता ने बड़ा काम किया। उनकी कविताएँ बहुत शीघ्र प्रचलित हुईं और उनका सम्मान भी सर्वत्र हुआ। कविता द्वारा जितनी ख्याति, जितना सम्मान और जितना धन भूषण को मिला, उतना बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हुआ। राजदरबारों में उनका बड़ा सम्मान था। कहा जाता है, एक बार छत्रसाल ने उनकी पालकी अपने कंधे पर रख ली थी। आदर सम्मान की यह पराकाष्ठा ही कही जायगी।

मऊ (बुंदेलखंड) निवासी गोरेलाल पुरोहित उपनाम लाल कवि का छत्रप्रकाश प्रबंध-काव्य के रूप में दोहा चौपाइयों में रचा गया है। इसमें संवत् १७६४ के उपरांत की घटनाओं का उल्लेख नहीं है जिससे जान पड़ता है कि कवि की मृत्यु उसके आश्रयदाता छत्रसाल के जीवनकाल में ही हो गई थी। इस प्रकार पूरी जीवन-गाथा न होते हुए भी वीर छत्रसाल का यह चरित्र बड़ा ही उत्तम हुआ है। लंबे प्रबंधों में संबंध-निर्वाह और अरोचकता-निवारण आदि का जो ध्यान रखना आवश्यक होता है, इसमें उसका पूरा पूरा पालन हुआ है। रस-परिपाक में भी त्रुटि नहीं होने पाई है। वीर छत्रसाल महाराज शिवाजी को अपना नेता और पथप्रदर्शक मानते थे। कवि ने उनके इस संबंध की रक्षा करके अपनी सत्यप्रियता का परिचय तो दिया ही है, साथ ही उस राष्ट्रोत्थान में सहायता भी पहुँचाई है जिसका संचालन शिवाजी कर रहे थे। कवि की इस बात में बड़ी महत्ता है क्योंकि उसमें जातीय उन्नायकों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है, और वैयक्तिक ऊँच नीच भाव को अलग रखने की दूरदर्शिता भी है। उस युग के किसी कवि में ऐसी तत्त्वग्राही प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती।

लाल

भूषण और लाल दोनों ही कवियों में हम यह एक सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं कि वे क्लिष्ट कल्पनाओं और टेढ़ी बातों के फेर में न पड़कर सीधी और सरल भावव्यंजना करते हैं। उनका यह गुण उन्हें उस युग के प्रायः सभी अन्य कवियों से अलग एक ऊँची श्रेणी में ला बैठाता है। वास्तव में जो कवि जनता के हितैषी होते हैं और जिन्हें अपने युग का

कुछ संदेश देना होता है वे कभी वाणी का इंद्रजाल नहीं रचते, प्रत्युत सरल से सरल शब्दों में अपना संदेश कह सुनाते हैं। रीतिकाल के कवियों की तो यह एक प्रसिद्ध विशेषता थी कि वे अत्यंत मधुर भाषा में पुरानी पिष्टपेषित बातों को एक नए ढंग से कह डालते थे। उन्हें मौलिक बहुत कम कहना रहता था; अतः सीधी और स्वाभाविक उक्तियों से उनके कथन में विशेषता नहीं आ सकती थी। भूषण और लाल की रचनाएँ रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति के अपवाद स्वरूप हैं। उनमें न तो भाषा की स्वच्छता पर और न काव्योत्कर्ष की वृद्धि करने-वाले अन्य कृत्रिम साधनों पर उतना ध्यान दिया गया है। इन दोनों कवियों ने बड़े ही सीधे किंतु प्रभावशाली ढंग से अपने अपने चरित्रनायकों की यशोगाथा लिखी और राष्ट्र को इस प्रकार संघटन और स्वतंत्रता का दिव्य संदेश सुनाकर वे अपने युग के और हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि बने हैं।

आधुनिक समय की वीर कविताएँ

भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रतिष्ठित हो जाने पर अँग-रेजी की पढ़ाई प्रारंभ हुई। इसके परिणामस्वरूप अँगरेजी शिक्षा प्राप्त एक दल तैयार हुआ और धीरे धीरे उसमें राष्ट्रीय उन्नति के भाव उदय हुए। राष्ट्रीय उन्नति की कल्पना सर्वतोमुखी थी। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में सुधार का आयोजन होने लगा। यद्यपि अन्य प्रांतों में भी शीघ्र ही राष्ट्रोन्नायकों का प्रादुर्भाव हुआ पर बंगाल के राजा राममोहन राय ने पथप्रदर्शक का काम किया। हिंदी भाषाभाषी प्रांतों में स्वामी दयानंद का कार्य सर्वथा प्रशंसनीय था। उनके अन्य विचारों से चाहे कोई सहमत

हो या न हो पर, इतना तो मानना ही पड़ता है कि सुषुप्त देश को जगाने और गिरी हुई दशा पर ध्यान दिलाने का उनका प्रयत्न हमारे लिये कल्याणकर हुआ। स्वामी दयानंद अँगरेजी भाषा के विद्वान् नहीं थे; फिर भी उनमें देशोन्नति की उच्चाकांक्षा किसी अँगरेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से कम नहीं थी; और उनका उद्योग तो सर्वाधिक सफल हुआ। हिंदी कविता के क्षेत्र में देशोन्नति संबंधी उत्साहवर्द्धक वीर रसात्मक कविता का प्रारंभ स्वामी दयानंद के कुछ काल उपरांत हो गया था; पर वीर रस का कोई प्रसिद्ध उल्लेख योग्य कवि नहीं हुआ। इस काल में थोड़ी सी फुटकर रचनाओं में वीरता की अच्छी झलक देख पड़ती है; पर किसी कवि को एक मात्र वीररस की कविता करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। थोड़े समय पीछे महात्मा गांधी के देशव्यापी असहयोग आंदोलन का प्रारंभ हुआ और हिंदी को राष्ट्रभाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जब हिंदी राष्ट्रभाषा मानी गई, तब उसमें राष्ट्र के विचारों और आकांक्षाओं की छाप अवश्य मिलनी चाहिए। इधर थोड़े दिनों से हिंदी में वीर कविता भी प्रारंभ हुई है। ये कविताएँ या तो वर्तमान परिस्थिति में प्रोत्साहन के रूप में हैं, या प्राचीन वीरों की प्रशस्तियों के रूप में हैं। आधुनिक समय के वीर कविताकारों के संबंध में यह बात स्वीकृत करनी पड़ती है कि उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो कविता लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठते हैं, वास्तविक कार्यक्षेत्र में साहसपूर्वक प्रवेश करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई पड़ती। आजकल ऐसे कवियों की एक अलग श्रेणी बन गई है, जिन्हें हम साहित्यिकों

की श्रेणी कह सकते हैं और जिनका राष्ट्र की वर्तमान कार्य-प्रणाली से केवल मौखिक संबंध है। वीर कवियों के लिये यह बात वांछनीय नहीं। उनकी कविताओं का विशेष प्रचार न होने का यही कारण है। जनता के हृदय में तो वे ही स्थान पा सकते हैं जो उसके सुख दुःख के साथी हों, उसकी स्थिति अपनी आँखों से देखते और समझते हों। कविता द्वारा प्रोत्साहन देना तभी सार्थक हो सकता है जब कार्यक्षेत्र में आकर वास्तविक प्रोत्साहन भी दिया जाय। यूरोप के आधुनिक राष्ट्रोन्नायकों में महात्मा टाल्स्टाय ऐसे महापुरुष हो गए हैं जिनकी वाणी और उपदेश स्वयं उन्हीं में चरितार्थ होते थे। वे जो कुछ कहते थे वही करते भी थे। फलतः उनके देश-निवासियों ने उनकी कृतियों का सम्मान धार्मिक पुस्तकों का सा किया और वे स्वयं सबकी दृष्टि में पूजनीय हुए। हमको इस समय ऐसे ही कवियों की आवश्यकता है। हिंदी में अभी ऐसे कवि नहीं हैं। वीर कविताकारों में उल्लेख योग्य नाम माखनलालजी चतुर्वेदी, बालकृष्णजी शर्मा, गयाप्रसादजी शुक्ल, अनूप, वियोगी हरि, माधव शुक्ल आदि के हैं। लाला भगवानदीन का वीर पंचरत्न और वियोगी हरि की वीर सतसई इस प्रकार के काव्यों की अर्वाचीनतम उत्तम कविताएँ हैं। इस प्रकार की आधुनिक रचनाओं का थोड़ा बहुत प्रभाव राष्ट्रीय जीवन पर पड़ा है, पर अभी इस क्षेत्र में विशेष उन्नति की आवश्यकता है।

पाँचवाँ अध्याय

भक्तिमार्ग की ज्ञानाश्रयी शाखा

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान के संबंध में लिखते हुए हम उस समय की राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का पहले उल्लेख कर चुके हैं, और यह भी बतला चुके हैं कि शंकर स्वामी के अद्वैत-वाद को इने गिने चिन्तनशील महात्माओं के ही उपयुक्त मानकर स्वामी रामानुज ने लोकोपयोगी भक्ति का आविर्भाव किया था। साथ ही हम यह भी दिखला चुके हैं कि शंकराचार्य के अद्वैत मत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। रामानुज के उपरांत भक्ति का एक व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके मुख्य उन्नायकों में मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य, रामानंद, वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जैसे महात्मा हुए। इनके स्निग्ध सरस हृदय का अवलंबन पाकर भक्ति की एक प्रबल और पवित्र धारा बह चली। भक्ति की इस धारा में अनेक उपास्य देवों और उपासनाभेदों के रूप में अनेक स्रोतों का प्रादुर्भाव हुआ, परंतु मूल धारा में कुछ भी अंतर न पड़ा, वह एकरस बनी रही। विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बालकृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों के सम्मिलित प्रभाव से भक्ति अधिकाधिक शक्तिसंपन्न होती गई, साथ ही जनता का विशेष मनोरंजन और दुःख-निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्ति-संप्रदायों का

भक्ति-प्रवाह

हमारे साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा, और वीरगाथा काल की एकांगिता दूर होकर हिंदी में एक प्रकार की व्यापकता और आध्यात्मिकता का समावेश हुआ। मध्य युग का हिंदी साहित्य हिंदी के इतिहास में तो उत्कृष्टता की दृष्टि से अतुलनीय है ही, उसकी तुलना संसार के अन्य समृद्ध साहित्यों से भी भली भाँति की जा सकती है। हिंदी के इस उत्कर्षवर्द्धन में तत्कालीन भक्ति-अभ्युत्थान ने विशेष सहायता पहुँचाई थी।

तत्कालीन भक्ति-आंदोलन के साथ हिंदी साहित्य का तारतम्य ढूँढ़ लेना विशेष कठिन नहीं है। रामानुज और मध्वाचार्य का प्रचारक्षेत्र अधिकतर दक्षिण में ही था, और उन्होंने संस्कृत भाषा में ही अपने उपदेश दिए थे, अतः हिंदी साहित्य पर उनका कोई स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देख पड़ता। महात्मा नामदेव ने देशभाषा का आश्रय लिया था परंतु वे महाराष्ट्र प्रांत के निवासी थे, इसलिये हिंदी में उनकी बहुत थोड़ी वाणी मिलती है। हिंदी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हुईं। परंतु जब महात्मा रामानंद ने भक्ति को लोकव्यापक बनाकर और जाति-पाँति का भेद मिटाकर जनता की भाषा में अपने उपदेश दिए, तब हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि का विशेष अवसर प्राप्त हुआ और बड़े बड़े महाकवियों के आविर्भाव से उसका उत्कर्ष साधन हुआ। महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में एक ओर तो कबीर हुए, जिन्होंने ज्ञानाश्रयी भक्ति का उपदेश देकर एक नवीन संप्रदाय खड़ा किया, और दूसरी ओर कुछ दिनों बाद महात्मा तुलसीदास हुए जिनकी दिव्य वाणी का हिंदी को सब से अधिक गर्व

है। इसी समय भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी प्रेमवाद के सम्मिश्रण से हिंदी में कुतुबन, जायसी आदि प्रेमगाथाकारों का भी आविर्भाव हुआ जिनकी रचनाओं से हिंदी साहित्य को कम लाभ नहीं पहुँचा। महात्मा वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों का आविर्भाव भी इसी काल में हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो कबीर आदि संत कवियों की परंपरा चली और दूसरी ओर महात्मा तुलसीदास की रामभक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। साथ ही जायसी आदि की प्रेमगाथाएँ भी रची गईं और महाकवि सूरदास जैसे कृष्णभक्त कवियों का संप्रदाय भी चला। यद्यपि इस अध्याय में हम कबीर आदि संत कवियों की निर्गुण भक्तिपरंपरा का ही विवेचन करेंगे, पर इसके पहले हम संक्षेप में हिंदी के भक्ति युग के मुख्य मुख्य कवि-संप्रदायों और उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर विचार कर लेंगे।

विद्यापति

काल की पूर्वापरता का ध्यान रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विद्यापति ही हिंदी में भक्ति काव्य के प्रथम बड़े कवि हैं। उनकी रचनाएँ राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओतप्रोत हैं जिनसे कवि की भावमग्नता का परिचय मिलता है। यद्यपि संयोग शृंगार का वर्णन करते हुए विद्यापति कहीं कहीं असंयत भी हो गए हैं, पर उनकी अधिकांश रचनाओं में भावधारा बहुत ही निर्मल और सरस हुई है। यह सब होते हुए भी विद्यापति के पीछे हिंदी में थोड़े दिनों तक कृष्णभक्ति की कविता नहीं हुई। हमारा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की कविता का

उत्तर भारत में उतना प्रचार नहीं हुआ जितना बंगाल आदि में हुआ। उनकी कविता से बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन को बहुत कुछ सहायता पहुँची, पर हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में उसका अधिक प्रचार उस समय नहीं हुआ। विद्यापति की भाषा में मैथिली का पुट बहुत गहरा चढ़ा हुआ है। इससे कुछ लोग हिंदी कवियों में उन्हें गिनने में आगा-पीछा करते हैं। दूसरे लोगों का यह कहना है कि जब वीरगाथा काल के राजस्थानी कवियों को हम हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं, तब कोई कारण नहीं है कि विद्यापति की रचनाओं को भी हम हिंदी साहित्य में सम्मिलित न करें। भावों और विचारों की दृष्टि से तो विद्यापति की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानने में संकोच नहीं होना चाहिए, यद्यपि हिंदी भाषा के विकास का विवेचन करते समय मैथिली को उपभाषा मानने में संकोच हो सकता है। वह तो पूर्वी हिंदी का एक रूप है। बँगला भाषा से उसका जितना मेल है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक हिंदी से उसका मेल है; और इसी लिये विद्यापति की रचनाओं के लिये बंगला साहित्य की अपेक्षा हिंदी साहित्य में कहीं अधिक उपयुक्त और न्यायसंगत स्थान है।

ज्ञानाश्रयी संत

विद्यापति के उपरांत हिंदी में दूसरे बड़े भक्त कवि महात्मा कबीरदास हुए जिनकी उपासना निर्गुण उपासना थी और जिनकी प्रेरणा से हिंदी में ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की एक शाखा चल पड़ी। कबीर, नानक, दादू, जगजीवन, सुंदर आदि इस शाखा के प्रधान कवि हुए थे। ये सब संत और महात्मा थे।

इन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करके हिंदुओं और मुसलमानों के द्वेष भाव की निंदा की और दोनों में एकता स्थापित करने का उद्योग किया। ये संत सभी जातियों के थे और उनके उपदेशों में भी जाति-पाँति के भेद मिटा-कर "हरि को भजे सो हरि को होई" के आधार पर मानव मात्र की एकता स्थापित करने की चेष्टा की गई। अध्यात्म पक्ष में तो इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म को ही ग्रहण किया, पर उपासना के लिये निर्गुण में भी गुणों का आरोप करना पड़ा। तात्त्विक दृष्टि से ऐसा करने में कोई हानि नहीं है। उपासना में निर्गुण की प्रतिष्ठा करके और वेदों, पुराणों तथा कुरान आदि की निंदा करके मानो हिंदू और मुसलमानों में एकता स्थापन का दोहरा प्रयत्न किया गया। इन संत कवियों ने लौकिक जीवन को भी अत्यंत सरल, निर्मल और स्वाभाविक बनाने के उपदेश दिए तथा सदाचार आदि पर विशेष जोर डाला। इस सबका फल यह हुआ कि एक सामान्य भक्ति-मार्ग उठ खड़ा हुआ जिसका आधार परोक्ष सत्ता की एकता और लौकिक जीवन की सरलता हुआ। जनता इस ओर बहुत कुछ खिंची।

प्रेममार्गी संत

इन संत कवियों के संप्रदाय से भक्ति का जिस रूप में विकास हुआ, उससे लोकरंजन न हो सका। एक तो निर्गुण ब्रह्म स्वयं लोकव्यवहार से अलग था; तिस पर कबीर आदि की वाणी से उसमें और भी जटिलता सी आ गई। इन संत कवियों में विधि-विरोध की जो धुन थी उससे भी उच्छृंखलता ही फैली। सभ्य समाज वेदों और पुराणों की निंदा सुनने को तैयार नहीं था, संभवतः

इसी लिये संतों को निम्न समाज में ही अपनी वाणी का विस्तार करना पड़ा। यह सब होते हुए भी हमको यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे संत कवियों ने परमार्थ तत्त्व की एकता का प्रतिपादन करके और सरल तथा सदाचारपूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था देकर हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर किया और उनमें परस्पर हेल-मेल बढ़ाया। इन संत कवियों के ही समय से हिंदी में सूफी कवियों की भी एक परंपरा चली जिनमें अधिकतर मुसलमान संत कवि ही सम्मिलित हुए। इन कवियों ने भारतीय अद्वैतवाद में प्रेम का संयोग करके बड़ी ही सुंदर और रहस्यमयी वाणी सुनाई। इस श्रेणी के कवियों ने अधिकतर प्रबंध काव्य के रूप में प्रेम-गाथाएँ लिखी हैं। वे प्रेमगाथाएँ हिंदुओं से ही संबंध रखती हैं और पूरी सहानुभूति के साथ गाई गई हैं। व्यावहारिक जीवन में हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने में इन कवियों ने विशेष सहायता पहुँचाई। इनकी रचनाओं में मानव मात्र को स्पर्श करनेवाली, मानवमात्र से सहानुभूति रखनेवाली उदार भावनाएँ थीं, जिनसे तत्कालीन सामाजिक संकीर्णता बहुत कुछ कम हुई। कबीर आदि संत कवियों के शुष्क निर्गुण ब्रह्म को भी इन कवियों ने बहुत कुछ सरस बना दिया, यद्यपि वह सरसता बहुत कुछ अस्पष्ट और रहस्य-मूलक ही रही।

कृष्णभक्त कवि

जहाँ एक ओर हिंदू और मुसलमान संतों तथा फकीरों की कृपा से हिंदुओं में नीच कहलानेवाली जातियों के प्रति उदारता बढ़ी और मुसलमानों के प्रति द्वेष कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भक्ति-परंपरा का आश्रय लेकर कृष्णभक्ति और रामभक्ति का

विकास भी उनमें हुआ। हम पहले ही कह चुके हैं कि महात्मा रामानंद ने "सीताराम" को अपना उपास्य देव माना था और अपनी अलग शिष्य-परंपरा चलाई थी, जिसमें रामोपासना का ही आश्रय लिया जाता रहा। इसी प्रकार हम वल्लभाचार्य की कृष्णभक्ति का भी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। बल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ हुए जिन्होंने चार अपने और चार अपने पिता के शिष्यों को लेकर उन पर कृष्णभक्ति की छाप लगा दी। यही हिंदी साहित्य के इतिहास में अष्टछापवाले कवि कहलाते हैं जिनमें से प्रधान कवि महात्मा सूरदास कहे जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवनचर्या अंकित की है, पर प्रधानता उनके लोकरंजक बालस्वरूप की ही पाई जाती है। इसका कारण यह है कि स्वामी वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। भक्त कवियों ने कृष्ण का वह मधुर मनोरंजक स्वरूप हृदयंगम किया था जो बाललीलाएँ करनेवाला और गोपिकाओं को रिझाने-खिझानेवाला था। कृष्ण के उस स्वरूप की इन कवियों ने सर्वथा उपेक्षा की जिसका मनोरम चित्र महाभारत में उपस्थित किया गया है। कृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप की जो अभिव्यक्ति पूतना-संहार, बकासुर-वध, कंस-नाश आदि में देख पड़ती है, उसकी ओर कृष्णभक्त कवियों का बहुत कम ध्यान गया, फलतः उसके वर्णन भी कम हैं और वे हैं भी नीरस, मानों कवियों की वृत्ति उनमें रमी ही न हो। इन कृष्णभक्त कवियों की कृपा से हिंदू जनता का अभूतपूर्व मनोरंजन हुआ, पर इनसे उसकी तत्कालीन निराशा का पूरा पूरा परिहार न हो सका।

इसी समय मानों हिंदू जनता की निराशा का उन्मूलन करने तथा हिंदी कविता के उत्कर्ष को चरम सीमा तक पहुँचाने के लिये महात्मा रामानंद की शिष्यपरंपरा में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। गोस्वामीजी रामभक्त थे और उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीराम को निस्सीम शील, सौंदर्य और शक्ति से संपन्न अंकित किया है। रामचरितमानस में श्रीरामचंद्र के इस स्वरूप के हमको पूरे पूरे दर्शन मिलते हैं, यद्यपि गोस्वामीजी की अन्य रचनाओं में भी राम की वही मूर्त्ति देख पड़ती है। लोकव्यवहार में राम को खड़ा करके और उनमें शक्ति, शील तथा सौंदर्य को चरम सीमा तक पहुँचाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति को अनंत उदार तथा कल्याणकर और आकर्षक बना दिया। यदि वे चाहते तो कृष्णभक्त कवियों की भाँति राम की बालक्रीड़ाओं को ही प्रधानता देकर उन्हें केवल नेत्ररंजक बना सकते थे; पर गोस्वामीजी के उदार हृदय में जो लोक-भावना समाई हुई थी, उसकी अवहेलना वे कहाँ तक कर सकते थे? राम के उत्पन्न होते ही "भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी" आदि कहकर गोस्वामीजी ने मानों राम का लोक-रंजक स्वरूप उनके लोकरक्षक तथा अनिष्टनाशक स्वरूप के पीछे रख दिया है। जो समालोचक गोस्वामीजी का यह भाव न समझकर उनकी वर्णित राम की बाल-लीला की तुलना सूर-दास आदि कवियों के बाल-लीला वर्णन से करते हैं, वे गोस्वामीजी के साथ अन्याय करते हैं। गोस्वामीजी लोक-धर्म के कट्टर समर्थक थे और उनके राम भी वैसे ही प्रदर्शित

रामभक्त कवि

किए गए हैं। जनता इस नवीन भक्ति मार्ग की ओर बड़ी उत्सुकता से खिंची और रामभक्त कवियों की परंपरा भी चली। परंतु यह कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा से हिंदू जनता तथा हिंदी साहित्य में जो आलोक फैला दिया था, उसके कारण अन्य रामभक्त कवि चकाचौंध में पड़ गए और जनता उन्हें बहुत कम देख और समझ सकी।

कबीर आदि के आविर्भाव काल की परिस्थिति

प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के उपरांत हिंदी साहित्य में वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। हिंदुओं की सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गई थीं, वे अपनी प्रशंसा सुनने का साहस भी नहीं कर सकते थे। तैमूर के आक्रमण ने देश को जहाँ तहाँ उजाड़कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। हिंदू जाति में से जीवन-शक्ति के सब लक्षण मिट गए। विपत्ति की सीमा पर पहुँचकर मनुष्य पहले तो परमात्मा की ओर ध्यान लगाता है, और अपने कष्टों से त्राण पाने की आशा करता है, पर जब स्थिति में सुधार नहीं होता तब परमात्मा की भी उपेक्षा करने लगता है—उसके अस्तित्व पर भी उसका विश्वास नहीं रह जाता। कबीर आदि संत कवियों के जन्म के समय हिंदू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिये बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसका रुकना कदाचित् कठिन हो जाता। परंतु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्ति-भाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस

समय तैयार नहीं थी। मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे हुए श्रद्धालुओं के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आनेवाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्तशिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुणभक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभास मात्र मिल सकता था। पर प्रबल जलधारा में बहते हुए मनुष्य के लिये वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिखलावे? उसकी ओर बहकर आता हुआ तिनका भी जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न की और उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जलराशि के ऊपर

बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल रामभक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी। पर इससे जनता पर होनेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार आँखें मूँद करके सूर तुलसी को ग्रहण कर लेते? सारांश यह कि इन संत कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष थी। उसे मृत्यु या धर्मपरिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मशील तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व युक्तिसंगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निस्सारता का परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी उठ चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उलटनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुणोपासक थे। अतएव उनसे मिलते जुलते पथ पर लगाकर कबीर आदि ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिये मार्ग परिष्कृत कर दिया और उत्तरीय भारत के

भावी धर्ममय जीवन के लिये उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया।

जिस समय निर्गुण संत कवियों का आविर्भाव हुआ था, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। हिंदू जनता को अपना नैराश्य दूर करने के लिये भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिंदू और मुसलमान दोनों विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता था और जिसका मूलाधार भारतीय ब्रह्म-वाद तथा मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समानता स्थापित हो सकती थी। भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वर-वाद के भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, पन्ना, भवानंद, पीपा और रैदास थे परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा, जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पददलित शूद्रों की दृष्टि का उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय

ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है; न उनमें कोई छोटा है और न कोई बड़ा। अतएव इन ठुकराए हुए शूद्रों में से कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता उद्घोषित कराने का विचार किया। इस नवोत्थित भक्ति-तरंग में सम्मिलित होने के कारण हिंदू समाज में प्रचलित भेद भाव के विरुद्ध आंदोलन होने लगा। रामानंदजी ने सबके लिये भक्ति का मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे पर उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

सामाजिक उदारता

इस निर्गुण भक्ति ने वर्णभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्गभेद से उत्पन्न उच्चता-नीचता को भी दूर करने का प्रयत्न किया। स्त्रियों का पद स्त्री होने के ही कारण नीचा न रह गया। पुरुषों के ही समान वे भी भक्ति की अधिकारिणी हुईं। रामानंद के शिष्यों में से दो स्त्रियाँ थीं, एक पद्मावती और दूसरी सुरसरी। आगे चलकर सहजो बाई और दया-बाई भी भक्त संतों में से हुईं। स्त्रियों की स्वतंत्रता के विरोधी, उनको घर की चहारदीवारी के अंदर ही कैद रखने के पक्षपाती तुलसीदासजी भी जो मीराबाई को "जिनके प्रिय न राम बैदेही। तजिए तिन्हें कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही" का उपदेश दे सके, उसे निर्गुण भक्ति के ही अलक्ष्य और अनिवार्य प्रभाव का प्रसाद समझना चाहिए। ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है वह दूसरी ही दृष्टि से। वहाँ उनका अभिप्राय स्त्री पुरुष के कामवासनापूर्ण संसर्ग से है। कबीर से बढ़कर कदाचित् ही और किसी ने स्त्री की निंदा की हो,

परंतु फिर भी उनकी पत्नी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

कबीर इस निर्गुण भक्तिप्रवाह के प्रवर्तक थे, परंतु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गए थे। नामदेवजी जाति के दरजी थे और दक्षिण के सतारा जिले में नरसी वमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पंढरपुर में विठोवाजी का मंदिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे, परंतु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया, जैसा कि उनके कुछ पदों से प्रकट होता है। कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत चल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव परिलक्षित होता है। नानक, दादू, शिव-नारायण, जगजीवनदास आदि जितने प्रमुख संत हुए, सबने कबीर का अनुकरण किया और अपना अपना अलग मत चलाया। इनके विषय की मुख्य बातें ऊपर आ गई हैं, फिर भी कुछ बातों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सबने नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा गाई है और मूर्तिपूजा, अव-तारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति-पाँति का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया है। परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं, और उनके मतों में भी कर्मकांड का आडंबर भर गया है। कई मतों में केवल द्विज लिए जाते हैं। केवल नानकदेवजी का चलाया सिक्ख संप्रदाय ही ऐसा है जिसमें जाति-पाँति का भेद नहीं आने पाया, परंतु उसमें भी कर्मकांड

धार्मिक सिद्धांत

की प्रधानता हो गई है और ग्रंथ साहब का प्रायः वैसा ही पूजन किया जाता है, जैसा मूर्तिपूजक मूर्ति का करते हैं। कबीर-पंथी मठों में भी कबीरदास के मनगढंत चित्र बनाकर उनकी पूजा होने लगी है और सुमिरनी आदि का प्रचार हो गया है।

यद्यपि आगे चलकर निर्गुण संत मतों का वैष्णव संप्रदायों से बहुत भेद हो गया, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संत-धारा का उद्गम भी वैष्णव भक्तिरूपी स्रोत से ही हुआ है। श्रीरामानुज ने संवत् ११४४ में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था, पर उनकी भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था। उनका अद्वैत, विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता चलेगा कि संतधारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्यदेव और उत्तर भारत में बल्लभाचार्यजी के प्रभाव से भक्ति के लिये परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई, यद्यपि सिद्धांत-रूप से ज्ञान मार्ग का त्याग नहीं किया गया। और तो और तुलसीदासजी तक ने ज्ञानमार्ग की बातों का निरूपण किया है, यद्यपि उन्होंने उन्हें गौण स्थान दिया है। संतों में भी कहीं कहीं अनजान में सगुणवाद आ गया है, और विशेषकर कबीर में, क्योंकि गुणों का आश्रय पाकर ही भक्ति हो सकती है। शुद्ध ज्ञानाश्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिये ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि जब वैष्णव संप्रदाय ने आगे चलकर

व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति से ही अपना संबंध रखा।

संत कवियों के धार्मिक सिद्धांतों और सामाजिक व्यवस्था के संबंध में उपर्युक्त बातें कहकर उनके व्यावहारिक सिद्धांतों पर भी ध्यान देना आवश्यक है; क्योंकि इन कवियों ने इतने प्रभावोत्पादक ढंग से सरल सदाचारपूर्ण लौकिक जीवन का उपदेश दिया और स्वयं इतनी सचाई से उसका पालन किया कि जनता पर उन उपदेशों का विशेष प्रभाव पड़ा और तत्कालीन सामाजिक दंभ बहुत कुछ कम हुआ। उन्होंने देखा था कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी से उन्हें मुक्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ-व्रत, मंदिर सबका उन्होंने विरोध किया है। इस बाहरी आडंबर के लिये उन्होंने हिंदू मुसलमान दोनों को खूब फटकारें बतलाई हैं। धर्म को वे आडंबर से परे एक मात्र सत्य सत्ता मानते थे जिसके हिंदू मुसलमान आदि विभाग नहीं हो सकते। उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बंधन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट शब्दों में संकीर्ण सांप्रदायिकता का खंडन किया है। पर समय पाकर हिंदुओं के पौराणिक धर्म विचारों का प्रभाव इन सब संत महात्माओं के संप्रदायों पर पड़ा। क्रमशः इन आचार्यों के कल्पित या वास्तविक चित्र बनाए गए और विधिवत् उनकी पूजा अर्चा होने लगी, साथ ही सगुणोपासना के अन्य उपचारों—जैसे, माला, आसन, कमंडल आदि—का भी इन संप्रदायों में उपयोग होने लगा। सारांश

व्यावहारिक सिद्धांत

यह है कि हिंदू धर्म की जिन बातों का इन संत संप्रदायों के आचार्यों ने बड़ा तीव्र खंडन किया है, उन्हें ही पीछे से उनके अनुयायियों ने ग्रहण किया और उन्हें भिन्न भिन्न संप्रदायों के आगे के रूप में प्रतिष्ठित किया।

अलोकोपयोगी प्रवृत्ति

क्रमशः कबीर, दादू आदि संतों के अनेक संप्रदाय चल पड़े जिनमें धार्मिक संकीर्णता का पूरा पूरा प्रवेश हुआ। यद्यपि संत कवियों के उपदेशों में बड़ी उदारता और तात्विक व्यापकता है, परंतु उनके अनुयायियों की दृष्टि उसे ग्रहण नहीं कर सकी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इन महात्माओं की वाणी में वैयक्तिक साधना के उपयुक्त ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत हैं, पर वैयक्तिक साधना के उपयुक्त होने के कारण ही वे लोकवाह्य भी हैं। सामान्य सामाजिक व्यवस्था में जो ऊँच-नीच के भेद होते हैं, उसमें जो अनेक विधि-निषेध रखे जाते हैं, उनसे समाज के संचालन में सहायता ही नहीं मिलती, राष्ट्रीय विकास के लिये भी वे परमोपयोगी हैं। उनका समुचित पालन न होने से समाज में उच्छृंखलता फैल जाती है जिससे उसका ह्रास होता है। संत कवियों की वाणी में लोकभावना पर उतनी दृष्टि नहीं रखी गई है जितनी व्यक्तिगत विकास पर। परंतु व्यक्तिगत विकास का वास्तविक आशय थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं, सारा समाज उसका अधिकारी नहीं होता। भक्त संतों के उपदेशों से अनुचित लाभ उठाकर "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धांत को साधारण सामाजिक जीवन में व्यवहृत करने की चेष्टा की जाने लगी जिससे कोई शुभ परिणाम नहीं निकल सका। गोस्वामी

तुलसीदास ने इस प्रकार की कुचेष्टाओं का तीव्र प्रतिवाद किया था।

रहस्यवाद

इन संत कवियों की उपासना निराकारोपासना थी; अतएव उनकी वाणी में अपने उपास्य के प्रति जो संकेत मिलते हैं, वे केवल आभास के रूप में हैं, और बड़े ही रहस्यात्मक हैं। जब भक्ति का आलंबन व्यक्त होता है, तब तो भक्त की वाणी स्वभावतः स्पष्ट और निश्चित होती है, परंतु जब भक्त चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश करके आकार का परित्याग कर अगोचर की ओर अग्रसर होता है तब उसे रहस्यात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार काव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। इस बात का अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आया है कि संसारचक्र का प्रवर्तन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है, परंतु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखाई देती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप दिखाई पड़ते हैं, और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचारधारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। जो लोग अपनी लगन से इस क्षेत्र में सिद्ध हो चुके हैं, उन्होंने जब जब अपनी अनुभूति के निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब तब उन्होंने अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया है। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे का सा गुड़ है। यही रहस्यवाद का मूल है। वेदों और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है।

२२

जहाँ कहीं ब्रह्म की निर्गुण सत्ता का उल्लेख किया गया है, वहाँ बराबर इसी रहस्यात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। गीता में भगवान् के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह भी अत्यंत रहस्यपूर्ण है।

संतों की रहस्यमयी उक्तियाँ स्थान स्थान पर बड़ी ही मनोमोहिनी हुई हैं। प्रकृति के नाना रूपों में एक नित्य चेतन शक्ति की झलक देखकर भावमग्न होने की कल्पना भी कितनी मधुर और कितनी मोहक है। समस्त दृश्य जगत् आनंद के प्रवाह से आप्लावित हो रहा है, इसके अणु अणु उस आनंद से अपना संबंध चरितार्थ कर रहे हैं, आदि भावनाएँ जितनी रहस्यमयी हैं, उतनी ही हृदयहारिणी भी हैं। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराबाई ने संसार को पुरुष-विहीन बतलाकर सबके एकमात्र स्वामी "गिरिधर गोपाल" को ही अपना पति स्वीकार किया है। परमात्मा पुरुष है, प्रकृति उसकी पत्नी है—यह कल्पना बड़ा ही रहस्यात्मक परंतु अत्यंत सत्य है, संतों ने इसकी अनुभूति की थी। कबीर ने भी एक स्थान पर अपने को "राम की बहुरिया" बतलाया है। संसार ने स्त्री पुरुष के जो भेद बना रखे हैं, तात्त्विक दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं, वे कृत्रिम हैं। वास्तव में सारी प्रकृति—सारा दृश्य जगत् परम पुरुष की पत्नी है। यही तथ्य है। इसी प्रकार परमात्मा की माता, पिता, स्वामी, सखा तथा पुत्र आदि रूपों में भी उपासना की गई है। "हरि जननी मैं बालिक तेरा" कहकर कबीर ने हरि को माता बतलाया है। इसी भाँति अन्य रूपकों द्वारा भी ब्रह्म और जीव के संबंधों की व्यंजना की गई है। ये सभी संबंध भावना में रहस्यात्मक हैं क्योंकि लौकिक

अर्थ में तो परमात्मा पिता, माता, प्रिया, प्रियतम आदि कुछ भी नहीं। ऐसे ही कहीं "वै दिन कब आवेंगे भाइ। जा कारनि हम देह धरी है मिलिवौ अंग लगाइ" कहकर परमात्मा से जीवात्मा के वियुक्त होने, और कहीं "मो को कहाँ ढूँढ़ै बंदे मैं तो तेरे पास में" कहकर दोनों के मिल जाने आदि का संत कवियों ने बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से वर्णन किया है।

साहित्यिक समीक्षा

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि नहीं कर सकते; और न सूर, तुलसी की सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की जैसी एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण संत कवि उतनी सफलता से वह नहीं दिखा सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी साहित्य में अत्यंत उत्कर्ष-पूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की प्रांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत अधिक है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवनधारा के प्रवाह से भिन्न नहीं। उसमें उनका हृदय घुला मिला है। उनकी प्रतिभा हृदय-

समन्वित है। उनकी बातों में ऐसा बल है जो दूसरों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यंत भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़ तोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव बिहारी आदि कवियों में मिलती है, उस अर्थ में उनमें मिलना असंभव है। प्रयत्न उनकी कविता में कहीं देख नहीं पड़ता। अर्थ की जटिलता के लिये संतों की उलटवासियाँ केशव की शब्द-माया को मात करती हैं। परंतु उनमें भी प्रयत्न दृष्टिगत नहीं होता। सत्य के प्रकाश का साधन बनकर कविता स्वयमेव उनकी जिह्वा पर आ बैठी थी।

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

कबीर

अब तक के अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म संवत् १४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि ये ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित पालित हुए। कदाचित् उनका बाल्यकाल मगहर में बीता था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल के कुछ पहले उन्हें पुन: मगहर जाना पड़ा हो। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को इन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेख तकी

कबीर

नामक कोई सूफी मुसलमान फकीर थे। धर्मदास और सुरत गोपाल नाम के उनके दो चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीरपंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरत गोपाल काशीवाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथ प्रायः लोई का नाम भी लिया जाता है। संभवतः लोई उनकी पत्नी और कमाल उनका पुत्र था।

कबीर बहुश्रुत थे। उनको सत्संग से वेदांत, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया था परंतु वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। योग की क्रियाओं के विषय में उन्हें जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उन्होंने उल्लेख किया है, पर वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में सम्मिलित किया है। उन्होंने केवल हिंदू और मुसलमान धर्मों का मुख्यतया उल्लेख किया है, पर अन्य धर्मों से भी उनका परिचय था। कबीरदास सरल जीवन के पक्षपाती तथा अहिंसा के समर्थक थे। उन्होंने शाक्तों की बड़ी निंदा की है।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता को उनमें काव्यानंद नहीं मिलता। परंपरा से बँधे हुए लोगों को काव्य-जगत् में भी इंद्रिय-लोलुपता का कीड़ा बनकर रहना ही अच्छा लगता है। कबीर ऐसे लोगों की परितुष्टि की परवा कैसे कर सकते थे, जिनको निरपेक्षों के प्रति होनेवाला उनका प्रेम भी शुष्क लगता है? प्रेम की पराकाष्ठा आत्मसमर्पण का मानो काव्य-जगत् में कोई मूल्य ही नहीं है।

कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, परंतु सच्ची कला के लिये तो तथ्य की आवश्यकता है। भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडंबरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है। एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। परंतु कबीर का आसन उस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतंत्रता न मिली हो, तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है।

कबीरदास छंदशास्त्र से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिंता उनके लिये व्यर्थ थी। परंतु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिये शब्द की मात्रा या वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता न थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिसमें वे सुननेवालों के हृदय में पैठ जायँ और पैठकर जम जायँ। इसके अतिरिक्त वह काल भाषा के प्राथमिक विकास का था, तब तक उसमें विशेष मार्जन नहीं हो पाया था।

कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है; क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द

कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, परंतु सच्ची कला के लिये तो तथ्य की आवश्यकता है। भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडंबरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है। एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। परंतु कबीर का आसन उस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतंत्रता न मिली हो, तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है।

कबीरदास छंदशास्त्र से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिंता उनके लिये व्यर्थ थी। परंतु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिये शब्द की मात्रा या वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता न थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिसमें वे सुननेवालों के हृदय में पैठ जायँ और पैठकर जम जायँ। इसके अतिरिक्त वह काल भाषा के प्राथमिक विकास का था, तब तक उसमें विशेष मार्जन नहीं हो पाया था।

कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है; क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द

मिलते हैं परंतु भाषा का निर्णय प्रायः शब्दों से नहीं होता। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक-चिह्न हैं जो वाक्यविन्यास की विशेषताओं के कारण होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद, कारक-चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक-चिह्नों में से, कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, कौ ब्रज का है और थै राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है—"मेरी बोली पूरबी," तथापि खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी-फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। "पूरबी" से उनका क्या तात्पर्य है, यह नहीं कह सकते। काशीनिवास उनकी पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परंतु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है, यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है, उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है। यदि बोली का अर्थ मातृभाषा लें और "पूरबी" का "बिहारी" तो कबीर के जन्म के संबंध में एक नया ही प्रकाश पड़ता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ हो, पर पाई जाती हैं उनमें अवधी और बिहारी दोनों बोलियाँ। इस पँचमेल खिचड़ी का कारण यह है कि उन्होंने दूर दूर के साधु संतों का सत्संग किया था जिससे स्वभावतः उन पर भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों का प्रभाव पड़ा।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, इसी से उन पर बाहरी प्रभाव बहुत अधिक पड़े। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती। यह भी संभव है कि उन्होंने जान बूझकर अनेक प्रांतों के शब्दों का प्रयोग किया हो, अथवा शब्द-

भांडार की कमी के कारण जब जिस भाषा का सुना सुनाया शब्द उनके सामने आ गया हो तब वही उन्होंने अपनी कविता में रख दिया हो। शब्दों को उन्होंने तोड़ा मरोड़ा भी बहुत है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता का सर्वथा अभाव है। कहीं कहीं उनकी भाषा बिलकुल गँवारू लगती है, पर उनकी बातों में खरेपन की मिठास है, जो उन्हीं की विशेषता है और उसके सामने यह गँवारपन धुँधला पड़ जाता है।

कबीर ही हिंदी के सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि हुए। सभी संत कवियों में थोड़ा बहुत रहस्यवाद मिलता है, पर उनका काव्य विशेषकर कबीर का ही ऋणी है। बँगला के वर्तमान कवींद्र रवींद्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर में ही पाया। परंतु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है। हिंदी की वर्तमान काव्य-प्रगति में भी कबीर के रहस्यवाद की छाप देख पड़ती है।

कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों की नकल नहीं था और न वह सुनी सुनाई बातों का बेमेल भांडार ही था। पढ़े लिखे तो वे थे नहीं, परंतु सत्संग से भी जो बातें उन्हें मालूम हुईं, उन्हें वे अपनी विचारधारा के द्वारा मानसिक पाचन से सर्वथा अपनी ही बना लेने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है "सो ज्ञानी आप विचारै"। फिर भी कई बातें उनमें ऐसी मिलती हैं जिनका उनके सिद्धांतों के साथ मेल नहीं मिलता। उनकी ऐसी उक्तियों को समय और
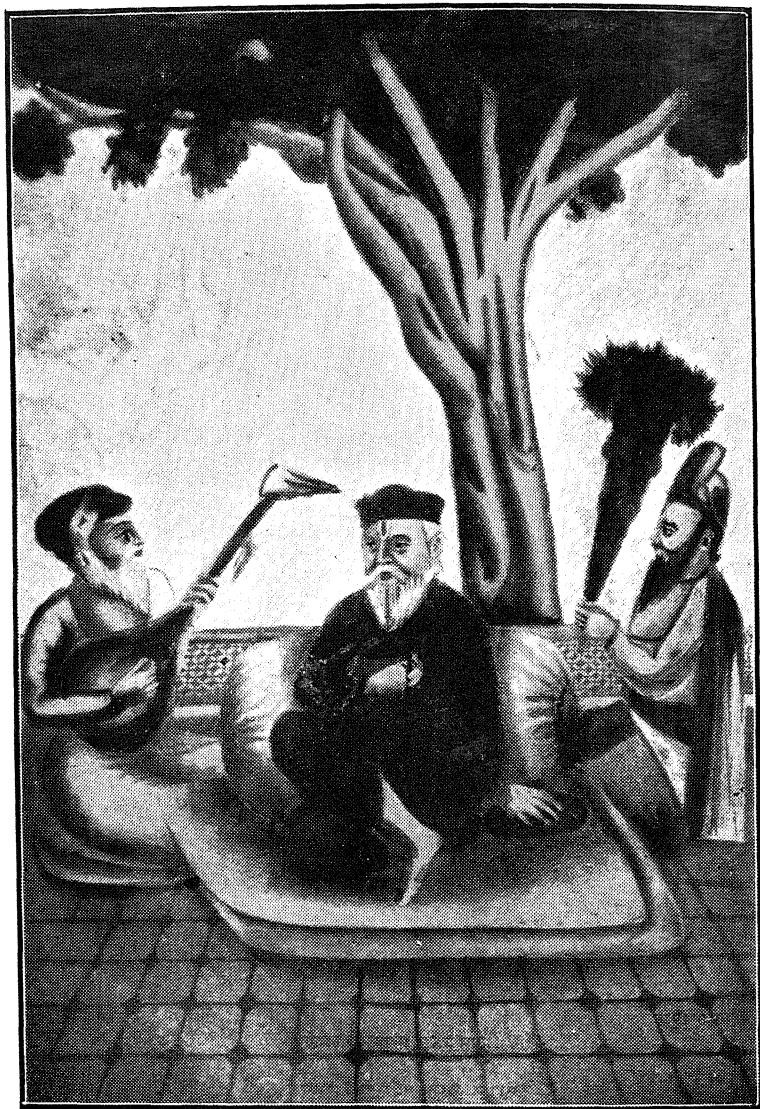
गुरु नानक

परिस्थितियों का तथा भिन्न भिन्न मतावलंबियों के संसर्ग का अलक्ष्य प्रभाव समझना चाहिए।

निर्गुण संत कवियों में प्रचार की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से तथा कवित्व की दृष्टि से भी कबीर का स्थान सर्वोपरि है, उनके पीछे के प्रायः सब संतों ने अधिकतर उनका ही अनुगमन किया है।

नानकदेव

प्रसिद्ध सिक्ख संप्रदाय के संस्थापक तथा प्रथम गुरु नानकजी जाति के खत्री थे। इनके पिता कालूचंद खत्री लाहौर के निवासी थे। इन्होंने प्रारंभ में वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था और इन्हें श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के दो पुत्र भी हुए थे। गुरु नानक ने घर बार छोड़कर जब संन्यास ग्रहण किया, तब कहा जाता है कि उनकी भेंट महात्मा कबीर से हुई थी। कबीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रंथ साहब में कबीर की वाणी भी संगृहीत है। नानकजी पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केंद्र था। इसलाम धर्म और हिंदू धर्म के संघर्ष के कारण पंजाब में जो अशांति फैलने की आशंका थी, नानकजी ने उसे दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी वाणी में हिंदू और मुसलमान विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है।

कबीर की ही भाँति नानक भी अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, पर साधुओं के संसर्ग तथा पर्यटन के अनुभव से नानक के उपदेशों में एक प्रकार की विशेष प्रतिभा तथा प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। वास्तव में इन संत कवियों की वाणी उनकी आत्मा की वाणी है; अतः उसका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता

है। यह ठीक है कि काव्य की कृत्रिम दृष्टि से नानक की कविता साधारण कोटि की ही समझी जायगी, परंतु कला में जो स्वाभाविकता तथा तीव्रता अपेक्षित होती है, नानक में उसकी कमी नहीं है। महात्मा नानक की भाषा में पंजाबीपन स्पष्ट देख पड़ता है, जो उनके पंजाबनिवासी होने के कारण है। परंतु साथ ही अन्य प्रांतीय प्रयोग भी कम नहीं हैं, जो उनके पर्यटन के परिचायक हैं। नानक के पद प्रसिद्ध सिक्ख ग्रंथ "ग्रंथ साहब" में एकत्र किए गए हैं। यह ग्रंथ सिक्खों का धर्मग्रंथ है और अत्यंत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

दादूदयाल

इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में बतलाया जाता है। इनकी जाति का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण बतलाते हैं और कुछ इन्हें मोची या धुनिया मानते हैं। संभवतः ये नीची जाति के ही थे। ये स्पष्टतः कबीर के शिष्य तो नहीं थे, पर इन्होंने अपने सभी सिद्धांतों को कबीर से ही ग्रहण किया है। दादू का एक अलग संप्रदाय चला था और अब भी अनेक दादूपंथी पाए जाते हैं। इनकी मृत्यु जयपुर प्रांत के अंतर्गत भराने की पहाड़ी नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान अब तक दादूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादू का प्रचारक्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आसपास का प्रांत था; अतः उनके उपदेशों की भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं जिनमें सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति पाँति की अवहेलना आदि के उपदेश दिए गए हैं। इनकी वाणी में कबीर की वाणी से

दादूदयाल
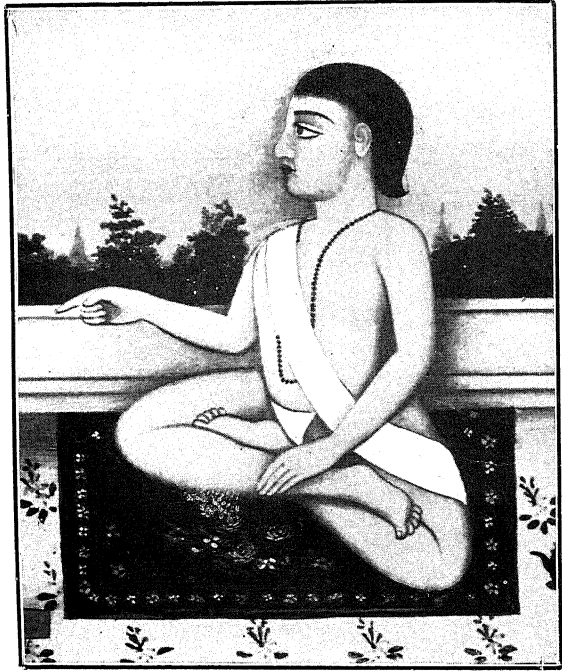
सुंदरदास

सरसता तथा तत्त्व अधिक है, यद्यपि वे कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे। कबीर तर्कप्रिय थे; अतः उन्हें तार्किक की सी कठोरता भी धारण करनी पड़ी थी, परंतु दादू ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। आरंभ-काल के संत कवियों में ये पढ़े लिखे जान पड़ते हैं।

मलूकदास

ये औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त-कवि थे। "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत होती थी और इनको छंदों का भी ज्ञान था। रत्नखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी व्यक्त की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु सं० १७३९ में हुई थी। ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे।

सुंदरदास

इन संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इन्होंने काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी वाणी में उनके उपनिषदों आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभावसिद्ध मौलिकता तथा प्रतिभा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विशेष नहीं पड़ा। सुंदरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षर अनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी

साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही, और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किए हुए उपकार नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों के उस संघर्ष-काल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, संतों ने उसी की अभिव्यंजना की। यह ठीक है कि हिंदू समाज के उच्च वर्ण इस निर्गुण संप्रदाय की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए, प्रत्युत उसके विरोध में ही बने रहे, पर समाज की निम्न श्रेणी का जो भारी कल्याण इन कवियों ने किया, इस देश के इतिहास में वह चिरस्मरणीय रहेगा। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार की दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जायगा। एक बात और ध्यान देने की है। अब तक समस्त धार्मिक आंदोलन केवल संस्कृत भाषा का ही आश्रय लेकर होता था, यहाँ तक कि वल्लभाचार्य और रामानंद ने भी जो कुछ लिखा, संस्कृत में ही लिखा था। इनके अनंतर यह प्रवृत्ति बदली और देश-भाषाओं का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। इसी का यह परिणाम हुआ कि साधारण जनता इस ओर आकृष्ट हुई और उनमें जागर्ति उत्पन्न हुई। संत महात्माओं के उद्योग का यह फल हुआ कि दलित और अस्पृश्य जातियों में भी जीवन के आदर्श को ऊँचा करने

और उच्च जातियों के समकक्ष होने की कामना हुई। जिस प्रकार आजकल एक अस्पृश्य जाति का पुरुष मुसलमान या क्रिस्तान होने पर समाज में सम्मान का भाजन होता है उसी प्रकार मध्य युग में नीच से नीच जाति का व्यक्ति भी संत होकर और भगवद्भक्ति में लीन होकर समाज में आदर-सत्कार का अधिकारी हो जाता था। पर यह परिवर्तन सामूहिक रूप में न हो सका। इसका मुख्य कारण उनकी व्यावसायिक परिस्थिति ही जान पड़ती है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन संत महात्माओं के कारण हिंदी साहित्य का बड़ा उपकार हुआ।

छठा अध्याय

प्रेममार्गी भक्ति शाखा

आविर्भाव-काल

जब एक जाति किसी देश से आकर अन्य देश की किसी दूसरी जाति से मिलती है तब दोनों के भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी कभी तो विजयिनी जाति शक्तिमती होती हुई भी अपनी अल्प संख्या अथवा बर्बरता के कारण विजित जाति की बहु संख्या में विलीन हो जाती है और अपना संपूर्ण अस्तित्व खोकर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती है। भारत पर आक्रमण करनेवाली हूण, कुशन और यूची आदि जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। कभी कभी विजेताओं के उत्साह अथवा उच्चाकांक्षाओं में विजितों के अस्तित्व को दबा देने की भी क्षमता देखी जाती है। प्राचीन यूनान पर डोरियन तथा आइओनियन आक्रमणों का यही प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि यद्यपि दोनों जातियों के संघर्ष से दोनों की रीति नीति में अंतर पड़ते हैं, पर दोनों ही अपनी सभ्यता तथा अन्य विशेषताओं को अक्षुण्ण रखती हैं, और अलग अलग अपना विकास करती हैं। ऐसा अधिकतर उस समय होता है जब दोनों ही जातियाँ अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को उन्नत कर चुकी हों और परिस्थिति के

अनुसार उनमें साधारण परिवर्तन करके अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने की क्षमता रखती हों। भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनंतर जब हिंदू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिंदू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजयगर्व ने उन्हें हिंदुओं में मिल जाने से रोक रखा।

हिंदू और मुसलमान यद्यपि अलग अलग बने रहे, परंतु उनमें भावों और विचारों की एकता अवश्य स्थापित हुई। दोनों ही जातियों ने अपने धार्मिक आदि विभेदों को वहीं तक बना रहने दिया जहाँ तक उनके स्वतंत्र अस्तित्व के लिये उनकी आवश्यकता थी। इसके आगे दोनों धीरे धीरे मिलने लगे। वास्तव में मनुष्य सामाजिक जीव है। उसके हृदय में शांति के प्रति अनुराग होता है। उसे विरोध उतना अच्छा नहीं लगता। जहाँ तक हो सकता है, मनुष्य विपच्चियों से भी प्रेम-पूर्वक व्यवहार करता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी मनुष्यता का परिचय कबीर आदि महात्माओं ने मुसल-मानी शासन के आदिकाल में दिया था। जब हिंदू और मुसलमान दोनों साथ ही बस गए और साथ ही रहने लगे, तब विरोध के आधार पर सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती थी। दोनों को मिलकर रहने की उत्सुकता हुई। यद्यपि विजयी मुसलमान शासक अपने विजयोन्माद में धार्मिक नृशंसता के पक्के उदाहरण बन रहे थे, पर साधारण जनता उनकी सी कठोर मनोवृत्ति धारण न कर मेल की ओर बढ़ रही थी। कबीर ने मेल की बड़ी प्रबल प्रेरणा की थी। उन्होंने हिंदुओं और मुस-लमानों दोनों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि हमको

उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर एक है, केवल नामभेद से अज्ञान-वश हम उसे भिन्न भिन्न समझा करते हैं। धार्मिक विवाद व्यर्थ है, सब मार्ग एक ही स्थान को जाते हैं। इस प्रकार कबीर ने परोक्ष सत्ता की एकता स्थापित की। थोड़े समय पीछे कवियों का एक समुदाय ऐसा भी उदय हुआ जिसने व्यावहारिक जीवन की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया।

यह समुदाय सूफी कवियों का था जो प्रेमपंथ को लेकर चला था। सूफियों का प्रेम लौकिक नहीं था, परोक्ष के प्रति था। यद्यपि इसलाम धर्म के अनुसार सूफियों के परोक्ष को भी निराकार ही रहना पड़ा, परंतु अपने उत्कट प्रेम तथा उदार हृदय के कारण सूफी संप्रदाय में अव्यक्त परोक्ष सत्ता को बहुत कुछ व्यक्त स्वरूप भी मिला। सूफी उस परमेश्वर की उपासना करते थे जो निर्गुण और निराकार तो है परंतु अनंत प्रेम का भांडार भी है। साथ ही धार्मिक प्रतिबंध के कारण सूफी कवि अपने उपास्य देव के प्रेम के संबंध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कह सकते थे, अतः उन्होंने प्रेमसंबंधी अनेक आख्यानों का सृजन किया और उन लौकिक आख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की। यह अभिव्यंजना संकेत के ही रूप में की गई, और इसी से हिंदी में रहस्यात्मक कविता की सृष्टि हुई। सूफियों के रहस्यवाद के संबंध में तो हम आगे चलकर कहेंगे, यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि सूफी कवियों के आख्यान अधिकतर कल्पित होते थे पर कभी कभी उनमें ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश होता था। वास्तव में वे अव्यक्त के प्रति प्रेमाभिव्यंजन के उपयुक्त कथा-नक का इच्छानुसार सृजन करते थे, और ऐतिहासिक तथ्यों

का वहीं तक समावेश करते थे जहाँ तक उनसे अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती थी अथवा बाधा नहीं पड़ती थी। यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि सूफी कवियों के अधिकांश आख्यान हिंदू समाज से लिए गए हैं और हिंदू जीवन से पूरी सहानुभूति रखते हैं। यह उन कवियों के उदार हृदय और सामंजस्य बृद्धि का परिचायक है।

कबीर आदि संतों की बानी अटपटी है। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों पुराणों आदि की निंदा करके एक प्रकार के दंभरहित सरल सदाचार-पूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मेल मिलाया गया है। इसी प्रकार हिंसा और मांस-भक्षण का खंडन कर नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने किस मार्ग का अनुसरण किया किसका नहीं, यह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सकता था। फिर भी कबीर आदि का देश के साधारण जन समुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह कहने सुनने की बात नहीं है। वे संत पढ़े लिखे न थे, उनकी भाषा में साहित्यिकता न थी, उनके छंद ऊटपटांग थे तथापि उन्हें जनता ने स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सूफी कवियों के उद्गार अधिकतर शृंखलित और शास्त्रानुमोदित थे, उनकी भाषा भी अच्छी मँजी हुई थी और छंद आदि का भी उन्हें ज्ञान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सूफी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न उनका अधिक प्रचार ही हुआ। इनमें

से अनेक कवि तो नामावशेष ही थे और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। संभवतः साहित्यिक समाज में भी इन कवियों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कभी नहीं माना गया। इनकी कविताओं के उद्धरण न तो लक्षण ग्रंथों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में ही उन्हें स्थान दिया गया है। संभवतः सूफियों की रहस्योन्मुख भावनाएँ इस देश की जलवायु के उतनी भी अनुकूल नहीं थीं जितनी कबीर आदि की अटपटी और अव्यवस्थित वाणी थी।

सूफियों की परंपरा

प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन के समय से चली। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनके प्रेम काव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् ९०९ हिजरी में लिखा था। चंद्रनगर के अधिपति गणपतिदेव के राजकुमार तथा कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेमगाथा इसमें अंकित की गई है। प्रेममार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक खंडित प्रति खोज में मिली है। इसके रचयिता मंझन बड़े ही सरस हृदय कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्मावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही रोचकता ला दी

है। इसमें मानव हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अखिल दृश्य जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और आनंदातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उसमान, शेख नबी, नूरमहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए पर पद्मावत का सा विशद काव्य फिर नहीं लिखा गया। सगुणोपासक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आविर्भाव से प्रेमगाथाकारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई थी।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें मिलती जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की मसनवियों में ईश्वरबंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशंसा आदि कथारंभ के पहले होते थे, उसी प्रकार इनमें भी हैं। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्राय: एक सी है। यह भाषा अवध प्रांत की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अवध की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्राय: दोहों और चौपाइयों में ही ग्रंथरचना की है। ये छंद अवधी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरितमानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद तो मानों अवधी भाषा के लिये ही बनाया गया हो; क्योंकि व्रज-भाषा कवियों ने इस

छंद का सफलतापूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि मुसलमान थे। एक तो यह संप्रदाय ही मुसलमानों के सूफी मत को लेकर खड़ा हुआ था, दूसरे हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग सगुणोपासना चल पड़ी और वे व्यक्त के भीतर अव्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा व्यक्त को ही सब कुछ मानने और अवताररूप में राम और कृष्ण की जीवन-गाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। मुसलमान प्रारंभ से ही मूर्तिद्वेषी थे अतः उन्हें सूफियों की शैली के प्रचार का विशेष सुभीता था।

सूफियों की भारतीयता

प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है, उसमें विदेशीयता ही नहीं है, भारतीय शैलियों का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उतना प्रेमोन्मुख नहीं होता जितनी नायिका होती है, परंतु जायसी आदि ने फारस की शैली का अनुसरण करते हुए नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। सूफी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप में करते थे। इसलिये जायसी आदि को भी नायक के प्रेम को प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है; क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कलाओं के अवतार, जगदुद्धारक, योगीश्वर आदि माने जाते हैं, उनके

प्रति गोपिकाओं का प्रेम, पुरुष के प्रति प्रकृति का प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर ही संतोष नहीं कर लिया, वरन् उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखाया। दूसरी बात यह भी है कि इस देश में प्रेम की कल्पना अधिकतर लोकव्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्तव्यबुद्धि से उच्छृंखल प्रेम का नियंत्रण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम में ऐकांतिकता आ गई है, परंतु सूफियों के प्रेम की तरह वह भी बिलकुल लोकबाह्य नहीं है। भारतीय सूफी कवियों ने इस देश की प्रेमपरंपरा का तिरस्कार नहीं किया, उनका प्रेम बहुत कुछ लोकव्यवहार के परे है, पर फिर भी असंयत नहीं। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पतिप्रेम आदि का दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त प्रेमवर्णनों में अश्लील दृश्यों को भरसक बचा-कर, प्रकृति के सुरम्य रूपों को चित्रित कर यहाँ के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्यों को भारतीय जल वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है।

सूफी सिद्धांत के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुखांत हुई है। आरंभ में तो यह बात बनी रही, पर आगे चलकर इस संप्रदाय के कवि यह बात भूल गए, अथवा भार-तीय पद्धति का, जो आदर्शवादी थी और जिसके अनुसार

दु:खांत नाटक तक नहीं बने, उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नायक और नायिका को भोग-विलास और सुख-चैन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूफी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेमप्रबंधों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है परंतु वह लौकिक कथा उनकी हृदयानुभूति के व्यक्त करने का साधन मात्र है। उस कथा से उनका संबंध बहुत घनिष्ठ नहीं है, वहीं तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिव्यंजन में समर्थ होती है। सूफियों का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है; परंतु ईश्वर तो निराकार है, निर्गुण है, अत: अवर्णनीय है। हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाओं की सहायता लेनी पड़ी है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि चित्तौड़ के अधिपति रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकन्या पद्मावती की कथा कही गई है, परंतु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपक मात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वत: उनका विशेष महत्त्व नहीं। यह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अत: साहित्य-

प्रस्तुत में अप्रस्तुत

समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच बीच में अप्रस्तुत की ओर संकेत मात्र मानते हैं, परंतु संत सूफियों का ठीक आशय समझने में हम भूल नहीं कर सकते। रत्नसेन और पद्मावती के लौकिक रूप से उनका उतना संबंध नहीं था जितना अपने पारमार्थिक प्रेम से था। कथा प्रसंगों में बीच बीच में प्रेमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं, और अव्यक्त से विशाल प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है कि हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस ओर जाती देख पड़ती है जिस ओर ले जाना प्रेममार्गी संत कवियों का लक्ष्य था।

यद्यपि प्रेममार्गी कवियों का उद्देश एक लौकिक कथा के आवरण में अलौकिक प्रेम प्रकट करना था परंतु इस उद्देश की प्रधानता देखते हुए भी हम उन कथाओं को कहीं उखड़ी हुई या अनियमित नहीं पाते। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि जब कथा कहने के उद्देश से भिन्न किसी अन्य उद्देश से प्रबंध रचना की जाती है, तब वह प्रबंध आवश्यकतानुसार घुमा फिराकर बनाया जाता अथवा तोड़ मरोड़कर बिगाड़ा जाता है। हिंदी के कवि केशवदास इसके प्रमुख उदाहरण हैं। उनकी रामचंद्रिका यद्यपि रामायण की कथा को ही लेकर चलती है परंतु उसमें प्रबंध की वह एकता नहीं है जो राम की जीवनी में थी। रामचंद्रिका के विविध पात्र जब जो इच्छा होती है कहते हैं; न तो चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान दिया जाता है और न कथा की रचना की ओर। उसमें तो कभी राम कौशल्या को पातिव्रत्य आदि की शिक्षा देते हैं, कभी पंचवटी वनधूर्जटी के गुण धारण करती और कभी प्रकृति के

रमणीय दृश्य प्रलयकाल की भाँति भयानक देख पड़ते हैं। केशवदास का उद्देश रामायण की कथा लिखना नहीं था, अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना था; इसी लिये जो कथा रामचरितमानस में आकर एक सर्वोत्तम प्रबंध के रूप में बन गई है वही रामचंद्रिका में पड़कर पूर्वापर-संबंधरहित फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र रह गई है। प्रेमगाथाकारों की भी यद्यपि केशवदास की सी परिस्थिति थी, उन्हें भी कथा के बहाने आध्यात्मिक तत्त्व के निरूपण की चिंता थी, परंतु केशव की भाँति उन्होंने कथा का अंग-भंग कर अपनी 'हृदय-हीनता' का परिचय नहीं दिया है, वरन् बड़ी ही सरस संघटित कथाओं का सृजन किया है और उनके निर्वाह का समुचित ध्यान रखा है। उनकी यह विशेषता प्रशंसनीय है। ऐतिहासिक कथाओं में काल्पनिकता का पुट देकर यद्यपि इतिहास की दृष्टि से इन कवियों ने कुछ अन्याय किया है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उन्हें इसके लिये भी साधुवाद ही मिलना चाहिए; क्योंकि ऐसा करके कथा में रोचकता और रमणीयता ही लाई गई है जो साहित्य के लिये गौरव की बात है।

वस्तुवर्णन और भावव्यंजन

सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रंथ अधिकतर प्रबंधशैली में ही लिखे गए थे अत: उनमें कथानक की रमणीयता तथा संबंध-निर्वाह की ओर ध्यान दिया गया था। साथ ही हमको यह भी देखना होगा कि उन कथाओं के बीच बीच में दी हुई वस्तुवर्णना कैसी है और प्रसंगानुकूल भावों का व्यंजन कैसा है। वस्तुवर्णन की दो मुख्य शैलियाँ हो सकती हैं। एक में तो कवि अत्यंत साधारण रूप से वस्तु का उल्लेख कर देता है और आगे अपनी

कथा कह चलता है, दूसरी में वह सूक्ष्मता से वस्तुओं का चित्रण करता है और उनका एक चित्र सा खड़ा कर देता है। पहली शैली में घटनाओं को प्रधानता दी जाती है और वस्तुओं का वर्णन गौण स्थान पाता है, दूसरी में वस्तुवर्णन अपना अलग अस्तित्व रखता और स्वतंत्र रीति से काव्यत्व का अधिकारी होता है। दोनों ही अपना अपना महत्त्व रखती हैं। पहली में कवि वस्तुवर्णन की ओर अधिक ध्यान न देकर घटनाओं को अधिक मर्मस्पर्शी बनाता है और पाठक भी अधिक तन्मयता से कथा सुनता है, दूसरी में कवि का काव्यचमत्कार अधिक परिलक्षित होता है और पाठक का ध्यान वर्णित वस्तुएँ भी उतना ही खींचती हैं जितना वर्णित घटनाएँ। प्रबंध काव्यों में कुछ महान् घटनाओं का होना आवश्यक होता है, अतः उन्हें यथासंभव मर्मस्पर्शी बनाकर पाठकों का ध्यान उन्हीं की ओर खींचना जिन कवियों को अभीष्ट होता है, वे अपनी सारी शक्ति उसी ओर लगाते हैं; और कथा-प्रसंग में आई हुई प्रत्येक वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष करने की उतनी अभिलाषा नहीं रखते। साथ ही जिन कवियों को पद पद पर सरलता और काव्यत्व लाने का ध्यान रहता है, वे बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि की सभी वस्तुओं का निरीक्षण करते और अपने ग्रंथों में उनका संश्लिष्ट चित्रण करते हैं। अवश्य ही ऐसा करने से उनके ग्रंथ रमणीय हो जाते हैं; पर प्रबंध काव्य के अनुकूल जीवन की गंभीर समस्याओं से पाठकों का ध्यान बँटकर वर्णित वस्तुओं की ओर चला जाता है, जो अनेक कवियों को अभीष्ट नहीं होता। प्रेममार्गी कवियों का वस्तु-वर्णन विशेष आकर्षक नहीं बन सका। उन्हें तो कथा के

भीतर से किसी अन्य ही सत्य की व्यंजना करनी थी; अतः वस्तुएँ ही नहीं, सारा कथानक ही उनके लिये उसी सीमा तक महत्त्व रखता था जहाँ तक उनके उस सत्य के अभिव्यंजन में वह सहायक या उपयोगी होता। ऐसी अवस्था में उनसे रमणीय वस्तु वर्णन की आशा भी नहीं रखी जा सकती। हाँ, जहाँ कथा प्रसंग के बीच में प्रेम के त्याग, कष्ट, अथवा ईश्वरीय विरह-मिलन आदि के संकेत हैं, वहाँ वस्तुओं का वर्णन भी विशेष रोचक कर दिया गया है।

दूसरी बात भाव-व्यंजना की है। भारतीय काव्य-समीक्षा में रति, शोक, उत्साह, क्रोध आदि नौ स्थायी भाव माने गए हैं तथा इन्हें पुष्ट करनेवाले असूया, गर्व, व्रीड़ा आदि कई संचारी भावों की कल्पना की गई है। कवि की दृष्टि जितनी ही व्यापक होगी वह उतने ही अधिक विस्तृत तथा उत्कर्षपूर्ण ढंग से भावों की व्यंजना करेगा। किन प्रसंगों में कैसे भावों की कितनी तीव्रता दिखानी चाहिए, इसका ध्यान भी कवियों को रखना पड़ता है। हिंदी के सूफी कवियों की दृष्टि बड़ी व्यापक और तीव्र है। वे कहीं कहीं बड़े ही सूक्ष्म भावों तक अपनी पहुँच दिखाते हैं। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हुए हैं। जायसी ने युद्धोत्साह की भी अच्छी झलक दिखलाई है। फिर भी हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन को व्यापक रीति से देखकर विविध भावों का सन्निवेश करने में ये कवि उतने सफल नहीं हुए जितने महाकवि तुलसीदास हुए, और न उनकी अंतर्दृष्टि उतनी सूक्ष्म है जितनी महात्मा सूरदास की। परंतु इससे उनकी महत्ता कम नहीं होती, क्योंकि तुलसीदास और

सूरदास तो हिंदी के दो अन्यतम कवि हैं, इनकी समता न कर सकने में सूफी कवियों के गौरव में कमी नहीं पड़ती। इन दोनों को छोड़कर विचार करने पर प्रेममार्गी कवियों की भाव-व्यंजना हिंदी के अन्य बड़े कवियों से अधिक उत्कृष्ट नहीं तो अधिक न्यून भी नहीं कही जा सकती।

अलंकार, छंद, भाषा आदि साहित्यिक समीक्षा के गौण प्रश्नों पर हम पीछे विचार करेंगे, पहले प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय के मतों और सिद्धांतों को संक्षेप में समझ लेना ठीक होगा। ये कवि मुसलमानों के सूफी मत के माननेवाले थे। सूफी मत का प्रचलन मुहम्मद की मृत्यु के उपरांत दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुआ था। इस मत के विकास में अनेक बाहरी प्रभाव सहायक हुए थे जिनमें मुख्य भारतीय अद्वैतवाद था। प्रारंभ में सूफी संप्रदाय सामान्य मुसलमान धर्म की एक शाखा विशेष था जिसमें सरल जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति थी। पीछे से इसमें चिंतनशीलता बढ़ी और इसके अनुयायी ईश्वर के संबंध में सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसंधान करने लगे। मुसलमानों के मत में तो ईश्वर एक है, विश्व का स्रष्टा है और सबका मालिक है। स्रष्टा और मालिक होने में यद्यपि शारीरिकता का बोध होता है, पर मुसलमानों के खुदा बराबर निराकार ही बने रहे। परंतु सूफियों के चिंतन ने उनमें एक नए मत का सृजन किया। सूफी मुसलमानी एकेश्वरवाद से ऊँचे उठे और जीव तथा जगत् को भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। आत्मा और परमात्मा का अभेद प्रतिष्ठित हुआ। कट्टर मुसलमानों के मत में यह कुफ्र

मत और सिद्धांत

ठहरा, पर सूफियों का यही मत था। "अनलूहक" "अनलूहक" कहता हुआ सूफी मंसूर सूली पर चढ़ा था।

प्रारंभ में जब सूफियों के मत का प्रचार हुआ था तब उन्हें अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़े थे। जीव और जगत् को भी ब्रह्म मान लेने के कारण वे प्रकृति के अणु अणु में उसी चेतन सत्ता का साक्षात्कार करते और भाव-मग्न होते थे। मुसलमानों के खुदा तो बिहिश्त के निवासी, मनुष्यों के निर्माता और नाशकर्ता होते हुए भी निराकार निर्लेप बने रहे, पर सूफियों के नवीन संप्रदाय में प्रेम की इतनी प्रधानता हुई कि सृष्टि के रोम रोम में उन्हें आनंद की झलक देख पड़ने लगी। जब सर्वत्र ब्रह्म है, तब बुत में भी ब्रह्म का होना अनिवार्य है, अतः सूफियों को हुस्ने बुताँ के पर्दे में "वही" देख पड़ने लगा। यद्यपि खुदावाद की निराकार भावना सूफियों में बनी रही पर उनमें अत्यधिक सरसता और उदारता आदि फैली और कट्टरपन का तो एकदम अंत हो गया।

नवोत्थित सूफी संप्रदाय में भारतीय अद्वैतवाद की गहरी छाप देख पड़ी। यह सूफी मत भारत में पहले पहल सिंध प्रांत में फैला, फिर देश के अन्य भागों में भी उसका प्रचार हुआ। थोड़े समय के उपरांत जब इस देश में वैष्णव धर्म की लहर चली, तब सूफियों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था और उसने अहिंसा आदि पर विशेष जोर डाला था। "हरि को भजे सो हरि को होई" के आधार पर मनुष्य मनुष्य का साम्य स्थापित हुआ था और यही साम्य अधिक विस्तृत होकर पशुओं पक्षियों पर दया दिखाने, उनका वध न करने आदि

रूपों में भी फैला था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह शिक्षा ग्रहण की थी और वे भी अहिंसावादी बन गए थे।

उपनिषदों के अन्य अनेक वादों को भी सूफियों ने ग्रहण किया था। प्रतिबिंबवाद के अनुसार नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिंब है। ब्रह्म बिंब है और जगत् उसका प्रतिबिंब। जायसी ने पदमावत में कई स्थानों पर प्रतिबिंबवाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में यद्यपि प्रधानता मुसलमानी मतों को ही दी गई है, पर भारतीय शैली का भी बीच बीच में सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय पंचभूतों के स्थान पर सूफियों को चार ही भूत मान्य थे। आकाश की गणना वे भूतों में नहीं करते थे। उनकी दृष्टि उतनी सूक्ष्मता को नहीं पहुँच सकी थी। इसी प्रकार पतंजलि द्वारा निरूपित योग की क्रियाओं को हठ-योगियों आदि ने जो अपने मतानुसार विकसित किया था, सूफियों ने उन्हें भी ग्रहण किया। जायसी आदि में कबीर की ही भाँति स्थान स्थान पर इन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार कई प्रकार के सिद्धांतों के सम्मिश्रण से भारतीय सूफीमत की उत्पत्ति और उसका विकास हुआ। हिंदी के सूफी कवि शास्त्रों के उतने पंडित नहीं थे जितने वे उदारहृदय, सत्संगी तथा सारग्राही थे। उन्होंने अनेक संप्रदायों की अनेक बातें ग्रहण कीं और उनसे अपने प्रेममार्ग की सृष्टि की। उनकी ईश्वर की उपासना माधुर्य भाव की थी। ईश्वर उनका प्रियतम है, वे ईश्वर के प्रिय हैं। ये तो ईश्वर संबंधी सिद्धांत हुए। मनुष्य मनुष्य के बीच के व्यवहारों में भी इन कवियों ने बड़ी उदारता दिखलाई है। हाँ, कहीं कहीं तत्कालीन सामाजिक

स्थिति के कारण उनमें कुछ संकीर्णता भी देख पड़ती है; जैसे स्त्रियों के प्रति व्यवहार में, पर यह काल-दोष था, इसमें कवियों का उत्तरदायित्व अधिक नहीं।

सूफियों की रहस्यप्रियता के संबंध में हम पहले भी कह चुके हैं। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वास्तविक रहस्यवाद की कविता हिंदी में इसी कवि संप्रदाय की मिलती है।

रहस्यवाद

मनुष्य की साधारण अनुभूतियों से ऊपर उठने पर साधक की भावना जब अज्ञात तत्त्वों को प्रत्यक्ष करने लगती है, तब अनेक रूपों में रहस्यवाद की सृष्टि होती है। कबीर आदि संतों का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है; अतः वह उतना काव्योपयोगी नहीं है जितना जायसी आदि सूफियों का। कबीर का रहस्यवाद दार्शनिक रहस्यवाद कहा जा सकता है और जायसी का रहस्यवाद माधुर्य-भावना का रहस्यवाद कहा जा सकता है। साधकों के पक्ष में न तो यह रहस्यवाद है और न रहस्य भावना में ही अंतर है। वे तो किसी परोक्ष सत्ता का साक्षात्कार करते हैं और तन्मयता की अवस्था में जो कुछ उनके उद्गार होते हैं, हमारे लिये वही रहस्यवाद की कविता बन जाते हैं। कबीर के लिये वह रहस्य नहीं है; क्योंकि वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, रहस्य तो वह साधारण पाठकों के लिये है। जायसी ने अपनी रहस्यात्मकता को दृश्य जगत् के नाना रूपों का अव्यक्त के साथ संबंध चरितार्थ करते हुए दिखाया है। कभी जब यह दृश्य जगत् अव्यक्त से वियुक्त होता है, तब वियोग के कितने ही व्यापक और रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं, कभी जब इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानों आनंदोल्लास से

नाच उठती है। इस प्रकार प्रकृति की ही सहायता से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। इसके विपरीत कबीर ने वेदांत के अनेक वादों तथा अन्य दार्शनिक शैलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किए हैं। कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद सरस न होने के कारण उतना उत्कृष्ट नहीं है जितना सूफियों का है। फिर भी दोनों के रहस्यात्मक होने में कुछ भी संदेह नहीं।

छंद और अलंकार

छंदों और अलंकारों के संबंध में संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि सभी सूफी कवियों के छंद अधिकतर दोहे और चौपाई तक ही सीमित रहे और अलंकार कहीं भी भार या आडंबर नहीं बन बैठे। इन दोनों ही बातों से इन कवियों की सरलता का पता चलता है और यह आभास भी मिलता है कि उन्हें भावों और विचारों को व्यक्त करने का सब से अधिक ध्यान था और छंद अलंकार आदि भावों के उत्कर्ष में सहायक मात्र समझे गए थे, इससे अधिक वे कुछ भी नहीं थे। प्रबंध काव्य में विभिन्न छंदों का आधिक्य उचित होता है या नहीं, इस संबंध में मत-भेद हो सकता है। संस्कृत के काव्यों में अनेक प्रकार के छंद व्यवहृत हुए हैं। कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव आदि काव्य इसके उदाहरण हैं। हिंदी में एक ओर केशवदास हैं जिनकी रामचंद्रिका तरह तरह के छंदों का आगार है और दूसरी ओर तुलसीदास का 'रामचरितमानस' है जिसमें दोहे और चौपाइयों के अतिरिक्त अन्य छंद बहुत थोड़ी संख्या में आए हैं। हमको मध्य का मार्ग ठीक जान पड़ता है, परंतु यदि रामचंद्रिका और रामचरितमानस में ही किसी को चुनना हो तो हम रामचरित-

मानस को ही चुनेंगे। छंद एकसा रहने से पाठक को रस-स्रोत में बहने की एक अगाध धारा सी मिल जाती है। यद्यपि कभी कभी उस धारा से निकलने के लिये जी उत्सुक होता है, कभी कभी जी ऊब भी जाता है, पर अनेक छंदों के प्रवाह में टकराते हुए बहना तो किसी को कदाचित् ही पसंद हो। इस दृष्टि से सूफी कवियों ने केवल दोहे और चौपाई को चुन-कर यद्यपि पाठकों के ऊबने की जगह रख छोड़ी है, फिर भी हमारी सम्मति में इसके लिये उन्हें दोषी ठहराना उचित न होगा। चौपाइयों के अंत में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों का समा-वेश करके तथा दोहों में यति को विभिन्न स्थानों में रखकर मनोविनोद का साधन उपस्थित किया गया है। इसके अति-रिक्त छंदों की एकरूपता भावों की प्रचुरता के सामने बहुत कुछ दब जाती है।

एक और बात यहाँ जान लेना आवश्यक है। चौपाई में, जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, चार पद होने चाहिएँ। पर इन मुसलमान कवियों ने उसे दो ही पदों का माना है क्योंकि प्रत्येक दोहे के बीच में जितनी चौपाइयाँ आई हैं, उनकी संख्या सम नहीं है। कहीं छ द्विपदियों पर, कहीं सात द्विपदियों पर और कहीं आठ द्विपदियों पर दोहे दिए गए हैं। तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस में इन द्विप-दियों की संख्या भी सब स्थानों पर एक सी नहीं रखी है।

अलंकारों में अर्थवाले प्रधान हैं, शब्दवाले अप्रधान। प्रेम-मार्गी कवियों ने शब्दालंकारों पर बहुत ही कम ध्यान दिया है—प्रायः कुछ भी नहीं। उनकी यह निरपेक्षता खटकने की सीमा तक पहुँच जाती है। परंतु इसकी कमी अर्थालंकारों में पूरी

करने की चेष्टा की गई है जो सफल भी हुई है। इन कवियों ने सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। जायसी को हेतूत्प्रेक्षा सबसे अधिक प्रिय है। हेतूत्प्रेक्षा की सहायता से वे अपनी असाधारण अनुभूतियों को व्यक्त करने में, अथवा उनकी ओर संकेत करने में सफल हुए हैं। कहीं कहीं अलंकारों का ऐसा सम्मिश्रण भी किया गया है जिससे उन कवियों में सूक्ष्म शास्त्रीय अभिज्ञता का अभाव लक्षित होता है पर अधिकांश स्थलों में सुंदर अलंकार आए हैं। शब्द की लाक्षणिक शक्ति का प्रचुर उपयोग भी मिलता है। इन कवियों के प्रायः सब काव्य व्यंजना से युक्त हैं। उनकी व्यंजना परमार्थ तत्त्व की ओर है, और कहीं कहीं काव्य-धारा में आई हुई समासोक्तियाँ वास्तव में अनुपम हुई है। सारांश यह कि अर्थालंकार प्रायः प्रसंगानुकूल और उपयोगी हैं, केशव तथा अन्य शृंगारी कवियों की भाँति भरती के नहीं।

भाषा

सूफी कवियों की भाषा अवध की हिंदी है। हिंदी के वीरगाथा काल में कविता का क्षेत्र राजपूताने का पश्चिमी प्रांत तथा दिल्ली के आसपास की भूमि था, अतएव उस काल की रचनाओं में वहाँ की भाषा का अधिक प्रयोग हुआ। वह भाषा शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से निकलकर उसी समय हिंदी में आई थी; अतः तब तक वह बहुत कुछ उखड़ी हुई, असंयत और भद्दी थी। व्याकरण के नियमों का अनुशासन तो दूर रहा उसमें बिलकुल बेठिकाने की उत्पत्ति के अनेक शब्दों का अनेक रूपों में प्रयोग हुआ है। भाषा की प्रारंभिक अवस्था में ऐसा होना

स्वाभाविक भी है। धीरे धीरे उस भाषा का विकास होने लगा। हिंदी में वीरगाथा काल के उपरांत जब वैष्णव आंदोलन की लहर चली और कबीर आदि संतों का आविर्भाव हुआ, तब हिंदी कविता का क्षेत्र राजपूताने आदि से हटकर पूर्व की ओर आया। कबीर की भाषा में पंजाबीपन तो है, पर उसमें अवधी क्रियाओं के रूप तथा बिहारी प्रयोग भी कम नहीं हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि कबीर के द्वारा भाषा का भद्दापन दूर हुआ हो। हाँ, विकासक्रम के अनुसार वीर-गाथाओं की भाषा से कबीर की भाषा कुछ नियमित अवश्य है। भाषा का जैसा सुंदर सुधार सूफी कवियों ने किया वैसा हिंदी में पहले कभी नहीं हुआ था। सूफियों की भाषा अवध की थी, जिसकी उत्पत्ति अर्धमागधी से मानी जाती है। जायसी आदि ने उसे परिमार्जित कर अत्यंत शुद्ध बना दिया और उसमें व्याकरण से अननुमोदित प्रयोगों को न आने दिया। यद्यपि कहीं कहीं अरबी फारसी के शब्द भी आए हैं और कहीं कहीं अवधी तोड़ी मरोड़ी भी गई है परंतु अधिकांश कवियों ने यथासंभव शुद्ध अवधी का ही प्रयोग किया है। अवधी का यह माधुर्य लोकभाषा का माधुर्य है, संस्कृत का नहीं। तुलसीदास के रामचरितमानस में जो भाषा है उसमें संस्कृत की प्रचुरता के कारण एक नवीन सौंदर्य आ गया है जो ठेठ अवधी के सौंदर्य से भिन्न है। हम कह सकते हैं कि सूफी कवियों की अवधी बोलचाल की परिमार्जित भाषा थी, तुलसीदासजी की अवधी ने साहित्यिक रूप धारण किया, एक का दूसरे के अनंतर विकास सर्वथा स्वाभाविक था। सूफी संप्रदाय के कुछ विशिष्ट कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में शेरशाह के पिता हुसेनशाह के आश्रय में रहते थे। चिश्ती वंश के प्रसिद्ध शेख बुरहान इनके गुरु थे। हिंदी के सूफी कवियों में ये ही सबसे पहले हुए और इनकी रचित "मृगावती" का नामोल्लेख जायसी ने अपने पद्मावत में किया है। मृगावती पुस्तक में गणपतिदेव के पुत्र और मृगावती की प्रेमगाथा अंकित की गई है। गणपतिदेव चंद्र-नगर के राजा हैं और मृगावती कंचनपुर की राजकन्या है। चंद्रनगर का राजकुमार कंचनपुर की राजकुमारी को देखकर मोहित हो गया पर राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी, इससे वह राजकुमार को मिल न सकी। अनेक कष्ट उठाने पर अंत में मृगावती से उसकी भेंट हुई। इसी बीच में उसने रुकमिनी नामक एक सुंदरी को राक्षस के हाथ से बचाकर अपनी प्रेमिका बना लिया था। मृगावती और रुकमिनी दोनों उसकी रानियाँ हुईं। एक दिन वह हाथी से गिरकर मर गया। मरने पर दोनों रानियों के सती होने का मर्मस्पर्शी चित्र दिखाया गया है। कुतुबन की यह गाथा काल्पनिक है। इसके बीच बीच में प्रेममार्ग की कठिनाई का भीषण चित्र है और अनेक रहस्यात्मक स्थल हैं।

कुतबन

इनकी मधुमालती नामक प्रेमगाथा का उल्लेख भी पद्मावत में किया गया है। मधुमालती की कथा मृगावती की अपेक्षा अधिक रोचक है और इसके वर्णन भी अधिक विशद हैं। प्रकृति के अनेक सुंदर दृश्यों का इसमें वर्णन मिलता है।

मंझन

प्रेममार्गी सूफियों में ये ही सर्वप्रधान हुए। इनका रचना-काल शेरशाह के राजत्वकाल में सोलहवीं शताब्दी का अंतिम भाग था। पद्मावत और अखरावट इनके रचे दो ग्रंथ मिले हैं जिनमें पद्मावत प्रधान है। पद्मावत की कथा में ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का अच्छा समन्वय हुआ है।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद अवध प्रांत के जायस कसबे के रहनेवाले थे। इनके गुरु प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी थे। अनेक पंडितों और साधुओं का इन्होंने सत्संग किया था और बड़ी जानकारी प्राप्त की थी। वेद, पुराण, कुरान आदि प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथों की अनेक बातें इन्हें साधु-संगति से ही मालूम हुई होंगी क्योंकि ये बहु-पठित न थे। इनका भ्रमण भी बड़ा विस्तृत रहा होगा; क्योंकि पद्मावत में देश भर के भिन्न भिन्न स्थलों की भौगोलिक स्थिति का जो उल्लेख है, वह बहुत कुछ ठीक है।

पद्मावत में प्रेम-मार्ग की जो मर्मस्पर्शिणी कथा है वह स्वर्गीय प्रेम की अत्यंत व्यापक भावना से समन्वित है। क्या कथा के निर्वाह का ढंग, क्या प्रसंगानुकूल भावों की व्यंजना और क्या वर्णनों की उपयुक्तता, सभी प्रशंसनीय हैं। प्रकृति के नाना दृश्यों के द्वारा अज्ञात के प्रति जो संकेत हैं, वे जायसी की उच्च अनुभूति के परिचायक हैं।

अखरावट में जायसी के प्रेमसंबंधी तथा अन्य सिद्धांतों का संग्रह है। इन प्रसिद्ध कवि की मृत्यु-तिथि का ठीक ठीक पता नहीं लगता।

मलिक मुहम्मद ने अपने पूर्व के जिन उपाख्यानों के नाम दिए हैं उनके अनुसार इनके निर्माण का क्रम यह होता है—

सपनावती, मुगधावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मृगावती के पहले सपनावती और मुगधावती नाम के दो काव्य रचे गए थे और मधुमालती के अनंतर प्रेमावती की रचना हुई होगी। इसके अनंतर पद्मावत की रचना हुई। इनमें से केवल मृगावती और मधुमालती का पता चला है पर खेद का विषय है कि मृगावती की प्रति अब प्राप्य नहीं है और मधुमालती खंडित मिली है।

जायसी के कुछ काल उपरांत जब तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तब सूफियों की कविता क्षीण हो चली। हिंदुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह में सूफियों की निर्गुण भक्ति ठहर न सकी, बह गई। उसमान जहाँगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में थे, हाजी बाबा इनके गुरु थे। संवत् १६७० में इनका चित्रावली नामक काव्य लिखा गया। सभी प्रेमगाथाओं की भाँति इसमें भी पैगंबर, गुरु आदि की वंदना है और बादशाह जहाँगीर को भी स्मरण किया गया है।

उसमान

चित्रावली में जायसी के पद्मावत का अत्यधिक अनुकरण किया गया है, अंतर इतना ही है कि उसकी कहानी बिलकुल काल्पनिक है और जायसी की कहानी का कुछ ऐतिहासिक आधार है। कवि ने चित्रावली में अँगरेजों के देश का भी एक स्थान पर नाम लिया है जिससे पता चलता है कि उस समय अँगरेज यहाँ आ गए थे और उसमान को इसका पता था।

जायसी की ही भाँति इन्होंने भी ग्रंथ में नगर, यात्रा, षड्ऋतु आदि का वर्णन किया है और ईश्वर की प्राप्ति की साधना की ओर संकेत किया है। फिर भी पद्मावत की सी

विशद वर्णना इसमें कम ही मिलती है, उसके अनुकरण की छाप इसमें देख पड़ती है।

उसमान के उपरांत शेख नबी हुए परंतु इनके उपरांत प्रेम-मार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्जीव सा हो गया। यद्यपि कासिम-शाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का ह्रास साफ बोलता सा जान पड़ता है। हाँ, नूर मुहम्मद की "इंद्रावती" की प्रेमकहानी अवश्य सुंदर बन पड़ी है। यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी।

क्या भावों के विचार से और क्या भाषा के विचार से सूफी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया।

उपसंहार

वीरगाथा काल में केवल वीरोल्लासपूर्ण कविता का सृजन हुआ, वह भी परिणाम में अधिक नहीं। उस काल की भाषा तो बिलकुल अविकसित थी। अक्खड़ कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी भोंडी बन गई। उसके उपरांत कबीर का समय आया। कबीर महात्मा थे और उनके द्वारा साहित्य में पूत भावनाओं का समावेश हुआ। काव्यत्व के विचार से उन पूत भावनाओं का उत्कर्ष चाहे अधिक न हो पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। कबीर की भाषा तो बहुत ही बिगड़ी हुई है। कुछ पंजाबी खड़ी बोली, कुछ ब्रजभाषा और कुछ अवधी का पुट देकर जो खिचड़ी तैयार हुई वह रमते साधुओं के काम की भले ही हो, सर्व साधारण विशेष-कर परिमार्जित रुचि रखनेवालों के लिये उसमें कुछ भी नहीं है। सूफी कवियों ने अपने उदार भावों को पुष्ट भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया।

कबोर आदि संतों की बानी सामूहिक रूप से देश के लिये बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई, परंतु सूफियों की प्रबंध-रचनाओं ने सामाजिक हित भी किया और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रवेश करते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ भुला दिए गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हो गई; पर इतना कहना ही पड़ेगा कि तुलसी को एक मार्जित भाषा देकर रामचरितमानस की रचना में सहायक होने में जायसी आदि सूफियों का नाम अवश्य लिया जायगा। हिंदुओं के प्रति सहानुभूति इन मुसलमान कवियों की खास विशेषता है। इनका हृदय अतिशय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओतप्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत रहस्यवाद है जिसकी समता हिंदी साहित्य में कोई नहीं कर सकता।

इन मुसलमान सूफी कवियों की देखा देखी हिंदू कवियों ने भी उपाख्यान काव्यों की रचना की। पर इन सब काव्यों का ढंग या तो पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पूर्णतया साहित्यिक है। सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म की जो लहर अदृश्य रूप से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, ढोलामारू री चउपही, रसरतन काव्य, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, चंद्रकला, प्रेमपयोनिधि, हरिचंद पुराण, आदि हैं। इनके संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाख्यानों की परंपरा के परिणामस्वरूप उन अमर-काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

सातवाँ अध्याय

रामभक्ति शाखा

रामभक्ति की उत्पत्ति और विकास

विजयी मुसलिम शक्ति अदम्य उत्साह के साथ इस देश पर अपनी संस्कृति और सभ्यता की छाप डाल चुकी थी। उसका प्रथम वेग बड़ा ही प्रबल था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्यिक क्षेत्र में भी उस प्रबल वेग का साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर और जायसी आदि जिन कवि-संप्रदायों के प्रतिनिधि हैं, उनका विवरण हम पहले दे चुके हैं। उनमें मुसलिम विचारों और काव्य-शैलियों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। जायसी तो मुसलिम सूफी संप्रदाय के ही कवि हैं, उनमें भारतीयता इतनी ही है कि उन्होंने इस देश की भाषा का प्रयोग किया, हिंदुओं के घर की कहानी कही और भारतीय दृश्यों का समावेश किया। यदि उनके मुख्य मुख्य सिद्धांतों की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि वे फारस के ही अधिक उपयुक्त हैं; इस देश के लिये उतने उपयुक्त नहीं। कबीर यद्यपि जन्म से हिंदू थे, और हिंदू पंडितों के मध्य में पले थे पर फिर भी उन पर मुसलिम प्रभाव कम नहीं था। यह काल मुसलिम सभ्यता के प्रथम विकास का था। जिस प्रकार वर्षा की पहाड़ी नदी पानी के पहले झोंके में तीव्र गति से तटों को तोड़ती और उमड़ती हुई चलती है, पर शीघ्र ही अपनी सीमा में आकर प्रशमित हो जाती है, उसी प्रकार मुसलमानों का

प्रथम उल्लास भी बड़ा ही उद्वेगपूर्ण था पर पीछे जब इस देश की जल-वायु, आचार-विचार और सभ्यता आदि का उन पर प्रभाव पड़ा तब उनमें विचारशीलता और गंभीरता आई। इसी समय इस देश में भी प्राचीन भक्ति का आधार लेकर नवीन विकास हो रहा था और इस नवीन विकास में तत्कालीन स्थिति ने बड़ी सहायता पहुँचाई।

भक्ति के नवीन विकास के संबंध में हम पहले कह चुके हैं कि यह प्राचीन शास्त्रीय धर्मशैली की सहायता से उत्पन्न हुआ था और इसके समर्थन में हिंदू धर्म के सहस्रों प्राचीन ग्रंथ बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि इस नवीन उत्थान में यद्यपि अनेक प्रवर्तकों का हाथ होने से अनेक मत चल पड़े थे, पर विष्णु या नारायण की भक्ति ही अनेक रूपों में प्रचलित थी। अतः उक्त वैष्णव भक्ति में अनेक शाखा-भेदों के होते हुए भी, सामान्य एकता थी। यहाँ हमारा संबंध वैष्णव भक्ति की शाखा प्रशाखाओं से उतना ही है, जितना हिंदी साहित्य के विकास में वे सहायक हुई हैं। कबीर और जायसी आदि के प्रसंग में हम वैष्णव भक्ति का प्रभाव दिखा चुके हैं। अब हम हिंदी साहित्य के उस काल में प्रवेश करते हैं जिसमें इस नवीन भक्ति का अधिक से अधिक प्रभाव पड़ा और वह भक्ति घर घर में व्याप्त हो गई। कुछ तो तत्कालीन मुसलमान शासकों की उदार नीति, कुछ हिंदुओं की निराशाजनक स्थिति, और सबसे अधिक महाकवियों तथा महात्माओं का उदय भक्ति के प्रसार में अत्यधिक सहायक हुआ। समाज की स्थिति सुधरी, उसे मनोबल मिला। इस प्रकार एक ओर तो भक्ति की प्रेरणा से हिंदी कविता में अभूत -

पूर्व सहायता आई और दूसरी ओर हिंदी कविता का साधन पाकर भक्ति की ज्योति चारों ओर फैली जिससे हिंदू जीवन उद्दीप्त हो उठा। रामभक्ति और कृष्णभक्ति, वैष्णव भक्ति की ये दोनों शाखाएँ हिंदी साहित्योद्यान में खूब फैलीं जिससे जनता का मन हरा भरा हुआ। समयानुक्रम के अनुसार हम रामभक्ति का उल्लेख पहले करेंगे।

वैष्णव भक्ति की रामोपासिनी शाखा का आविर्भाव महात्मा रामानंद ने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया था। यद्यपि रामानंद के पहले भी नामदेव तथा त्रिलोचन आदि प्रसिद्ध भक्त हो चुके थे, पर उन्होंने भक्ति-आंदोलन को एक नवीन स्वरूप देकर तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय और उदार बनाकर हिंदू-धर्म के उन्नायकों में सम्माननीय स्थान पर अधिकार पाया। कबीर, तुलसी और पीपा आदि उनके शिष्य अथवा शिष्य-परंपरा में थे, और इसी से उनके महत्त्व का अनुमान हम अच्छी तरह कर सकते हैं।

रामानंदी संप्रदाय

महात्मा रामानंद स्वामी रामानुज के श्री-संप्रदाय के अनुयायी थे, यह बात जनश्रुतियों से भी ज्ञात होती है और दोनों की रचनाओं की समता से भी। श्रीवैष्णवों के यहाँ विष्णु के कृष्ण, राम तथा नृसिंह आदि अवतारों की उपासना करने की रीति प्रचलित थी, यद्यपि प्रधानतः उनका झुकाव कृष्णोपासना की ओर ही अधिक था। महात्मा रामानंद ने राम और सीता को, इष्टदेव मानकर उनकी पूजा की और हनुमान, भरत आदि रामभक्तों के भी वे भक्त बने। इस प्रकार यद्यपि कई आराध्य देव होते हैं, पर वे राम के संबंध

से ही सम्मान्य समझे जाते हैं, अन्यथा नहीं। राम की उपासना उन्हें परब्रह्म मानकर की जाती थी, अन्य उपास्य देव उनके सामने निम्न स्थान के अधिकारी थे। कबीर ने तो राम को निर्गुण और सगुण ब्रह्म से भी परे बतलाकर उनका चरम उत्कर्ष प्रकट किया है। पर यह समानता केवल नाम की थी, व्यक्तित्व की नहीं। राम से उनका अभिप्राय परब्रह्म से ही था।

स्वामी रामानंद यद्यपि रामानुज के ही अनुयायी थे, पर मंत्र-भेद, तिलक-भेद तथा अन्य विभेदों के कारण कुछ लोग उन्हें श्री-वैष्णव संप्रदाय में नहीं मानते। वे त्रिदंडी संन्यासी नहीं थे, अतएव उनमें और श्री-संप्रदाय में भेद बतलाया जाता है। परंतु यह निश्चित है कि रामानंद काशी के बाबा राघवानंद के शिष्य थे और बाबा राघवानंद श्री-संप्रदाय के वैष्णव संत थे। यद्यपि यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि रामानंद और राघवानंद में आचार के संबंध में कुछ मतभेद हो जाने के कारण रामानंद ने अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाबा राघवानंद की मृत्यु के उप-रांत रामानंदजी ने रामभक्ति का मार्ग प्रशस्त कर उत्तर भारत में एक नवीन भक्ति मार्ग का अभ्युदय किया।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि रामभक्ति का विकास दक्षिण भारत में रामानंद के पहले ही हो चुका था और तामिल प्रदेश में इसका प्रचार भी पर्याप्त था। उस समय तक भक्ति ग्रंथों की रचना भी होने लगी थी। रामानंद ने दक्षिण के रामभक्तों से बहुत कुछ ग्रहण किया। "ओ३म् रामाय नमः" का उनका मंत्र ही नहीं, उनकी धार्मिक

उदारता भी, जो भक्ति में शूद्रों के प्रवेश आदि के रूप में व्यक्त हुई, उन्होंने दक्षिण के अनुकरण में ही स्वीकृत की और चलाई थी। इतना ही नहीं, दक्षिण में प्रचलित अध्यात्म रामायण, अगस्त्य सुतीक्ष्ण संवाद आदि धर्मग्रंथों को लाकर उन्होंने उनका प्रचार किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत की तत्कालीन रामभक्ति के आंदोलन में दक्षिण भारत ने बहुत कुछ योग दिया था।

रामानंद के संबंध में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि उनके आंदोलन में बड़ी उदारता थी और वे ईश्वरोपासना में जातिभेद नहीं स्वीकृत करते थे। उनके शिष्यों में शूद्र वर्ण के तो कई व्यक्ति थे, पर मुसलमान कबीर-दास भी थे। उस समय स्त्रियों की स्थिति अत्यंत निम्न थी और वे भक्ति की अधिकारिणी नहीं मानी जाती थीं, परंतु स्वामी रामानंद की शिष्या एक स्त्री भी थी। इस उदारता का कारण कुछ व्यक्ति मुसलमानों का प्रभाव बतलाते हैं, परंतु हमारी सम्मति में इसमें विदेशीय प्रभाव के साथ ही भारतीय तात्त्विक दृष्टि भी प्रतिफलित हुई है। महात्मा शंकर ने अद्वैत-वाद का उपदेश देकर जिस दार्शनिक साम्य की प्रतिष्ठा की थी उसके अनुसार जीवात्मा अखंड और अभेद मानी गई थी। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत का शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से इस विषय में अभेद है। वे भी जीव का साम्य स्वीकृत करते हैं। हिंदुओं का वर्णविभाग सामाजिक कार्य-विभाग की दृष्टि से चला था, तात्त्विक दृष्टि से तो केवल समा-नता स्वीकृत की गई थी। हाँ, स्वामी रामानंद तथा अन्य आचार्यों में इतना विभेद अवश्य है कि उन्होंने पहले की अपेक्षा

अधिक अग्रसर होकर घोषणा की कि धर्म में जातिभेद नहीं है, और इस सिद्धांत के अनुसार अपने शिष्यों में सभी वर्णों को सम्मिलित किया। यह सब कुछ होते हुए भी हम यह नहीं भूल सकते कि रामानंद ने वैयक्तिक साधना की दृष्टि से जाति के झमेले को दूर किया है, पर समाज में उन्हें जातिभेद स्वीकृत था। यह बात उनके वेदांत सूत्र के भाष्य से स्पष्ट हो जाती है।

स्वामी रामानंद के दार्शनिक विचारों और सिद्धांतों का निरूपण करना बहुत ही कठिन है। यह तो ठीक है कि स्वामी रामानुज की ही भाँति वे भी वैष्णव भक्त थे अतः शंकराचार्य के ज्ञानमार्ग में निरूपित अद्वैतवाद से उनके सिद्धांतों में विभेद होना स्वाभाविक है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भक्ति के उपयुक्त था, अतएव भक्त रामानंद भी इसी सिद्धांत के समर्थक होंगे, ऐसा अनुमान होता है; परंतु निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। रामानंदजी की शिष्य-परंपरा द्वारा निर्मित साहित्य का अनुसंधान करने पर भी संदेह ही बना रहता है। एक ओर तो कबीर, नानक आदि निर्गुणिए संत हैं जिन्होंने राम को निर्गुण सगुण सबके ऊपर मानकर अपने अद्वैतवादी होने का परिचय दिया है और दूसरी ओर तुलसीदास हैं जिन्होंने अयोध्या के नृपति दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम को अपना इष्टदेव बनाया और भक्ति-भाव से उनका चरित्र अंकित किया। कहीं कहीं तो कबीर आदि संत अद्वैतवाद से नीचे उतरते, अपने आराध्य देव में गुणों का आरोप करते और स्वयं भक्त बनकर उसे भक्त-वत्सल कहते हैं। इसी प्रकार महात्मा तुलसीदास भी यद्यपि दासभाव से उपासना करते हुए ईश्वर तथा जीव में

विभेद की व्यंजना करते हैं, पर साधना की उच्च श्रेणी पर पहुँचकर वे कभी कभी सारे जगत् को राममय देखते और इस प्रकार अद्वैत की ओर संकेत करते हैं। अतः हम देखते हैं कि स्वामी रामानंद की शिष्यपरंपरा में अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों का सम्मिश्रण हुआ है। पहुँचे हुए भक्तों के लिये यह स्वाभाविक भी है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि स्वामी रामानंद की प्रेरणा से देश-भाषाओं में रामभक्ति का जो साहित्य तैयार हुआ उसमें सिद्धांतों की अधिक स्पष्ट व्यंजना नहीं हुई—कहीं कहीं तो विभिन्न मतों का समावेश भी हुआ है।

रामानंद की शिष्यपरंपरा

रामभक्ति की जो शाखा महात्मा रामानंद द्वारा विकसित हुई, आगे चलकर उसका अत्यधिक विस्तार हुआ और वह खूब फूली फली। यद्यपि अपनी उदारता के कारण रामभक्ति उस सांप्रदायिक कट्टरपन से बची रही जो कृष्णोपासना के विभिन्न संप्रदायों में फैली, अतः इसके अनुयायियों की गणना सांप्रदायिकों के अंतर्गत नहीं की जा सकती, तथापि इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रामानंद की रामोपासना का इस देश पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। कबीर, पीपा, रैदास, सेना, मलूक आदि संत सब रामानंद के ऋण से ऋणी हैं, यद्यपि उनके चलाए हुए संप्रदायों पर विदेशीय प्रभाव भी पड़े और अनेक साधारण विभेद भी हुए। जनता पर इन संतों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परंतु महात्मा रामानंद का ऋण इन संतों तक ही परिमित नहीं है। इनकी शिष्य-परंपरा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास हुए जिनकी जगत्-

गोस्वामी तुलसीदास
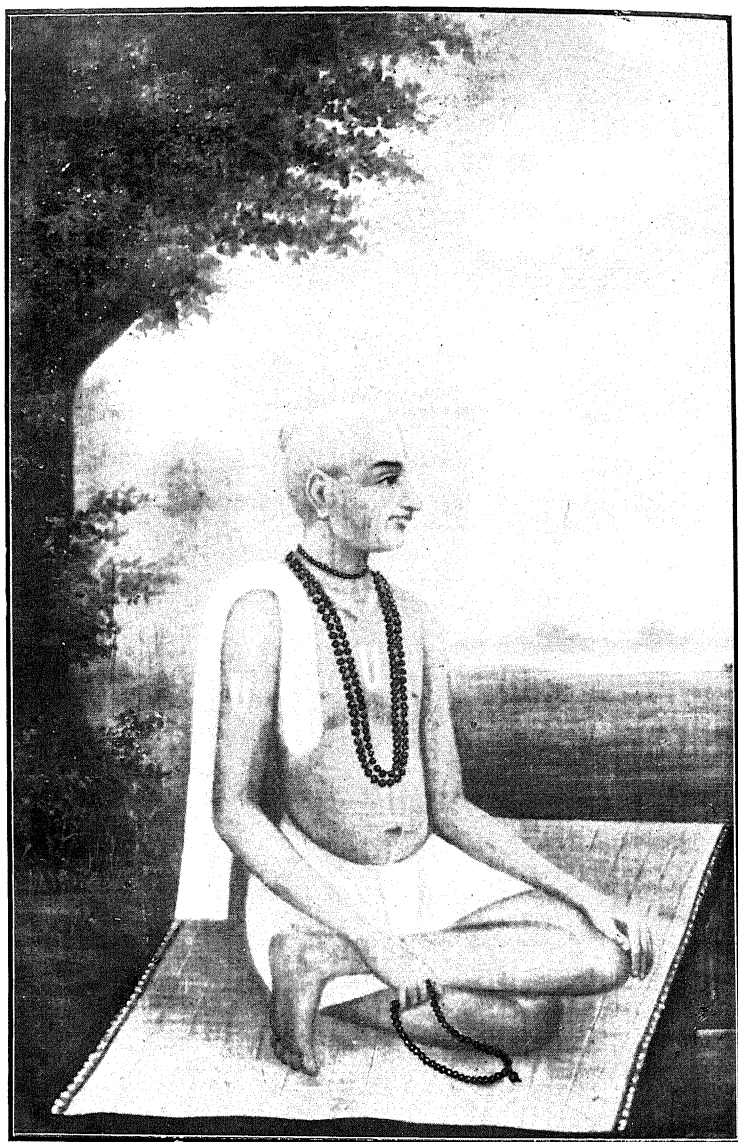
प्रसिद्ध रामायण हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता का सर्वस्व है। कबीर आदि संतों के संप्रदाय देश के कुछ कोनों में ही अपना प्रभाव दिखा सके और पढ़ी लिखी जनता तक उनकी वाणी पहुँच भी न सकी, परंतु गोस्वामी तुलसीदास की कविता ऊँच-नीच राजा-राव, पढ़े-बेपढ़े सबकी दृष्टि में समान रूप से आदरणीय हुई। ये गोस्वामी तुलसीदासजी स्वामी रामानंद के ही उपदेशों को ग्रहण करके चले थे, अतः स्वामी रामानंद का महत्त्व हम अच्छी तरह समझ सकते हैं और उनके उपदेशों से अंकुरित रामभक्ति को आज असंख्य घरों में फैली हुई देख सकते हैं।

तुलसीदास की जीवनी का अनुसंधान

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और हिंदी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे। यद्यपि अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गए हैं, और यद्यपि आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है, तथापि उनकी लौकिक जीवन गाथा का उल्लेख यहाँ संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवनचरित लिखनेवाले महात्मा रघुवरदास के "तुलसीचरित" से उनकी जीवनी का पता चलता है परंतु उनके समकालीन शिष्य बाबा वेणीमाधवदास का "गोसाईंचरित" अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनके अतिरिक्त अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिरजापुर के पंडित रामगुलाम द्विवेदी आदि जनश्रुतियों

के आधार पर गोस्वामी जी की जीवनगाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी उपेक्षा योग्य नहीं। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामी जी के ग्रंथों की जाँच पड़ताल करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रह मात्र होती है, उससे उनके मानसिक और कला संबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता। उनके ग्रंथों की रचना का क्रम क्या है, रचना की परिस्थितियाँ कैसी थीं आदि इन आवश्यक बातों का ठीक ठीक पता नहीं चलता, जिनकी गोस्वामी जी जैसे महाकवि के विषय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है।

उनका जीवनचरित

उपर्युक्त बाह्य और अंतरंग साक्ष्य की सहायता से गोस्वामीजी की संक्षिप्त जीवनगाथा इस प्रकार स्वीकृत की जा सकती है। गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ और स्वर्गवास संवत् १६८० ठहरता है। यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्संदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संबंध में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्त प्रांत के बाँदा जिले में राजापुर

गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिससे इनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा बेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर उधर घूमते फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामी जी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा दीक्षा पाकर गोस्वामी जी भी उसी मत के अवलंबी बने। उनका अध्ययन काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामी जी युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामी जी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं

किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेमविह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और वेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामी जी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदासजी के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के संबंध में जो विरोधात्मक उद्‌गार पाए जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामी जी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्‌गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधात्मक उद्‌गारों का कारण है। परंतु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के संबंध में बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उसका अनुमोदन करती हैं।

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा वृंदावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्ण गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिए थे, और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

रामचरितमानस और विनयपत्रिका

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी

तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्म-निवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर जोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामी जी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामी जी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा

मृत्यु

जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-विभेद था। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार—

संबत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गुसाईं-चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामी जी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसीदास जी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्णपक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

गोस्वामीजी का भारतीय जन समाज पर प्रभाव, उसके कारण—
(१) अध्ययन

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नाना पुराण निगमागम सम्मत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधार-भूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन

का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों विशेषतः अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुसुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

(२) उदारता और सारग्राहिता

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है। गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव उसी पर सबसे अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एक मात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरित-मानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की

प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरित-मानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा प्रजा, ऊँच नीच, द्विज शूद्र, आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता पिता, गुरु भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, उनकी सब रीति नीति वर्ण-आश्रम व्यवस्था तुलसी-दासजी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिये उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंद-मग्न होकर हम उसके विधि निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न आदि

बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्य-संदीपनी, पार्वती मंगल और जानकी मंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज में किया गया है परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सच्चे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी बेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

(३) अनेक ग्रंथ

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-

(४) रामचरित की व्यापकता

गुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य मात्र के लिये कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित के बाहर जा-कर भी उन्होंने मानव समाज के लिये हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य समाज के प्रति हितकामना स्पष्टत: झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

(२) आंतरिक अनुभूति

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांत:सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसी

की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्‌गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

(६) स्वतंत्र उद्‌भावना

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्‌भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। हनुमान के सीता की खोज में लंका पहुँचने की कथा तो वाल्मीकि रामायण में भी है; परंतु सीताजी की शोकविह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना गोस्वामीजी की उद्‌भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखाने में गोस्वामीजी को स्वतंत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें है, उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन

में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण के आधार पर जो ग्रंथ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गए, उनमें और गोस्वामी जी की रचनाओं में महान् अंतर है। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

भाषा और काव्य शैली

जायसी की भाषा और छंदों का विवेचन करते हुए हम कह चुके हैं कि उन्होंने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छंदों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के उपरांत गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छंदों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में व्रज भाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह व्रज भाषा विकसित

होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रज भाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रज भाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरित के लंका कांड में जो युद्ध वर्णन हैं, उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रज भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लौकिक कविता आरंभ में वीणा के साथ गाई

जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

उपसंहार

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम स्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च

कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिये धर्मग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूलस्वरूप मानना होगा। फिर ये फूलस्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फलस्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं

जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी में हिंदी कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामी जी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामी जी के पीछे उनकी नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्ति-मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामीजी को हिंदी कवियों की रत्नमाला का सुमेर मान-कर ही पूर्व कथित साहित्य-विकास के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, रामभक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि

नाभादास

उनके पीछे के रामभक्त कवियों की अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामीजी के आलोक के सामने वे फीके देख पड़ते हैं। फिर भी उनके समकालीन भक्त नाभादासजी रामभक्ति के एक उल्लेखयोग्य कवि हैं। नाभादासजी का "भक्तमाल" भक्तों का प्रिय ग्रंथ रहा है और अब भी है। उसमें सांप्रदायिक विभेद का

परित्याग कर अनेक महात्माओं की जीवनी और कीर्ति की प्रशस्ति लिखी गई है। इस रचना में संक्षिप्त सूत्रशैली का व्यवहार किया गया है जिससे अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। प्रियादास नामक संत ने भक्तमाल की टीका लिखकर इस कठिनाई को दूर करने की सफल चेष्टा की है। प्रियादास नाभा जी के सौ वर्ष उपरांत हुए थे फिर भी उन्होंने टीका बड़ी प्रामाणिक रीति से लिखी है।

नाभा जी स्वयं बड़े भक्त और संत थे। इनकी जाति का ठीक पता नहीं। कोई इन्हें डोम बतलाते हैं और कोई क्षत्रिय। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी। इनका जीवनकाल लगभग १६४२ से १६८० तक रहा होगा। ये यद्यपि रामभक्त थे, पर इनके गुरु अग्रदास जिनकी प्रेरणा से इन्होंने भक्तमाल की रचना की थी, वल्लभ संप्रदाय के कृष्ण-भक्त कवि थे। अग्रदास ने भी रामभक्ति की कुछ कविता की है। नाभादास की रामचरित पर एक पुस्तक अभी थोड़े दिन हुए मिली है। इसके अतिरिक्त उनके दो ग्रंथ और हैं जिनमें से एक व्रज भाषा गद्य में है और दूसरा अवधी पद्य में।

प्राणचंद और हृदयराम

प्राणचंद चौहान और हृदयराम इन दोनों रामभक्त कवियों ने नाटकों की शैली में रामकथा कही है। उनके नाटक रंगशाला में खेले जाने योग्य नहीं हैं, केवल कथोपकथन के रूप में होने के कारण उनको नाटक कह दिया जाता है। फिर भी इतना अवश्य है कि रामभक्ति की कविता प्रबंध और मुक्तक काव्यों के रूप में ही नहीं लिखी गई, दृश्य काव्य की शैली पर भी लिखी गई। रामभक्ति से हिंदी कविता को जितनी व्यापकता और विस्तार

मिला, कृष्णभक्ति से उतना नहीं। कृष्णभक्ति की कविता तो अधिकतर गीत काव्यों की शैली पर ही लिखी गई।

प्राणचंद ने संवत् १६६७ में रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने संवत् १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर हिंदी हनुमन्नाटक की रचना की। इन दोनों में हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ और प्रसिद्ध हुई।

रामभक्ति की एक शाखा हनुमानभक्ति के रूप में भी स्फुरित हुई। गोस्वामी तुलसीदास का हनुमान बाहुक महावीरजी की स्तुति में लिखा गया था। इस प्रकार की पुस्तकों में रायमल्ल पांडे का लिखा हनुमच्चरित्र (१६८६) कुछ प्रसिद्ध है।

यहाँ हम केशवदास की रामचंद्रिका तथा इस श्रेणी की अन्य पुस्तकों का उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इनके रचयिता रामभक्त नहीं थे और इनके काव्य भी भक्तिकाव्य नहीं कहे जा सकते।

विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह

रामोपासक कवियों में महाराज विश्वनाथसिंह और महाराज रघुराजसिंह का नाम भी लिया जाता है। ये दोनों ही रीवाँनरेश रामभक्त थे, परंतु महाराज विश्वनाथसिंह निर्गुण भक्ति की ओर भी झुके थे और कबीर आदि पर आस्था रखते थे। विश्वनाथसिंह ने कितने ही ग्रंथों की रचना की जिनमें अनेक रामभक्ति के भी हैं; पर उनके ग्रंथों का विशेष प्रचार नहीं हुआ। महाराज रघुराजसिंह के "रामस्वयंवर" की अच्छी प्रसिद्धि है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं। उसमें युद्ध-वर्णन के अवसर

पर जिन अनेक शस्त्रों आदि का नामोल्लेख किया गया है, उन्हें पढ़कर जी ऊब जाता है। इतिवृत्ति के रूप में ही इसके प्रायः सब वर्णन हैं, अतः उनमें काव्यत्व की कमी है, फिर भी साधारण साहित्य समाज में इस पुस्तक का पर्याप्त प्रचार है। इसमें विशेषकर महाराज रघुराजसिंह ने राजसी ठाट-बाट का वर्णन किया है।

मैथिलीशरण

आधुनिक युग भक्ति का युग नहीं है। फिर भी राम-चरित के कुछ प्रसंगों को लेकर खड़ी बोली में कुछ खंड-काव्यों की रचना हुई है, परंतु वे भक्ति काव्य नहीं कहला सकते। श्री मैथिली-शरण गुप्त की "पंचवटी" कविता-पुस्तक में राम का सीता और लक्ष्मण सहित पंचवटी-प्रवास वर्णित है। इन्हीं गुप्त जी का "साकेत" नामक बड़ा काव्य-ग्रंथ भी निकल रहा है जिसमें रामकथा कही गई है। कुछ अन्य कवियों ने भी रामायण की कथा का आश्रय लेकर कविता की है, पर उनका नामोल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

आठवाँ अध्याय

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्णभक्ति की उत्पत्ति और विकास

भारतीय महापुरुषों के संबंध में यह बात विशेषत: सत्य है कि वे अपने जीवनकाल में तो साधारण यश तथा प्रसिद्धि पाते हैं, पर कुछ समय के उपरांत उनमें ईश्वर की कलाओं का सन्निवेश माना जाता और उनकी उपासना की जाती है। वाल्मीकि के मूलग्रंथ में राम एक शक्तिशाली नृपति के रूप में अंकित किए गए हैं, ईश्वर के अवतार नहीं माने गए। परंतु उसी ग्रंथ के उत्तरकालीन अंश में ही राम भगवान् विष्णु के अंशावतार स्वीकृत किए गए हैं, और उनमें देवत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। इसके उपरांत रामभक्ति का विकास होता गया और अंत में रामोपासक संप्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस सांप्रदायिक रूप में तो राम का स्थान सब देवताओं से ही नहीं, स्वयं विष्णु से भी बढ़कर माना गया है। यही नहीं, कबीर आदि के राम तो निर्गुण और सगुण से भी परे परब्रह्म कहे गए हैं। तुलसी आदि उदार-हृदय, समन्वयवादी संत भी राम को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ बतलाते हैं। राम जिनके इष्टदेव हैं, उनके लिये वे ही सब कुछ हैं; उनके लिये सब जग ही सियाराममय है। कृष्ण की उपासना का भी इसी प्रकार विकास हुआ है। महाभारत के प्रारंभिक पर्वों में वे अवतार नहीं बने, पर

भगवद्गीता में उनकी अवतारणा भगवान् कृष्ण के रूप में हुई जो ईश्वर की संपूर्ण कलाओं को लेकर नरलीला करने तथा संसार का भार उतारने आए थे। पर गीता में कृष्ण को सांप्रदायिक रूप नहीं मिला। भागवत पुराण में कृष्णभक्ति दृढ़ हो गई है। उसके उपरांत तो कृष्णभक्ति के अनेक संप्रदाय चले जिनमें भगवान् कृष्ण के विभिन्न रूपों की उपासना होने लगी।

कृष्णोपासना के उन अनेक संप्रदायों के उल्लेख से यहाँ प्रयोजन नहीं जिनका हिंदी साहित्य से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। हम तो हिंदी साहित्य की कृष्णभक्ति शाखा का विवरण ही यहाँ देंगे और उन कृष्णभक्त कवियों का उल्लेख करेंगे जिनसे हिंदी की श्रीवृद्धि हुई है। परंतु हिंदी के सभी कृष्णभक्त कवि एक ही संप्रदाय के नहीं थे, अतएव उन्होंने विभिन्न रूपों में कृष्ण की उपासना की और उनकी स्तुति में अपनी वाणी का उपयोग किया। जब हम कालक्रमानुसार हिंदी के कृष्णोपासक कवियों पर दृष्टि डालते हैं, तब उनमें कितने ही विभेद पाते हैं। विभेद का कारण जहाँ वैयक्तिक रुचि, अथवा प्रतिभा आदि है, वहाँ संप्रदाय भेद भी है, उदाहरणार्थ विद्यापति और मीराबाई की रचनाओं तथा सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की कृतियों में बहुत कुछ ऐसी विभिन्नता है जिसका कारण साम्प्रदायिक मतों की विभिन्नता है। इसी प्रकार स्वामी हरिदास और महात्मा हितहरिवंशजी में भी सम्प्रदाय-भेद के कारण अंतर देख पड़ता है। उनकी वाणी न तो आपस में ही मिलती है और न सूर आदि की वाणी से ही उसका मेल मिलता है। विभेद के कारणों का अनुसंधान

करने पर यह पता लगता है कि विद्यापति और मीरा पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का अधिक प्रभाव था और सूरदास आदि अष्टछाप के कवि वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे। इसी प्रकार स्वामी हरिदास निंबार्काचार्य के टट्टी संप्रदाय के थे, और हितहरिवंशजी ने राधा की भक्ति को प्रधानता देकर नवीन मत का सृजन किया था। ऐसे ही अन्य विभेद भी हैं। यहाँ हम कृष्णभक्ति के कवियों पर लिखते हुए संक्षेप में उन संप्रदायों का उल्लेख करेंगे जिनके मतों और सिद्धांतों का उन पर प्रभाव पड़ा था।

विद्यापति और मीरा

शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिये जगह न थी, यह हम पहले ही कह चुके हैं। शंकर के उपरांत स्वामी रामानुजाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, वह भी भक्ति के बहुत उपयुक्त न था। इसी समय के लगभग प्रणीत भागवत पुराण में भक्ति का दृढ़ मार्ग निरूपित हुआ और मध्वाचार्य ने पहले पहल द्वैतमत का सृजन कर भक्त और भगवान् के संबंध को सिद्ध किया। मध्वाचार्य दक्षिण में उदीची नामक स्थान के रहनेवाले थे। उन्होंने पहले तो शंकर मत की शिक्षा पाई थी, पर पीछे महाभारत तथा भागवत पुराण का अध्ययन किया था। भागवत पुराण के अध्ययन का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे शंकर के ज्ञानमार्ग के विरोधी और भक्ति के समर्थक बन गए। उत्तर भारत में उनके सिद्धांतों का प्रत्यक्ष में तो अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, पर अनेक संप्रदाय उनके उपदेशों का आधार लेकर दक्षिण में खड़े हुए और देश के विस्तृत भूभागों में फैले। हिंदी के कृष्णभक्त

कवियों में विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ऋण स्वीकार करना पड़ता है।

परंतु विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में ही और न माध्व मत में ही, राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करनेवाली अनेक गोपियों में राधा भी हो सकती हैं, पर कृष्ण की चिर-प्रेयसी के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णु स्वामी तथा निंबार्क संप्रदायों में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी मध्वाचार्य की ही भाँति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णु स्वामी के ही समकालीन निंबार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृंदावन में निवास कर गोपाल कृष्ण की भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर निवास करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार का ही विशेषतः वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलत्व भी आ गया है, पर अधिकांश स्थलों में प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के चंडि-

दास आदि कृष्णभक्त कवियों ने भी राधा की प्रधानता स्वीकृत की है। हिंदी की प्रसिद्ध भक्त और कवयित्री मीराबाई के प्रसिद्ध पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में गोपाल कृष्ण का स्मरण है जो निंबार्क संप्रदाय के प्रचलन के अनुसार है। मीराबाई के कुछ पदों में जो अश्लीलता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निस्संदेह सात्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निंबार्क स्वामी रामानुज के अनुयायी थे।

विद्यापति और मीरा के उपरांत कृष्णभक्ति के प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों का उदय हुआ। अष्टछाप में आठ कवि सम्मिलित थे। ये वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे और उन्हीं के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विट्ठलनाथजी द्वारा संघटित किए गए थे। गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता आचार्य वल्लभ के उपदेशानुसार अत्यंत सरल तथा मधुर वाणी में भगवान् कृष्ण का यशोगान करनेवाले आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप संप्रदाय की प्रतिष्ठा की थी।

अष्टछाप और आचार्य वल्लभ

अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास सम्मिलित थे जिनमें पहले चार स्वयं आचार्य वल्लभ के शिष्य थे और पिछले चार उनके पुत्र के। नीचे हम वल्लभाचार्य के जीवन तथा मत का संक्षिप्त विवरण देते हैं, क्योंकि अष्टछाप के कवियों से परिचित होने के लिये यह बहुत आवश्यक है।

स्वामी वल्लभाचार्य का जन्म काशी के एक तैलंग ब्राह्मण के घर में संवत् १५३५ में हुआ था। इनके पिता विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्हें काशी में शास्त्रीय शिक्षा मिली थी। ये संस्कृत के पंडित होकर बड़े शास्त्रार्थी बन गए थे और विशेषत: स्मार्तों का खंडन किया करते थे।

वल्लभाचार्य ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया था तथा भाष्य आदि लिखे थे। "वेदांत सूत्र अनुभाष्य" भागवत की सुबोधिनी टीका तथा "तत्त्व-दीप निबंध", इनकी प्रधान कृतियाँ हैं। ये सब ग्रंथ इन्होंने संस्कृत में लिखे थे, हिंदी में नहीं। इनके मतानुयायियों में गिरधर तथा बालकृष्ण भट्ट संस्कृत के पंडित थे जिन्होंने पुस्तकें लिखकर इनके सिद्धांतों का प्रचार किया था। गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी भी इनकी शिष्य-परंपरा में अच्छे संस्कृतज्ञ और विद्वान् हो गए हैं।

यद्यपि वल्लभाचार्य अपने को अग्नि का अवतार मानते थे और स्वयं कृष्ण को ही अपना गुरु स्वीकार करते थे, पर उनके पिता के विष्णु-स्वामी-मत तथा निंबार्क संप्रदाय का उन पर विशेष प्रभाव लक्षित होता है। कृष्ण को परब्रह्म तथा राधा को उनकी चिरप्रणयिनी मानकर उनकी उपासना करना निंबार्क संप्रदाय के फलस्वरूप ही समझना चाहिए।

इनके दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहलाए, जिनमें एक ओर तो रामानुज की विशिष्टता दूर की गई है और दूसरी ओर शंकर का मायावाद अस्वीकृत किया गया। शंकर के ज्ञान के बदले ये भक्ति को ग्रहण करते हैं और भक्ति ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है। भक्ति ज्ञान से बढ़कर है, क्योंकि वह ईश्वर की कृपा से मिलती है। ईश्वर की

दया के लिये पुष्टि शब्द का व्यवहार किया गया है जो भागवत के आधार पर है। इसी लिये वल्लभाचार्य का भक्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग कहलाता है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत् चित् और आनंदस्वरूप हैं। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् निकलते हैं। ये उससे भिन्न नहीं हैं। अंतर इतना ही है कि जीव आनंद को खोकर केवल सत् और चित् को अंशतः धारण किए रहता है, मुक्त होकर जीव आनंदस्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिर-काल तक एकाकार होकर रहता है। स्वर्गीय वृंदावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरंतन विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।

शंकर के अनुसार वल्लभाचार्य जगत् को मिथ्या नहीं मानते। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है, अतः यह मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है। हाँ, माया में फँसे रहने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप नहीं पहचान सकता। जब ईश्वर का अनु-ग्रह होता है तब जीव माया से मुक्त होकर अपना शुद्ध स्वरूप पहचानता है और तब वह भी सत्, चित् और आनंद-स्वरूप हो जाता है।

ऊपर जिन दार्शनिक सिद्धांतों का विवरण दिया गया है उनके अतिरिक्त महात्मा वल्लभाचार्य ने कुछ व्यावहारिक नियम भी प्रचलित किए थे जिनका उनके संप्रदाय में अब तक पालन होता है। इन व्यावहारिक नियमों में सबसे अधिक उल्लेख-नीय गुरु-शिष्य संबंध है जिसका आगे चलकर बड़ा अनिष्टकर परिणाम हुआ। वल्लभाचार्य की शिष्यपरंपरा में यह नियम है

कि गुरु की गद्दी का उत्तराधिकारी प्रत्येक शिष्य नहीं हो सकता, गुरु का पुत्र ही हो सकता है। गोसाईं विट्ठलनाथ भी इसी नियम के अनुसार गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। आगे चलकर अयोग्य व्यक्तियों को भी गद्दी का अधिकार मिलने लगा; क्योंकि योग्य पिता की सदा बराबर योग्य संतान नहीं हुआ करती। परंतु इन अयोग्य गुरुओं की पूजा बराबर उतनी ही विधिपूर्वक होती रही जितनी स्वयं कृष्ण की। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। गुरु धर्मोपदेशक और साधु न बनकर धनलोलुप तथा विलासप्रिय बन बैठे। उनका वैभव इतना बढ़ा कि वे राजाओं की भाँति संपत्तिशाली हो गए और महाराज की उपाधि भी उन्होंने धारण कर ली। महाराज मंदिर के सर्वे सर्वा होते हैं। भक्त जन उनकी प्रसादप्राप्ति के लिये बड़ी बड़ी रकमें दान करते हैं। धीरे धीरे भक्त भी वे ही होने लगे जो विशेष धनवान् हों। इससे राधा-कृष्ण के स्वर्गीय प्रेम को लौकिक विलास-वासना का रूप मिला और संप्रदाय अधःपतित हो गया।

आजकल वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात तथा राजपुताने के धनी बनिए आदि हैं। बड़े बड़े नगरों में उनकी रास-मंडलियाँ हैं जिनमें कृष्ण के रासमंडल का अनुकरण किया जाता है। इन मंडलियों में वास्तविक भक्त बहुत थोड़े और विलासी धनिक अधिक होते हैं। जिस प्रकार हिंदी साहित्य में सूर आदि की वाणी की ओट में पिछले खेवे के शृंगारी कवियों को अपने कलुषित उद्गारों के व्यक्त करने का अवसर मिला और जिस प्रकार राधा-कृष्ण के नाम पर नायक नायिकाओं का जमघट तैयार हो गया जिसमें वासनापूर्ण

सूरदास

भोगवाणी की ही अभिव्यंजना अधिक हुई, उसी प्रकार वल्लभाचार्य के आधुनिक अनुयायियों में सच्चे स्वर्गीय प्रेम की ओर उतना अनुराग नहीं है जितना उस स्वर्गीय प्रेम की लौकिक प्रतिकृति बनाकर अपनी कायवृत्तियों के परितोष की ओर है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का तत्कालीन उत्तर भारत पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा, और कृष्णभक्ति के अन्य छोटे बड़े संप्रदाय इसके वेग में विलीन हो गए। व्रज भाषा के अधिकांश भक्त कवि इसके अनुयायी थे और जिन कवियों ने इससे अलग रहकर रचना की है, उन पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। विष्णु स्वामी तथा निंबार्क आदि के संप्रदाय इसके सामने दब गए। उत्तर में वल्लभ संप्रदाय तथा बंगाल में चैतन्य संप्रदाय के कवियों की ही धूम रही, अन्य सब मत फीके पड़ गए। हमारी सम्मति में रामानंद द्वारा आविर्भूत तथा तुलसीदास द्वारा परिपुष्ट रामभक्ति के तत्कालीन ह्रास का एक कारण कृष्णभक्ति के इन संप्रदायों का वेगपूर्ण अभ्युत्थान भी है। राधा और कृष्ण की उपासना-वाणी सारे उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज उठी, जनता सब कुछ भूलकर उस सरस स्रोत में बह चली।

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमरकवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल

सूरदास

के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कूएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टकूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कूएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य-देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छ हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुलत्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत काव्य कह सकते हैं। गीत काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरसागर में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन

सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब यह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिये रोते देख थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के लिये भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देख-कर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते कूदते और बालचापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखनचोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे व्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुनाकुंजों की रमणीक स्थली

में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवत: संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्षालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रास-लीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेम-मयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदंब के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी कृष्ण की यह संयोगलीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़-कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशो, वकासुर आदि दैत्यों के वध और कालीय दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते कलपते हुए उसे स्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाग आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सबको बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान्य भाव बराबर बना रहता है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्ट-कूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्नश्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति

को अमर कर देने और हिंदी कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सार्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्णभक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का दूसरा कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर व्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने व्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परंतु भाषा को

हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परंतु दोनों की वाणी में पूत भावनाएँ एक सी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोककल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। हम तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, पर सूरदास के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

अन्य कवि

अष्टछाप के अन्य कवियों में रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि के रचयिता "सब कवि गढ़िया नंददास जड़िया" के लक्ष्य सुंदर अनुप्रास-मिश्रित संस्कृत-भाषामय पदावली का प्रणयन करने-वाले सूरदास के ही समकालीन नंददासजी हुए जिन्होंने भागवत की कथा लेकर काव्यरचना की। इन्होंने अपने भ्रमरगीत में सगुणोपासना का समर्थन शास्त्रीय पद्धति पर और हार्दिक अनुभूति के आधार पर किया है। इनका

भ्रमरगीत हिंदी का उत्कृष्ट विरह-काव्य है। इनके अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रेम में मग्न सरस श्रृंगारिक रचना पर कृष्णदास अपने पदों से आचार्य वल्लभ को भावमग्न करने की क्षमता रखनेवाले कन्नौज निवासी परमानंददास, अकबर के निमंत्रण और सम्मान की परवा न करनेवाले सच्चे भक्त कुंभनदास, उनके पुत्र चतुर्भुजदास, व्रजभूमि और व्रजेश की ओर अनन्य भाव से आकर्षित छीत स्वामी, गोवर्द्धन पर्वत पर कदंब उपवन लगाकर निवास करनेवाले गायक गोविंद स्वामी आदि अष्टछाप के शेष कवि हैं। प्रत्येक ने भक्तिभावसंयुक्त कृष्ण की उपासना की और पूरी क्षमता से प्रेम के और विरह के सुंदर गेय पद बनाए। सबकी वाणी में वह तन्मयता है जो गीत काव्य के लिये परम उपयोगिनी है। सरस भक्तिपूर्ण पदों का यह प्रवाह रुका नहीं, चलता ही रहा। आगे चलकर जब कृष्ण की उपासना में लौकिक विषय-वासनाएँ आ मिलीं, तब कविता अपने उच्चासन से गिरी और मनुष्य की भोग-वृत्तियों के परितोष का साधन बन गई। इसके लिये कुछ समालोचक इन भक्त कवियों पर दोषारोपण करते हैं। उनके मत में भक्त कवियों की रचनाओं में जो श्रृंगारिकता है वही बीज बनकर हिंदी के पिछले समय की रचनाओं में व्याप्त हो गई। परंतु इसके लिये हम भक्त कवियों को दोषी नहीं ठहरा सकते। प्रत्येक सुंदर वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है; पर इसके लिये सुंदर वस्तु की निंदा करना व्यर्थ है। पिछले खेवे की गंदी रचनाओं का कारण तत्कालीन जनता की विलासप्रिय मनोवृत्ति है, भक्त की पूत वाणी नहीं। शुद्ध प्रेम का प्रवाह बहाकर भगवान् कृष्ण की स्तुति में आत्म-

विस्मरण कर देनेवाले भक्त कवियों का हिंदी कविता पर जो महान् ऋण है, उसे हम सभी स्वीकृत करेंगे।

अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करनेवालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। हितहरिवंशजी माधव और निंबार्क मतों से प्रभावित थे, पर उन्होंने राधा की उपासना को ग्रहण कर राधावल्लभी संप्रदाय का सृजन किया। उन्होंने "राधासुधानिधि" और "हित चौरासी" नामक दो पुस्तकें लिखीं जिनमें पहली संस्कृत में है। इसके अतिरिक्त उनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनके मतानुसार राधा रानी हैं, कृष्ण उनके दास हैं, राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद मिल सकता है। "हित चौरासी" के सभी पद अत्यंत कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।

हितहरिवंश, हरिदास, रसखान

स्वामी हरिदास निंबार्क मतानुयायी थे, पर उन्होंने अपना अलग संप्रदाय खोला जो टट्टी संप्रदाय कहलाया। ये प्रसिद्ध गायक और कवि थे। अकबरी दरबार के प्रख्यात गायक तानसेन के और स्वयं अकबर के ये संगीतगुरु कहे जाते हैं। इनकी रचनाओं में संगीत की राग-रागिनियों का सुंदर समावेश हुआ है।

कृष्णभक्त कवियों के इस अभ्युत्थान-काल में हम अत्यंत सरस पदों के रचयिता सच्चे प्रेममग्न कवि रसखान को नहीं भूल सकते, जो विधर्मी होते हुए भी व्रज की अनुपम मधुरिमा

पर मुग्ध और कृष्ण की ललित लीलाओं पर लट्टू थे। जाति पाँति के बंधनों के बहुत ऊपर जो शुद्ध प्रेम का सात्विक बंधन है, रसखान उसी में बँधे थे। उनकी रचनाओं में व्रज भाषा का सरस और सानुप्रास प्रवाह मनोमुग्धकारी बन पड़ा है। हिंदी के मुसलमान कवियों में रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है। जायसी आदि की भाँति ये बाहर के मतों में लिप्त न रहकर भगवान् कृष्ण की सगुणोपासना में लीन हुए। यह उनके उदार हृदय का परिचायक और तत्कालीन भक्तिप्रवाह के सर्वतोव्यापी प्रसाद का द्योतक है।

पीछे के कृष्ण-भक्त

कृष्ण-भक्ति की कविता इस काल के उपरांत कम हो चली। अकबर के सुख-समृद्धि-पूर्ण साम्राज्य में कृष्ण की भक्ति को फूलने फलने का अवसर मिला था। अकबर की धर्मनीति विशेष उदार थी; अत: उसके शासनकाल में बिना किसी विघ्न-बाधा के अनेक धार्मिक संप्रदाय विकसित हुए थे। प्रत्येक संप्रदाय अपने इच्छानुसार उपासना कर सकता था और अपनी रुचि के अनुसार मंदिरों का निर्माण कर सकता था। जनता की समृद्धि से मंदिर-निर्माण में और भी सहायता मिली थी। परंतु अकबर के उपरांत परिस्थिति बदली। अकबर की भाँति सहृदयता और उदार मनोभावों-वाला दूसरा नृपति दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा। साथ ही धन-संपत्ति की वृद्धि से स्वभावत: विलास की ओर अधिक प्रेरणा मिली। हिंदी साहित्य भी अब अधिक प्रौढ़ हो चुका था। उपर्युक्त कारणों से साहित्य का प्रवाह धार्मिक क्षेत्र से निकलकर दूसरी ओर बहा। रीति-ग्रंथों और मुक्तक शृंगारिक

रचनाओं की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल के उपरांत कृष्णोपासना का क्रम एकदम से टूट गया और भक्ति काव्य की रचना सर्वथा बंद हो गई। ऐसा नहीं हुआ, शृंगार की वृद्धि में शुद्ध भक्ति एकदम खो नहीं गई। वल्लभाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में भक्तवर नागरीदास हुए जिनके रचे ७३ भक्ति-ग्रंथ मिले हैं। रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। इनके अतिरिक्त विष्णु स्वामी संप्रदाय में अलबेली अली नामक भक्त कवि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए। इनकी "समय प्रबंध पदावली" बड़ी ही सरस और भावपूर्ण रचना है। इन्हीं के समकालीन राधावल्लभी संप्रदाय में चाचा हितवृंदावनदास हुए जिनका पदों का विस्तृत संग्रह प्राप्त हुआ है। यद्यपि इनकी रचनाओं में बहुत से पुराने भक्तों के भाव आए हैं, पर इनकी इतनी अधिक कृतियों में मौलिक उद्भावनाएँ भी कम नहीं हैं। ब्रजवासीदास का प्रसिद्ध ग्रंथ "ब्रजविलास" प्रबंध-काव्य की शैली पर दोहे चौपाइयों में लिखा गया, पर इसमें इस काल की भक्ति का ह्रास बोल रहा है। ग्रंथ साधारण जनता में थोड़ी सी प्रसिद्धि पा सका। इसके अतिरिक्त सबलसिंह चौहान ने महाभारत का अनुवाद किया, पर उन्हें भक्त-कवि मानना ठीक न होगा।

आधुनिक युग भक्ति का नहीं है, परंतु ब्रज भाषा के कुछ कवियों ने कृष्णसंबंधी कविता की है। स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न के कुछ पदों में कृष्ण-भक्ति की अच्छी झलक देख पड़ी, पर उनकी असमय मृत्यु से वह अधिक उज्ज्वल न हो सकी। वर्तमान कवियों में वियोगी हरिजी के कुछ गद्य-

काव्यों में कृष्ण के प्रति सच्चा स्नेह देख पड़ता है। गद्य-काव्यों में ही नहीं, कुछ फुटकर पदों में भी इन्होंने भक्तों की भाँति अपने कृष्णानुराग की व्यंजना की है जो सुंदर भी हुई है। कुछ अन्य भक्त भी हैं; पर उनकी रचनाएँ साहित्यकोटि में नहीं आतीं। कृष्ण के जीवन के एक अंश को लेकर पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने "प्रियप्रवास" की रचना की है; पर उसमें कृष्ण में देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गई, वे महापुरुष मात्र माने गए हैं। श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने मधुसूदन दत्त के "विरहिणी-व्रजांगना" काव्य का हिंदी में अनुवाद किया है। उसमें राधा के विरह की तीव्र व्यंजना हुई है पर पुराने भक्तों ने जितनी तन्मयता के साथ कृष्णभक्ति के उद्गार व्यक्त किए थे, इन दिनों उसका अल्पांश भी कठिनता से देख पड़ता है।

कृष्णभक्ति काव्य का चरम उत्कर्ष सूरदास की रचनाओं में देख पड़ा। सूरदास अकबर के समकालीन थे। अकबर के शासनकाल में सभी कलाओं की अनेकमुखी उन्नति हुई थी। साहित्य और कविता पर अकबर का पर्याप्त अनुराग था। वे स्वयं व्रज भाषा की कविता करते थे। ऐसी अवस्था में उनके शासनसमय में साहित्य की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। केवल कृष्णभक्ति की कविता की उन्नति ही उस काल में नहीं हुई थी; वरन अनेक अन्य विषयों से संबंध रखनेवाली कविताओं का भी उस काल में विकास हुआ था। इस विकास को मुख्यत: दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक तो वह विकास जो अकबर के दरबार से संपर्कित होने के कारण उससे प्रत्यक्ष संबंध रखता है; और दूसरा वह

कृष्णभक्ति काल की अन्य रचनाएँ

जो देश और साहित्य की सामान्य अवस्थाओं के आधार पर हुआ, अतः जिसमें अकबर का हाथ प्रत्यक्ष तो नहीं देख पड़ता, हाँ दूर से भले ही कुछ संबंध ठहरे। पहली श्रेणी शृंगार और नीति के फुटकर रचनाकारों और कवियों की है और दूसरी में रीतिग्रंथ लिखनेवाले वे कवि आवेंगे जो अधिकतर संस्कृत के पंडित और राजदरबारी होते थे। पहले वर्ग के प्रतिनिधि कवि रहीम, गंग और नरहरि आदि और दूसरे के महाकवि केशवदास थे। इनके अतिरिक्त सेनापति आदि इसी काल के कुछ अन्य कवि हुए, जिन्हें पहले वर्ग में ही रखा जा सकता है, दूसरे में नहीं। इस अध्याय में कृष्ण-भक्ति की कविता के साथ साथ चलनेवाली उन कृतियों का उल्लेख भी हम करेंगे जिन्हें हमने उपर्युक्त पहले वर्ग में रखा है। दूसरे वर्ग के संबंध में हम अगले अध्याय में लिखेंगे क्योंकि वास्तव में उस वर्ग के कवियों का यह आविर्भाव-काल ही था, उसका विकास बहुत पीछे चलकर हुआ था।

ये अकबर के दरबार के उच्च कर्मचारी होते हुए भी हिंदी कविता की ओर खिंचे थे। नीति के सुंदर सुंदर दोहे इन्होंने

रहीम

बड़ी मार्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वैभव का अच्छा अनुभव करने के कारण रहीम की तत्संबंधी उक्तियों में तीव्र भावव्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद ठेठ अवधी के माधुर्य से समन्वित है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास तक ने इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरवै रामायण लिखी थी।

गोस्वामी जी की ही भाँति रहीम का अवधी और व्रज भाषाओं पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुईं। गोस्वामीजी से इनकी भेंट हुई थी और दोनों में सौहार्द भाव भी था। ये बड़े ही उदारहृदय दानी थे और इनका अनुभव बड़ा ही विस्तृत, सूक्ष्म और सत्य था।

गंग और नरहरि

ये दोनों ही अकबर के दरबार के श्रेष्ठ हिंदू कवि थे। गंग की शृंगार और वीर रस की जो रचनाएँ संग्रहों में मिली हैं, उनसे इनके भाषा-अधिकार और वाग्वैदग्ध्य का पता चलता है। जनता में इनका बड़ा नाम है, परंतु इनकी रचित एक भी पुस्तक अब तक नहीं मिली। "तुलसी गंग दोऊ भए सुकविन के सरदार" की पंक्ति इन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है। नरहरि वंदीजन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। ऐसा कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गोवध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक छंद लिखे।

बीरबल और टोडर

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्चातुरी तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे। इनके आश्रय में कवियों को अच्छा सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं व्रज भाषा में सरस और सानुप्रास रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनोहर, होलराय आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी व्रज

भाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। व्रज भाषा को इतना बड़ा राजसम्मान इसके पहले कभी नहीं मिला था।

दरबार से असंपर्कित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और अच्छे भक्त थे। पहले ये किसी दरबार में रहे हों तो रहे हों, पर जीवन के पिछले अंश में तो ये संन्यासी हो गए थे। इन्होंने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष तीव्र था। इनकी पिछले समय की भक्ति और विराग की रचनाएँ चित्त पर स्थायी प्रभाव डालती हैं। भाषा व्रज की ग्रामीण होते हुए भी अलंकृत है। इनका कवित्त-रत्नाकर अब तक अप्रकाशित है।

सेनापति

इसी काल की कृतियों में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरित्र" भी है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्वकाल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भावों की दृष्टि से, विशेष प्रौढ़ हो गई। इस काल में थोड़ी सी रचना गद्य में भी हुई; पर हिंदी में तब तक गद्य के विकास का युग नहीं आया था।

नवाँ अध्याय

रीति काल

जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंतःकरणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था। भक्ति के उस पावन स्रोत में कितनी ही छोटी बड़ी धाराएँ आ मिली थीं, जिनसे उसका प्रवाह अक्षय और वेग अप्रतिहत हो गया था। न जाने कितने भक्तों ने अपनी अंतरात्मा की पुकार को वाणीबद्ध करके हिंदी का अपार कल्याण किया और न जाने कितने हृदय मुरझाकर सूख जाने से बचे। भारतीय जन-समाज के उस घोर आपत्काल में भक्तों ने ही शांति और सांत्वना का विधान किया था और उन्हीं की उदारता तथा दूरदर्शिता के फलस्वरूप निराश और भग्नहृदय हिंदुओं में नवीन आशा और उत्साह आदि का संचार हुआ था। मुसलमानों का विजयगर्व बहुत कुछ कम हो जाने के कारण उनमें संयम तथा सहानुभूति का प्रादुर्भाव हो गया था। उस काल में जिन उत्कृष्ट आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, वे भक्त कवियों की अनुभूति और उदारता के परिणामस्वरूप थे। यही कारण है कि वे इतने सर्वमान्य और व्यापक हो सके थे। उन आदर्शों में उन कवियों और

भक्ति और रीति

महापुरुषों का जो जीवन छिपा हुआ है, वही उनका सत्य संदेश है। जब जिस साहित्य में अंतरात्मा की पुकार पर निर्माण का कार्य होता है, तब उसमें ऐसी ही दिव्य भावनाओं का आविर्भाव होता है, जिनसे साहित्य में उन्नत युग का आभास मिले बिना नहीं रह सकता।

उन संतों और भक्तों में इतनी नम्रता और विनयबुद्धि थी, वे इतने उदार और उन्नत-हृदय थे कि न तो संसार की माया-ममता उन्हें उनके पथ से डिगा सकती थी और न तुच्छ आकांक्षा ही उन्हें मोह सकती थी। जो कुछ उनकी आत्मा का संदेश था, जो कुछ वे कहने आए थे, उसे निर्भीक होकर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा। यही कारण है कि उनकी वाणी में बाह्य आडंबर बहुत कम है। क्या वर्णित विषय की दृष्टि से और क्या भाषा की दृष्टि से, सबमें एक निसर्गसिद्ध सौंदर्य और प्रवाह है जो मानस को रससिक्त कर देता है। यही कारण है कि "प्राकृत जन-गुन गान" से विरत होकर उन सभी कवियों ने "त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये" के अनुसार अपनी प्रतिभा और कृति-शक्ति को परमेश्वर की भक्ति में लगाया। वे सांसारिक धन-संपत्ति को कुछ नहीं समझते थे। कबीर जुलाहे थे और जुलाहे का व्यवसाय भी करते थे। सूर और तुलसी संसार के त्यागी महापुरुष थे। अन्य महात्मा भी संसार में लिप्त न थे। कुछ ने अकबर सदृश सम्राटों के निमंत्रण अस्वीकृत करके अपने महान् होने का परिचय दिया था। इन्हीं में अद्वितीय भावुक और सहृदय रसखान थे जिन्होंने "कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं" को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इसी

प्रकार के न जाने कितने महात्माओं के प्रसाद से हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि हुई थी और न जाने कितने सच्चे रसिकों की भक्ति काव्य-कला के साँचे में ढलकर समस्त उत्तर भारत का हृदय आप्लावित कर चुकी थी।

कबीर आदि संतों ने हिंदू और मुसलमानों की भेदबुद्धि को दूर करके सरल सदाचार-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया, जायसी आदि लौकिक प्रेम को स्वर्गीय बनाने के प्रयासी हुए, सूर आदि ने मधुर भावों से भावित कृष्ण-काव्य की रचना कर असंख्य हृदयों को हरा किया और तुलसी ने भारत की संस्कृति को बड़े ही व्यापक, मधुर और उदार भाव से अंकित कर हिंदू जाति का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। पर क्या उन्हें अपनी अपनी कृतियों का कुछ भी गर्व था? गर्व तो दूर रहा, वे कभी अपने वास्तविक महत्त्व की कल्पना भी न कर सके। उन महाकवियों ने अपने को भूलकर किसी अन्य की प्रेरणा से कविता की थी। निश्चय ही वह प्रेरणा स्वर्गीय थी। जायसी ने पद्मावत में अपने को पंडितों का "पछिलगा" बतलाया है और तुलसीदास ने कहा है "कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।" इसी प्रकार सभी विनीत भक्तों ने अपनी अयोग्यता की विज्ञप्ति की है। यह सब उस समय की बात है जब पंडितराज की उपाधि धारण करनेवाले संस्कृत के उद्भट कवि जगन्नाथ अपनी ही स्तुति में बहुत कुछ कह गए थे। हिंदी के उस विकास काल की यह मनोवृत्ति ध्यान देने योग्य है। यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य की तत्कालीन अट्टालिका इन विनीत और निरपेक्ष महात्माओं द्वारा रचित दृढ़ नींव पर ही खड़ी हुई थी।

जिस काल में ऐसे बड़े बड़े महात्माओं ने कवि-कर्म स्वीकार करके तल्लीनता की अवस्था में हृदय की रागिनियों का अमृतवर्षी आलाप किया था, और जिस काल में बड़े बड़े नृपतियों तक में उनके स्वर में स्वर मिलाने की साध उत्पन्न हुई थी, हिंदी साहित्य के उस काल की महिमा अपार है। उस काल में देश की सच्ची स्थिति को पहचाननेवाले पुरुषों ने आत्मप्रेरणा से स्वर्गीय साहित्य की सृष्टि की थी, उस काल में प्रकृति ने स्वयं कवियों की लेखनी पकड़कर उनके लिये काव्य रचा था। उस काल का साहित्य अलंकारों के अनपेक्षी, शब्दजालशून्य, सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, उसमें बाहर से बनाव श्रृंगार करने की चेष्टा नहीं की गई है, जो कुछ है वह आंतरिक है। कुछ आलोचकों की सम्मति में भारतीय कवि की यह विशेषता है कि उसे काव्य-कला का पंडित होना आवश्यक होता है, वह कविता संबंधी अनेक नियमों से बँधकर ही आत्मलाभ करता है। पर यह बात भारतीय कवि के लिये भी उतनी ही सत्य है जितनी अन्य देशीय कवि के लिये। यदि अन्य देशों में प्रतिभाशाली कवि काव्य संबंधी प्रचलित नियमों और प्रतिबंधों की अवहेलना करके स्वतंत्र रीति से कविता कर सकता है, तो भारत में भी उसे ऐसा करने का पूरा अवसर है। यूरोप में काव्य संबंधी विवाद जितने अधिक देख पड़ते हैं उतने भारत में नहीं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी के कबीर आदि कविता-कला से जितने अधिक अनभिज्ञ थे, संभवतः अन्य किसी देश का कोई कवि उतना अनभिज्ञ न होगा, फिर भी कबीर हिंदी के श्रेष्ठ कवियों में सम्मानित आसन के अधिकारी माने जाते हैं।

उपर्युक्त आलोचकों को कदाचित् यह बात भूल जाती है कि साहित्य की परंपरा में लक्षण ग्रंथों का निर्माण लक्ष्य ग्रंथों के सृजन के उपरांत उनका ही आधार लेकर हुआ करता है। पहले कविता की सृष्टि हो जाती है, पीछे उसके नियम आदि बनते रहते हैं। संस्कृत साहित्य में भी यही देखा जाता है और हिंदी में भी यही क्रम रहा है। साहित्य के प्रारंभिक युगों में अंत:करण की प्रेरणा से अत्यंत सरल और अलंकार-निरपेक्ष शैली में काव्य-रचना होती है, पीछे से ज्यों ज्यों अधिकाधिक रचनाएँ होती जाती हैं और जैसे जैसे काव्य-चर्चा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे कविता संबंधी नियम बनते जाते हैं। यह प्रवृत्ति केवल इसी देश में नहीं, प्राय: सभी देशों के साहित्यों में पाई जाती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस देश की प्रवृत्ति वर्गीकरण श्रेणी-विभाजन आदि की ओर अधिक थी, इस कारण यहाँ के काव्य संबंधी नियम भी विशेष सूक्ष्म और जटिल हो गए हैं; एवं पीछे के साहित्यकारों और कवियों ने उन नियमों का शासन स्वीकार कर अपनी कृतियों को उन्हीं का अनुयायी बनाया है। ऐसा करने से उनकी भाषा में प्रांजलता तथा आलंकारिकता तो आ गई है, पर कविता का जो सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य, जीवन के गंभीर तत्त्वों को सुलझाना तथा हृदयंगम करना है, वह भुला दिया गया है। इससे कविता में बाह्य सौंदर्य की वृद्धि हुई है पर उसकी आत्मा संकुचित होती गई है।

हिंदी में भी सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्यरीति

का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्य-कलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदास जी ने अपनी अन-भिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य रीति का सूक्ष्म-तम अभिज्ञान दिखाया है। अंतर इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक ऋतुवर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीतिग्रंथ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिंदी साहित्य के इस काल को हम इसी लिये रीति-काल कहते हैं।

रीति काल का आरंभ

रीति ग्रंथकार कवियों का स्वरूप ठीक ठीक समझने के लिये उनके आविर्भाव काल की परिस्थितियों पर ध्यान देना होगा। भक्ति काल के अंतिम चरण में कृष्णभक्ति की कविता की प्रधानता थी। कवियों में अधिकांश ब्रज भाषा के मुक्तक छंदों तथा गीतों के द्वारा कृष्ण की ललित लीलाओं के वर्णन

की परिपाटी चली थी। कृष्ण और राधा के सौंदर्य-वर्णन में भक्त कवियों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। प्रेम और विरह लीला और हास आदि का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन भक्त कवियों ने किया था। वह यद्यपि उनके पवित्र हृदय से निस्सृत होने के कारण पूत भावनाओं से समन्वित था, पर साधारण पाठकों की लौकिक दृष्टि में उसमें श्रृंगारिकता ही अधिक प्रतीत होती है। राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करके यद्यपि भक्त और भगवान् के संबंध की व्यंजना की गई थी, पर उस तथ्य को समझकर ग्रहण कर सकना सबका काम नहीं था। इसके अतिरिक्त राजदरबारों में हिंदी कविता को अधिकाधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्णभक्ति की कविता को अध:पतित होकर वासनामय उद्गारों में परिणत हो जाने का अधिक अवसर मिला। तत्कालीन नरपतियों की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिये कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिंदी के कवियों ने कलुषित प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ कीं। जनता में भी कृष्ण-भक्ति के नाम पर मनमानी लीलाएँ करने की प्रवृत्ति बढ़ी, जैसा कि वल्लभाचार्यजी की परंपरा का वर्णन करते हुए ऊपर कहा जा चुका है। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीतिकाल की कविता श्रृंगाररसमयी हो गई और अन्य प्रकार की कविताएँ उसके सामने दब सी गईं।

परंतु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि श्रृंगाररस सर्वथा निंद्य ही है, अथवा उस काल के सभी कवियों में प्रेम और सौंदर्य की निसर्गसिद्ध पवित्र उद्भावना करने की शक्ति ही नहीं रह गई थी। श्रृंगाररस के मुक्तक पद्य यद्यपि अधिकतर

अलंकारों और नायिकाओं के उदाहरण स्वरूप ही लिखे गए और यद्यपि लिखने का लक्ष्य भी अधिकतर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था, तथापि कुछ कवियों की कृति में शुद्ध प्रेम के ऐसे सरस छंद मिलते हैं, ऐसे सौंदर्य की पवित्र विवृति पाई जाती है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वे कवि शुद्ध आंतरिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश से कविता करते थे। यह ठीक है कि अधिकांश कवियों ने सौंदर्य को केवल उद्दीपन मानकर नायक नायिका के रति-भाव की व्यंजना की है, पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने रीति के प्रतिबंधों से बाहर जाकर स्वकीय सुंदर रीति से सौंदर्य की वह सृष्टि की है जो मनोमुग्धकारिणी है।

रीति काल की भाषा

भक्ति काल के कवियों में कबीर आदि संतों की भाषा बिलकुल शिथिल और अव्युत्पन्न थी। प्रेमगाथाकारों की भाषा अवध की ग्रामभाषा थी जिसमें साहित्यिकता का पुट प्रायः नहीं के बराबर था। कृष्णभक्त कवियों में सूर की भाषा व्रज की चलती भाषा थी और नंददास तथा हितहरिवंश ने संस्कृत के सम्मिश्रण से व्रज भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयास किया था। एक महात्मा तुलसीदास ही ऐसे थे जो हिंदी की संपूर्ण शक्ति को लेकर विकसित हुए और व्रज तथा अवधी पर समान अधिकार रखते थे। प्रसंगानुसार साहित्यिक और ग्रामीण प्रयोगों में जैसी उनकी पटुता थी हिंदी में उसकी कहीं समता नहीं मिलती। रीति काल में भाषा भी रीतिग्रस्त हो गई। कोमल कांत पदावली को चुन चुनकर, कर्कशता का सप्रयास बहिष्कार कर, कितने ही अप्रयुक्त शब्दों

को अपनाकर जिस भाषा-परिपाटी की प्रतिष्ठा की गई, वही समस्त रीति काल में चलती रही और आज भी व्रज भाषा के कवि उसका निर्वाह उसी प्रकार करते चले जाते हैं। साहित्य की व्रज भाषा रीति की लीक पर चलनेवाली भाषा है और व्रज प्रांत की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। उसका निर्माण जिस परिस्थिति में हुआ, उससे उसमें कोमल कांत पदावली की अतिशयता ही रही—कटु, तिक्त, कषाय आदि के उपयुक्त महाप्राणता न आकर वह अधिकतर सुकुमार ही बनी रही। कमल, कदली, मयूर, चंद्र, मदन आदि के लिये उसमें जितने काव्यप्रयुक्त शब्द हैं, वे सब कोमलता-समन्वित हैं। व्रज भाषा की माधुरी आज भी देश भर में प्रसिद्ध है।

परंतु भाषाशास्त्र तथा व्याकरण के नियमों के अनुसार व्रज भाषा अथा अवधी के जो सूक्ष्म विभेद हैं, उन पर बहुत अधिक ध्यान कभी नहीं दिया गया। महाकवि सूरदास की व्रज भाषा में भी अवधी के ही नहीं पंजाबी और विहारी तक के प्रयोग हैं। और तो और स्वयं गोस्वामीजी की भाषा भी भाषाशास्त्र के जटिल नियमों का पालन नहीं करती। भाषा को जटिल बंधनों से जकड़कर उसे निर्जीव कर देने की जो शैली संस्कृत ने ग्रहण की थी, हिंदी उससे बची रही। यही कारण है कि रीति काल में कवियों की भाषा बहुत कुछ बँधी हुई होने पर भी बाहरी शब्दों को ग्रहण करने की स्वतंत्रता रखती थी। भाषा को जीवित रखने के लिये यह क्रम परम आवश्यक था। इस स्वतंत्रता के परिणाम स्वरूप अवधी और व्रज का जो थोड़ा बहुत सम्मिश्रण होता रहा, वह रीति काल के अनेक प्रतिबंधों के रहते भी बहुत ही आवश्यक था, क्योंकि

उतनी स्वतंत्रता के बिना काम भी नहीं चल सकता था। यहाँ हमको यह भी स्वीकार करना होगा कि रीति काल के अधिकांश कवियों ने शुद्ध व्रज भाषा का प्रयोग किया है, एवं जिन कवियों पर अवधी का प्रभाव है, उन्होंने भी कबीर की सी खिचड़ी भाषा कदापि नहीं लिखी।

साहित्यिक समीक्षा

रीति काल के कवियों का साहित्य में क्या स्थान है, इसकी समीक्षा कवित्व की दृष्टि से भी की जा सकती है, और आचार्यत्व की दृष्टि से भी। कवित्व की दृष्टि से समीक्षा करने में हमारी कसौटी ऐसी होनी चाहिए जिस पर हम संसार भर के साहित्य को कसकर परख सकें और उसके उत्कर्षापकर्ष का निर्णय कर सकें। स्थायी साहित्य जीवन की चिरंतन समस्याओं का समाधान है। मनुष्य मात्र की मनोवृत्तियों, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं और उनके भावों, विचारों का वह अक्षय भांडार है। मनुष्य-जीवन एकमुख नहीं, सर्वतोमुख है; उसके अनेक विभाग और अनेक प्रकार हैं। वह इतना अज्ञेय और गहन है कि उसके रहस्यों को समझ सकना सरल काम नहीं। साहित्य हमारे सामने जीवन की इन्हीं विविध, अज्ञेय एवं गहन समस्याओं का चित्र रखता है, अतः वह भी बहुत कुछ वैसा ही है। उसमें एक ओर तो मानव समाज के उच्चाति उच्च लक्ष्यों और आकांक्षाओं की झलक रहती है और दूसरी ओर उसकी वास्तविक परिस्थितियों, उसके सुख दुःख और उत्थान पतन का चित्र रहता है। कौन कह सकता है कि परिस्थितियाँ कितनी हैं? उसी प्रकार लक्ष्यों, उद्देशों, आकांक्षाओं और आदर्शों की भी क्या गणना है? सब

मिलकर साहित्य जीवन की असीमता का प्रतिबिंब बन जाता है। उसमें असंख्य आदर्शों के साथ अपार वस्तु-स्थिति मिल-कर उसे निस्सीम बना देती है। साधारण से साधारण से लेकर महान् से महान् भावनाओं के लिये उसमें स्थान है, उसकी सीमा में सब कुछ आ सकता और समा सकता है। जिस जाति का साहित्य जितना अधिक विस्तृत और पूर्ण होगा, उसमें उतने ही विस्तृत और पूर्ण जीवन के विकास की संभा-वना रहेगी। साहित्य की इस व्यापक भावना को हम सम-न्वयवाद कह सकते हैं।

इस साहित्यिक समन्वय में रीति काल के शृंगारी कवियों का अलग स्थान है, यह पहले ही स्वीकार करना पड़ेगा। उन कवियों का लक्ष्य भक्त कवियों की भाँति कुछ विशिष्ट उच्च आदर्शों पर नहीं था, परंतु गार्हस्थ्य जीवन के सुख सौंदर्य आदि पर उनकी दृष्टि टिकी थी और स्त्री पुरुष के मधुर संबंध की ओर उनका ध्यान खिंचा था। यह ठीक है कि गार्हस्थ्य जीवन का जो रूप उन्होंने देखा, वह न तो संपूर्ण था और न उत्कृष्ट ही, और यह भी ठीक है कि स्त्री पुरुष के संबंध की मधुरता का उन्हें सम्यक् परिचय नहीं था, तथापि फुटकर पदों में ही खंड-चित्रों को अंकित करके और प्रेम तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति की यथाशक्ति चेष्टा करके उन्होंने जीवन के पारिवारिक पक्ष पर अच्छा प्रकाश डाला। इस दृष्टि से उनका काव्य-क्षेत्र सीमित अवश्य था, पर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे सौंदर्य-प्रेमी कवि थे, यद्यपि रीतियों में जकड़े रहने के कारण उनका सौंदर्य-प्रेम प्रांजल और पवित्र नहीं हो पाया था। कहीं कहीं तो उसमें अश्लीलता भी आ

गई थी। परंतु तत्कालीन स्थिति का विचार करते हुए और यह समझते हुए कि उन्होंने अपनी भावनाओं का कलुष राधा-कृष्ण को ही अर्पण कर बहुत कुछ पाप-परिहार कर लिया था, उन्हें क्षमा कर देना पड़ेगा।

यद्यपि यह निश्चित है कि स्थायी साहित्य में रीति काल के सौंदर्योपासक और प्रेमी कवियों का स्थान अमर है, पर अमर साहित्य के वर्गीकरण में वे किस कक्षा में रखे जायँ यह विचारणीय है। प्रबंध और मुक्तक की दृष्टि से स्थायी साहित्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता। यह ठीक है कि प्रबंध के भीतर से जीवन के व्यापक तत्त्वों पर कवि-दृष्टि के ठहरने की अधिक संभावना रहती है; परंतु मुक्तक इसके लिये बिलकुल अनुपयुक्त हो, यह बात नहीं है। हिंदी के भक्त कवियों ने फुटकर गीतों से और उमर खैयाम ने मुक्तक रुबाइयों की सहायता से जीवन के चिरंतन सत्यों की जैसी मार्मिक व्यंजना की है, वह मुक्तक काव्य के महत्त्व को प्रत्यक्ष कर देती है। अँगरेजी के श्रेष्ठ कवियों के लीरिक्स भी इसके उदाहरण हैं। हमें यदि श्रेणी विभाग करने को कहा जाय तो हम कवियों की कृतियों की परीक्षा करते हुए यह पता लगावेंगे कि जीवन के जिस अंग को लेकर वे चले हैं, वह सत्य है या नहीं, महत्त्वपूर्ण है या नहीं। सत्य और महत्त्वपूर्ण होने के लिये जीवन का अनुभव करने, उसके रहस्य समझने, उसके सौंदर्य का साक्षात्कार करने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता होगी। कवि को तमाशाई न बनकर बाहर से उछलकूद करने की आवश्यकता नहीं है, उसे जीवन के रंगमंच का प्रतिभाशाली नायक बनकर अपना कार्य करना

पड़ता है। जितनी सरलता, स्पष्टता और सुंदरता के साथ
वह यह कार्य कर सकेगा, उतनी ही सफलता का अधिकारी
होगा। जब तक कवि जीवन-सरिता में अवगाहन न कर
बाहर से उसके घाटों की शोभा देखता रहेगा, तब तक उसकी
रचना न संगत ही हो सकेगी और न महत्त्वपूर्ण। घाटों की
शोभा देखने से उसे इंद्रिय-सुख भले ही प्राप्त हो, पर वह
सुख न मिलेगा जिसे आत्मप्रसाद या परनिवृत्ति कहते हैं।
ऐसा करके वह कुछ समय के लिये साहित्य की परीक्षा-समिति
से सफलता का सम्मति-पत्र भले ही पा जाय, पर जब सैकड़ों
वर्षों के अनंतर जीवन संबंधी मौलिक संदेश सुनानेवालों और
उसके सच्चे सौंदर्य को प्रत्यक्ष कर दिखानेवालों की खोज होने
लगेगी, तब उसे कौन पूछेगा? साहित्य की जाँच की यही
सर्वोत्तम कसौटी है। रीति काल के अधिकांश कवियों को
बँधी हुई लीक पर चलना पड़ा, उन्हें अपनी ही बनाई हुई
सीमा में जकड़ जाना पड़ा। साहित्य का उच्च लक्ष्य भुला
दिया गया। तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृंखल निरंकुश
और उद्दाम हैं, उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएँ कलुषित
प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं तो कहीं सौंदर्य और प्रेम के मर्म-
स्पर्शी उद्गार अतिशयोक्ति और बात की करामात से घिरे हैं।
कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब
गई है तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना भानमती का पिटारा
दिखला रही है। जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो,
कविता केवल दिलबहलाव के लिये गपशप या ऐयाशों की
बहक की हुँकारी हो। यह सब होते हुए भी कुछ प्रतिभा-
शाली कवियों की कृतियाँ रीति की सामान्य शैली से बहुत

ऊपर उठकर मुक्तक छंदों में जैसी सुंदर और तीव्र भावव्यंजना करती हैं उससे कवियों के हार्दिक आंदोलन का पता लगाया जा सकता है। कुछ कवियों ने प्रेम के सूक्ष्म तत्त्वों का निरूपण भी किया है, केवल विभाव, अनुभाव आदि का अतिक्षुण्ण रूप खड़ा करके रसनिष्पत्ति की चेष्टा ही नहीं की है। ऐसे कवियों का स्थान सौंदर्यस्रष्टा मौलिक साहित्यकारों के बीच में चिरकाल तक रहेगा, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि सौंदर्य-सृष्टि करने में अन्य देशों के श्रेष्ठ कवियों ने जिस सूक्ष्म दृष्टि और स्वायत्त शक्ति का परिचय दिया है, वह रीति काल के हिंदी कवियों में बहुत अधिक मात्रा में नहीं मिलती।

भाषा और छंद आदि की दृष्टि से भी रीति काल के कवि बहुत नीचे नहीं गिरते। व्रज भाषा का जो साहित्यिक रूप निर्मित हुआ था, उसमें अनुभूयमान कोमलता और सुकुमारता उन्हीं कवियों के प्रयास का फल था। इस प्रकार की कोमलता और सुकुमारता को हम सर्वथा हेय ही समझते हों, यह बात नहीं है। शृंगार रस का पल्ला पकड़कर गार्हस्थ्य जीवन के जैसे सुंदर और सुकुमार चित्र उन्हें उतारने थे, उसके उपयुक्त भाषा का स्वरूप स्थिर करना कवियों की प्रतिभा का ही परिचायक है। इनके कारण छंदों में भी अच्छी प्रौढ़ता और परिष्कृति आई है। बिहारी ने दोहा छंद को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। देव और पद्माकर के कवित्त तथा मतिराम के सवैए गठन की दृष्टि से अद्वितीय हुए हैं। पीछे से छंदों की भी रीति बँध गई और अन्य छंदों में प्रायः कुछ भी रचना नहीं हुई। केशव आदि कुछ कवियों ने विविध छंदों के प्रयोग की चेष्टा की, पर उन्हें माँजने में वे भी समर्थ नहीं हो सके।

ऊपर हमने वर्णित विषय और भाषा की दृष्टि से रीति काल के कवियों की जो समीक्षा की है, वह इस युग के आलोचकों को भले ही रुचिकर हो अथवा वह व्यापक दृष्टि से साहित्य का विश्लेषण भले ही समझी जाय, पर उससे रीति काल के कवियों ने जिन नियमों और प्रतिबंधों को स्वीकार-कर कविता की थी तथा काव्य के संबंध में उनकी जो धारणा थी, उसका परिचय नहीं मिलता। जब हम इस प्रकार अपनी कसौटी पर दूसरों को परखते हैं तब हमारी कसौटी चाहे जितनी खरी हो, हम दूसरों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकते। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के साहित्य की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। सामान्य रीति से यद्यपि साहित्य शब्द के अंतर्गत सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता की भावना रहती है, पर समयानुक्रम से आए हुए अनेक नियमों और काव्य-रीतियों का पालन भी सभी देशों के साहित्यकारों के लिये आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष के मध्यकालीन संस्कृत कवियों पर संस्कृत के रीति ग्रंथों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि हम उनकी विवेचना तभी कर सकते हैं जब अलंकार शास्त्रों का अध्ययन करके हम उन कवियों की विशेषताओं को समझें। संस्कृत में काव्य-संबंधी इतने विभिन्न प्रकार के वाद-प्रवाद चले और उनके अनुसार चलनेवाले कवियों ने उनका इतने कट्टरपन से पालन किया कि काव्य समीक्षक को उन सभी कवियों की रचना-शैलियों आदि का अनुसंधान करना आवश्यक ही नहीं, अनि-वार्य भी हो जाता है। हिंदी के रीति काल के कवियों ने

आचार्यत्व

भी संस्कृत के अलंकार शास्त्र का अनुसरण कर तथा थोड़ी बहुत स्वतंत्र उद्भावना कर जो रचनाएँ की हैं, उनको हम ठीक ठीक तभी समझेंगे जब संस्कृत के विभिन्न काव्यसमीक्षक संप्रदायों का अन्वेषण कर यह देख लेंगे कि हिंदी के किन कवियों ने किस संप्रदाय का किस सीमा तक अनुसरण किया है। नीचे अति संक्षेप में संस्कृत कविता के विकास के साथ काव्यसमीक्षा-संप्रदायों के विकास का भी इतिवृत्त लिखा जाता है।

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकीय रामायण सर्वसम्मति से आदि काव्य स्वीकार किया जाता है। उसकी रचना के पूर्व यदि कविता हुई होगी तो वह अब प्राप्त नहीं है। वेदों को काव्य ग्रंथ नहीं कह सकते, भारतीय परंपरा के अनुसार वे काव्य ग्रंथ हैं भी नहीं। वाल्मीकि के उपरांत यदि हम संस्कृत के प्रधान कवियों का अनुसंधान करें तो भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ आदि मिलेंगे। इनमें से कुछ नाटककार तथा कुछ काव्यकार थे। नाटककार भी भारतीय समीक्षा में कवि ही माने गए हैं, यद्यपि उनके स्वतंत्र पथ का निर्देश अवश्य कर दिया गया है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र की समीक्षा

हम यदि वाल्मीकि की रामायण की तुलना पिछले कवियों की रचनाओं से करें तो प्रत्यक्ष अंतर देख पड़ेगा। उदाहरणार्थ यदि वाल्मीकीय रामायण को कालिदास के रघुवंश से मिलाकर देखें तो वाल्मीकि में कथा कहने की अधिक प्रवृत्ति, घटनाओं का अधिक उल्लेख, वर्णन की अधिक सरलता मिलेगी और कालिदास में उपमाओं की अधिक योजना, छंदों का

अधिक सौष्ठव और अलंकरण की अधिक प्रवृत्ति देख पड़ेगी। कालिदास का प्रत्येक छंद हीरे की कनी की तरह चमक उठता है, उनका समस्त काव्य सुंदर हार सा है। इसके विपरीत वाल्मीकीय रामायण वह वेगवती सरिता है जो स्वच्छंद तथा अप्रतिहत गति से बहती हुई उज्ज्वल देख पड़ती है। कालि-दास से और आगे बढ़कर जब हम माघ के शिशुपालवध को देखते हैं तो उसमें कथा और घटना बिलकुल गौण पाते हैं; केवल वर्णनसौंदर्य ही हमें आकृष्ट करता है। कविता अपना अलग उद्देश्य रखने लगी है, उसके अलग नियम बन गए हैं, अलग साज-बाज हो गए हैं। शैली चमत्कारपूर्ण हो गई है। अलंकार अपने अपने स्थान पर पहना दिए गए हैं और सब कुछ रीतिबद्ध सा हो गया है।

जब हम संस्कृत काव्य की इस क्रमोन्नति के कारणों की खोज करते हैं, तब काव्य समीक्षा संबंधी शास्त्रों और अलं-कार ग्रंथों की शरण लेनी पड़ती है।

रस-संप्रदाय

संस्कृत में काव्य-समीक्षा का सबसे प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्राप्त ग्रंथ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। यद्यपि इसके नाम से ही यह पता लगता है कि इसकी रचना नाट्य कला को ध्यान में रखकर हुई होगी, और इसमें रूपकों के विविध अंगों का विस्तृत वर्णन मिलता भी है, पर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, संस्कृत में नाटक भी काव्य की ही एक शाखाविशेष है, अतः काव्य के विवेचन के अंतर्गत ही नाटकों का विवेचन भी आता है। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का महत्त्व हम इतने ही से समझ सकते हैं कि उनके प्रतिपादित सिद्धांतों का नाट्य साहित्य में तो अक्षरशः पालन

किया गया है, अन्य काव्यों में भी उसके विधिनिषेध माने गए हैं। उसके कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसका उल्लेख करते हैं और ऋषिप्रणीत ग्रंथ की भाँति उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। आज भी नाट्यशास्त्र संसार के काव्य-समीक्षक ग्रंथों में अपना प्रतिष्ठित स्थान रखता है।

नाट्यशास्त्र की "रस-शैली" जगत्प्रसिद्ध है। संपूर्ण भारतीय साहित्य में "रस" संबंधी उसकी विवेचना स्वीकृत की गई है। यदि कहें तो कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र के रस-निरूपण का मूल सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र को समझाने की चेष्टा अनेक आचार्यों ने अपने अपने ढंग से की है। यहाँ हम बहुत संक्षेप में कुछ प्रधान बातें कहेंगे। हमारे चित्त में वासना रूप से अनेक स्थायी भाव अंतर्हित रहते हैं। कविता उन्हें उत्तेजित कर हमारे हृदय में एक प्रकार के अलौकिक आनंद का उद्रेक करती है। उत्तेजना के लिये विभाव, अनुभाव और संचारियों का उपयोग किया जाता है। नाटकों में अभिनय तथा शब्दों द्वारा तथा काव्य में केवल शब्दों द्वारा उत्तेजना का आयोजन किया जाता है। स्थायी भावों की संख्या नाट्यशास्त्र में आठ या नौ मानी गई है। रति, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, हास, विस्मय (और शम) इन्हीं से क्रमशः शृंगार, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स, हास्य, अद्भुत (और शांत) रसों की निष्पत्ति होती है। इन रसों का काव्य में या नाटक में ज्ञेय नहीं प्रत्युत अज्ञेय रीति से विभाव

अनुभाव आदि की अनुभूति या अनुगम से उसी प्रकार उद्रेक होता है जिस प्रकार चित्र के रंगों की सहायता से वास्तविकता की अनुरूपता उत्पन्न होती है। नाटकों में नायक नायिका तथा उनकी चेष्टाएँ विभाव के अंतर्गत आती हैं। कुछ अनुभाव सात्विक भाव भी कहलाते हैं। सात्विक का अर्थ है शरीरजन्य। रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य आदि शरीरधर्म हैं। संचारी या व्यभिचारी भाव अनेक हैं। वे क्षणिक होते हैं और स्थायी भावों को पुष्ट करने में सहायता पहुँचाते हैं। नाट्यशास्त्र में उनकी संख्या तेंतीस कही गई है, पर साधारणतः वे प्रायः अपरिमित हैं।

रस-पद्धति के संबंध में यह विवाद सबसे अधिक अनिर्णीत है कि रस-निष्पत्ति किसके आधार से होती है। अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के विरुद्ध लोल्लट आदि का कथन है कि रस के आधार नायक और नायिका आदि हैं जो राम सीता आदि के रूप में अभिनय करते हैं। सामाजिक गण उन अभिनेताओं में राम और सीता की अनुकृति ही नहीं देखते—वे भावमग्न होकर उन्हें राम और सीता समझ लेते हैं। परंतु यह मत पिछले आलोचकों को स्वीकार नहीं है। वे सामाजिकों को ही रसग्राही मानते हैं, उन्हीं के हृदय में रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र भी ठीक बैठता है। रस ही काव्य की आत्मा है यह भरत तथा उनके अनुयायियों का मत है। धनंजय आदि पीछे के शास्त्रकारों ने भरत के ही अनुकरण पर ग्रंथरचना की है और "रस" को काव्यात्मा प्रतिपादित किया है।

परंतु भरत के उपरांत अलंकारशास्त्रियों की नई नई शैलियाँ निकलीं जिनमें विभिन्न दृष्टियों से काव्य-समीक्षा की गई। समयानुक्रम से सबसे प्रथम भामह का काव्यालंकार ग्रंथ आता है। भामह ने अपने ग्रंथ में अलंकारों की जो जो विशिष्टता प्रतिपादित की है उसे लेकर दंडी, रुद्रट आदि पीछे के आचार्यों ने अलंकारों को काव्यात्मा बतलाया और वे काव्य में अलंकार-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक बने। इन आचार्यों ने यद्यपि रस-संप्रदाय का परिचय प्राप्त किया था, पर वे रस-पद्धति को नाटकों के उपयुक्त समझते थे। सामान्य काव्य ग्रंथों में वे अलंकारों को ही प्रधान स्थान देने के पक्ष में थे। उनकी सम्मति में रस आदि अलंकारों से गौण हैं, एवं ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण भी अलंकार ही हैं। इन ग्रंथों में प्रायः दो सौ अलंकारों का विवरण दिया गया है। कुछ विवेचकों ने भ्रमवश भामह को ध्वन्यभाववादी ठहराया है; पर यह निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि न तो उन्होंने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग किया है और न वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते थे। वे ध्वनि को नहीं किंतु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का मूल मानते थे। अलंकारवादियों के इस संप्रदाय का हिंदी के आचार्य कवि केशवदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अलंकार-संप्रदाय

दंडी के उपरांत संस्कृत में एक नवीन समीक्षा-संप्रदाय के संस्थापक वामन हुए जिन्होंने रीति-पद्धति की स्थापना की। उनके ग्रंथ काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का

रीति-संप्रदाय

उल्लेख है। गुणों का विवेचन बहुत पहले से हो चुका था, स्वयं भरत मुनि के नाट्यशास्त्र तथा रुद्रदामन् के शिलालेख में दस गुणों का उल्लेख है, पर उनमें गुणों को गौण स्थान ही मिला है। वामन ने गुणों को अलंकारों से अलग कर मानों दंडी के भ्रम का संशोधन सा किया। उसने रीति को काव्य की आत्मा बतलाया। रीति शब्दों के नियमित और संघटित प्रयोग को कहते हैं। गुणों के अस्तित्व से ही रीति की प्रतिष्ठा होती है। उसने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों का विवरण दिया है और वैदर्भी रीति में दसों गुणों का समावेश माना है। अलंकार-संप्रदायवालों ने भ्रम में पड़कर अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया था, इस संबंध में रीतिसंप्रदायवालों के अवश्य अधिक उचित तथा उन्नत विचार हैं। वे गुणों को काव्य की आत्मा मानते थे यद्यपि गुणों का तत्त्व वे वास्तविक रूप में नहीं समझ सके थे। वास्तव में गुण तो रससिद्धि के साधन हैं। यह बात पीछे से ध्वनि-संप्रदायवालों ने समझी। विभिन्न रसों के उपर्युक्त गुणों का वर्गीकरण और निर्धारण भी रीति संप्रदाय के आचार्यों ने किया था।

वक्रोक्ति-संप्रदाय

इसी काल के लगभग वक्रोक्ति-संप्रदाय नामक एक नवीन समीक्षा-शैली की उत्पत्ति हुई जो बहुत कुछ अलंकार-संप्रदाय के अनुकरण पर थी। उसे हम अलंकार-संप्रदाय के अंतर्गत ही मानना उचित समझते हैं। वक्रोक्ति को रुद्रट केवल शब्दालंकार मात्र मानते हैं और उसके काकु और श्लेष नामक दो विभाग करते हैं। मम्मट आदि भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं पर

रुय्यक वक्रोक्ति को अर्थालंकार बतलाते हैं। केवल वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतल ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व माना है। उनकी सम्मति में वक्रोक्तिरहित साधारण कथन काव्य नहीं है। कवि वस्तुओं के संबंध का अभिव्यंजन जो कुछ चमत्कार और बाँकेपन के साथ करता है वही वक्रोक्ति है। कुंतल ने ध्वनि आदि काव्य के समस्त उपादानों को वक्रोक्ति में ही खपा दिया है। कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा ठहराना वक्रोक्ति-जीवितकार का वैसा ही आग्रह है जैसा अलंकार-संप्रदायवालों का अलंकार को काव्य का प्रधान स्वरूपाधायक बतलाना।

ध्वनि-संप्रदाय

पंचम मुख्य संप्रदाय ध्वन्यालोककार का है। वास्तव में यह रस-संप्रदाय का ही एक व्यावहारिक रूप है जो अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर नियुक्त करता है। रस-प्रणाली का प्रयोग विशेषकर नाटकों के उपयुक्त है; क्योंकि रसनिष्पत्ति के लिये जिस लंबे प्रबंध की आवश्यकता होती है वह मुक्तक काव्य में नहीं मिल सकता। इस प्रकार फुटकर पदों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा करने के लिये रस-संप्रदाय किसी पथ का निर्देश नहीं करता। ध्वनि-संप्रदाय के आविर्भाव का एक उद्देश्य यह भी था। ध्वन्यालोक के अनुसार सत्काव्य में चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। रस-ध्वनि में नौ रस ही नहीं, सभी भाव और भावाभास आदि भी आ जाते हैं। वस्तुध्वनि द्वारा कोई वस्तु व्यंग्य होती है। अलंकारध्वनि भी वास्तव में वस्तुध्वनि है, केवल वह

वस्तु अलंकार के रूप में होती है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में यह कह देता है कि जिस काव्य से रससिद्धि नहीं होती वह निष्प्रयोजन है। इस प्रकार वह रस-संप्रदाय से अपना घनिष्ठ संबंध बतलाता है। साथ ही वह अलंकारों गुणों आदि को रसोत्पादन में सहायक मात्र मानकर उनके गौण स्थान को स्पष्ट करता है। अब ध्वनि-संप्रदाय काव्य-समीक्षा की सर्वमान्य शैली हो गई है; पर पहले इसे अपनी स्थिति निर्धारित करने में प्रतिहारेंदुराज, कुंतल तथा महिमभट्ट आदि अनेक विद्वानों के कठिन विरोध का सामना करना पड़ा था।

हिंदी में रीति

हिंदी में जिस समय रीति ग्रंथों का निर्माण प्रारंभ हुआ था, उस समय संस्कृत के ये सभी संप्रदाय बन चुके थे और साहित्य के विद्यार्थियों के सामने थे। वास्तव में अलंकार-शास्त्रियों ने काव्य संबंधी समीक्षा को अपने अपने सिद्धांतों के अनुसार वैज्ञानिक भित्ति पर खड़ा किया था, उसमें नवीन उद्भावना या भ्रम-संशोधन के लिये जगह नहीं थी। केवल रुचिविभेद के अनुसार साहित्यसेवियों को अपना अपना मार्ग ग्रहण करना और उस पर चलना था। मार्ग-स्थापन का कार्य पहले ही हो चुका था। हिंदी में जो रीति-ग्रंथ लिखे गए, उनमें से अधिकांश में संस्कृत रीति-ग्रंथों की नकल की गई। अधिकांश अलंकार-शास्त्रियों ने रस और ध्वनि-संप्रदायों का अनुसरण किया, पर आचार्य केशवदास अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे। रसों में शृंगार रस को ही प्रधानता मिली। यह तत्कालीन परिस्थिति का परिणाम था। शृंगार के आलंबन नायक-नायिका हुए जिनके अनेक भेद विभेद किए गए।

उद्दीपन के लिये षड्ऋतु वर्णन आदि की प्रथा चली। अति-शयोक्ति का आश्रय भी बहुत अधिक लिया जाने लगा। हिंदी के रीतिकारों की ये प्रधान विशेषताएँ हैं। परंतु इस काल के रीतिकारों में अनेक लोग सच्चा कविहृदय रखते थे, अतः उनके उद्गारों में हार्दिक अनुभूति की मर्मस्पर्शिता मिलती है जो केवल रीति की लीक पीटनेवालों में नहीं मिल सकती। ऐसे कवियों की सौंदर्य-सृष्टि विशेष प्रशंसनीय हुई है।

हिंदी की आचार्य-परंपरा जब से रीति की ओर झुकी तब से कविता बहुत कुछ रीति-सापेक्ष हो गई और उसके समझने समझानेवाले भी रीति-ग्रंथों के विशेषज्ञ होने लगे। कविता की उत्तमता की कसौटी बदल गई, जिसमें अलंकारों का समा-वेश न हो वह कविता ही न रही। आचार्य केशवदास की रामचंद्रचंद्रिका इसी फेर में पड़कर फुटकर छंदों का संग्रह हो गई, जिसमें कहीं रामचंद्र अपनी माता कौशल्या को वैधव्य संबंधी उपदेश देते हैं, कहीं पंचवटी की तुलना धूर्जटि से करते हैं और कहीं बेरवृक्ष को प्रलयवेला के द्वादशादित्य बतलाते हैं। प्रकृति के रम्य रूपों में कोई आकर्षण नहीं रह गया था, वे केवल अलंकार के डब्बे हो गए। चंद्रमा की सुषमा काव्य के भीतर ही रह गई। बिहारी ने अतिशयोक्ति तथा वस्तु-व्यंजना के सामने भावव्यंजना और रसव्यंजना की परवाह नहीं की। तिथि जानने के लिये पत्रे की आवश्यकता न रह गई, गुलाबजल की भरी शीशी जादू के से प्रभाव से बीच ही में खाली हो गई। अनुप्रास तथा शब्दाडंबर की अतिशयता के लिये पद्माकर का नाम ले लेना पर्याप्त है। काव्यरीति के ज्ञाता ही कविता समझ सकते थे; क्योंकि "नीरभरी गगरी ढरकावे"

केशवदास

का अर्थ समझने के लिये नायिकाभेद के तथा ध्वनिव्यंजना के विशेषज्ञ की आवश्यकता स्पष्ट है। इस प्रकार काव्यधारा का स्वच्छंद प्रवाह रुककर रीति की नालियों से बहने लगा। उस समय रीति-ग्रंथों को इतना महत्त्व दिया जाता था कि कवि कहलाने के लिये उसी परिपाटी पर ग्रंथ-रचना करना प्रायः अनिवार्य था। महाकवि भूषण का उदाहरण प्रत्यक्ष है। जिस वीर कवि को जातीय उत्थान तथा वीरगुणगान की सच्ची लगन थी, उसे भी सामयिक प्रवाह में पड़कर वीर-रस-समन्वित ही सही, रीति-ग्रंथ लिखना ही पड़ा। नीचे रीतिकाल के कुछ मुख्य कवियों तथा आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास

यद्यपि समयविभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रचंद्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्यधारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए। केशवदास ओड़छे के राजा इंद्रजीतसिंह के आश्रित दरबारी कवि थे। संस्कृत साहित्य-मर्मज्ञ पंडित-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण इनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रंथों की ओर हुई थी। ये दंडी और रुय्यक आदि अलंकार-संप्रदाय के उन आचार्यों के मतानुयायी थे जो अलंकारों को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। केशवदास की रचनाओं पर इस संप्रदाय की गहरी छाप देख पड़ती है। रस-परिपाक की

ओर इनका ध्यान बहुत कम रहता है, कहीं कहीं अलंकारों के पीछे पड़कर ये इतनी जटिल और निरर्थक पदरचना करते हैं कि सहृदयों को ऊब जाना पड़ता है। इनकी कृतियों के क्लिष्ट होने का कारण इनका काव्य के वास्तविक ध्येय को न समझना ही है। हाँ, जहाँ कहीं हृदय की प्रेरणा से रचना की गई है, वहाँ न तो क्लिष्टता है और न बाह्य चमत्कार। संस्कृत से पूर्ण परिचित होने के कारण इनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित और साहित्यिक है। राजदरबार में रहने के कारण इनमें वाग्वैदग्ध्य बहुत अधिक था, इसलिये इनके कथोपकथन अच्छे हुए हैं। वैभव और तेज-प्रताप का वर्णन करने में इन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। इनकी कृतियों में कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रचंद्रिका आदि मुख्य हैं। यद्यपि केशव के पहले भी कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति साहित्य के निर्माण का प्रारंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केशवदास के सर्वतोमुख प्रयास के सामने एकांगी हो गई हैं। रीति काल के इन प्रथम आचार्य केशवदास का स्थान हिंदी में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्हें हृदयहीन कहकर संबोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी समझी हृदयहीनता है, और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रही, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है? यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परि-स्थिति के निर्माता हों। वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं।

इनमें चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर थे। कुछ लोगों की सम्मति में वे सब भाई नहीं थे, और विभिन्न कालों के कविताकार थे; परंतु जनश्रुति के आधार पर शिवसिंह सेंगर आदि ने इन्हें सगे भाई स्वीकार किया है। वास्तव में ये तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और समकालीन कवि तथा सगे भाई थे।

त्रिपाठी-बंधु

चिंतामणि सबसे बड़े थे। इन्होंने काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश तथा रामायण आदि ग्रंथ बनाए। नागपुर के तत्कालीन नृपति मकरंदशाह के दरबार में रहकर इन्होंने छंदविचार ग्रंथ की रचना की और उसे उन्हें ही समर्पित किया। चिंतामणि की रीतिरचना के संबंध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि महाकवि आचार्य केशवदास ने हिंदी में जिस अलंकार-संप्रदाय का सृजन किया था, उसे छोड़कर इन्होंने सुंदर रसपूर्ण रचना की जिसमें अलंकारों को उपयुक्त स्थान दिया गया। इस प्रकार वे हिंदी के दूसरे प्रधान रीति-संप्रदाय के प्राय: सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं। तत्कालीन मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हें पुरस्कृत करके इनकी योग्यता तथा अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया था। इनके दूसरे भाई भूषण के संबंध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं।

हिंदी के रससिद्ध सच्चे कवियों में मतिराम अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हैं। हिंदीसाहित्य के इतिहासकार मिश्रबंधुओं ने इन्हें हिंदी नवरत्न में स्थान दिया है और वास्तव में ये उस स्थान के

मतिराम

अधिकारी भी हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता इनका भाषा-सौष्ठव है। मतिराम की सी प्रसादगुणसंपन्न सरल कोमल व्रज भाषा बहुत कम कवियों ने लिखी होगी।

इनकी पुस्तकों में रसराज और ललितललाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त छंदसार, साहित्यसार और लक्षण-शृंगार नामक इनकी अन्य कृतियाँ भी हैं। मतिराम सतसई नामक शृंगार-रस-विशिष्ट सात सौ दोहों का संग्रह भी इनका बनाया, कुछ समय पहले, मिला है। यद्यपि इनकी सतसई में बिहारी-सतसई की सी अलंकारयोजना नहीं है और यद्यपि उसकी प्रसिद्धि भी अधिक नहीं है, पर भाषा तथा भावों के सुंदर स्वाभाविक प्रवाह की दृष्टि से वह बिहारी-सतसई से कम नहीं है। बिहारी ने पेचीले मजमून बाँधकर और अतिशयोक्ति आदि हलके अलंकारों से लादकर कविता-कामिनी की निसर्गसिद्ध श्री बहुत कुछ कम कर दी है। उसके अनुरागी चाहे उन अलंकारों पर ही मुग्ध बने रहें, पर जहाँ हार्दिक अनुभूतियों के खोजी रसिक समीक्षा करेंगे, वहाँ बिहारी के अनेक दोहों को निम्न स्थान ही मिल सकेगा। मतिराम में भावपक्ष का बहुत सुंदर विकास देख पड़ता है।

उनका रसराज और ललितललाम रीति कविता के विद्यार्थियों के लिये सरलतम और सर्वोपयुक्त ग्रंथ हैं। मतिराम को बूँदी के महाराज भावसिंह के यहाँ आश्रय मिला था अतः उनकी स्तुति में इन्होंने अनेक छंद कहे हैं, जिनमें कुछ वीर-रस के हैं।

रीतिकाल के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। कुछ साहित्य-समीक्षक कवियों के उत्कर्षापकर्ष

बिहारीलाल

का निर्णय उनकी कृतियों की प्रसिद्धि तथा प्रचार की दृष्टि से करते हैं, पर ऐसा करने में भ्रांति की संभावना रहती है। जनता का रुचिनिर्माण करने में क्षणिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ काम करती हैं, और उसकी कसौटी साहित्यसमीक्षा संबंधी कभी कभी बिलकुल अनुचित और अशुद्ध भी होती है। प्रसिद्धि तो बहुत कुछ संयोग से भी मिल सकती है। यह सब कहने का हमारा आशय यह नहीं है कि कविवर बिहारी की ख्याति में उनकी कविता की वास्तविक सुंदरता और उत्कृष्टता सहायक नहीं है, हाँ, यह अवश्य है कि इनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण साहित्य-संबंधी तत्कालीन अनोखी विचार-परंपरा भी है। बिहारी उस श्रेणी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय हैं जो अलग अलग दोहों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की करामात पसंद करते हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र बिहारी ने खींचे हैं, पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी तुली हो जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित नहीं है। बिहारी ने बाट-बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। यह सब होते हुए भी उनकी सतसई हिंदी की अमर कृति कहलायगी और श्रेणीविशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रेमियों के लिये तो वह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दोहे जैसे छोटे छंद में इतने अलंकारों की सफल योजना करने में बिहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले।

बिहारी

ये इटावे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इटावे के आस-पास सनाढ्यों की बस्ती होने के कारण उनके कान्यकुब्ज होने में संदेह हो सकता है; पर देव के वंशज अपने को कान्यकुब्ज दुसरिहा (द्योसरिया-देव) ब्राह्मण बतलाते हैं। रीति-काल के ग्रंथकारों में सबसे प्रचुर परिमाण में साहित्य का निर्माण करनेवाले देव ही थे, क्योंकि इनके लिखे ५२ या ७२ ग्रंथों में से २६ का पता लग चुका है जिनकी छंद-संख्या कई सहस्र होगी।

देव

बाल्यावस्था से ही इन्होंने जो काव्य-चमत्कार दिखलाया, उससे उनका नैसर्गिक प्रतिभा से समन्वित होना सिद्ध होता है। इस प्रतिभा का उपयोग उन्होंने आश्रयदाता धनियों की मिथ्या प्रशंसाएँ न कर सत्कविता के क्षेत्र में किया था। देव का सम्मान तत्कालीन किसी नृपति ने नहीं किया। इसका कारण चाहे जो हो, पर परिणाम अच्छा ही हुआ। उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि के लिये बंधनमुक्त होकर विचरण करना आवश्यक होता है, उपकार या प्रसिद्धि के बोझ से दब जाने से कविता का ह्रास अवश्यंभावी है। जनसाधारण ने उनकी कविता का आदर उस समय नहीं किया इसका कारण उसकी विपथगामी रुचि ही कही जायगी। उनके ग्रंथों की टीकाएँ भी बिहारी-सतसई की भाँति नहीं निकलीं। राजदरबार में अत्यधिक सम्मानित होने के कारण बिहारी-सतसई के टीका-कारों को पुरस्कृत होने की आशा रहती थी। देव को वह सुविधा नहीं मिल सकी।

देव का काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति-काल के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख

पड़ती। देव की सौंदर्य-विवृति सत्य अतः मर्मस्पर्शिनी है। परंतु देव के गायन का मुख्य विषय प्रेम है। उनका प्रेम यद्यपि लौकिक ही कहा जायगा परंतु उनकी तन्मयता के कारण उसमें उनके अंतरतम की पुकार सुन पड़ती है। यही पुकार साहित्य की उत्कृष्टता की सूचिका है। देव की प्रारंभिक रचनाओं में यौवन का उन्माद है, उनमें श्रृंगारिकता कूट कूट-कर भरी है; पर प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर उनकी रचनाएँ बहुत कुछ संयत भी हुईं। उनकी दर्शनपच्चीसियों में अधिकतर पूत भावनाएँ सन्निविष्ट हैं। यह सब कहने का आशय इतना ही है कि देव की रचनाओं में जो क्रमिक विकास मिलता है, वह किसी सच्चे कवि के लिये परम आवश्यक है। रीति-काल के अन्य किसी कवि की कृतियों में अंतर की प्रेरणा से घटित क्रमिक परिवर्तन का इतना स्पष्ट पता नहीं लगता।

जिस कवि को भावों के व्यापक क्षेत्र में आना पड़ता है, उसे भाषा की शक्ति भी बढ़ानी पड़ती है, और कल्पना को भी बहुत कुछ विस्तृत करना पड़ता है। देव का शब्द-भांडार और कल्पना-कोष भी विकसित और समृद्ध था। हाँ, भाषा को अलंकार-समन्वित करने और शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की जो सामान्य प्रवृत्ति, कालदोष बनकर व्रज भाषा में व्याप्त हो रही थी, उससे देव भी बच नहीं सके हैं। उनकी कल्पना अधिक-तर काव्योपयुक्त पर कहीं कहीं पेंचीली और चक्करदार भी हो गई है।

रीति-काल के थोड़े से आचार्यों में देव की गणना की जाती है। रीति संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उद्भावनाओं का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने किया है। पांडित्य की दृष्टि से रीति-

काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्यक्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

भिखारीदास

ट्योंगा, प्रतापगढ़ (अवध) के रहनेवाले कायस्थ कवि भिखारीदास की रचनाओं में काव्यांगों का विवेचन अच्छे विस्तार से किया गया है। उनका काव्यनिर्णय ग्रंथ अब भी रीति के विद्यार्थियों का प्रिय ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त उनकी रची छंदार्णव पिंगल, रससारांश, शृंगारनिर्णय आदि अन्य पुस्तकें भी हैं। दासजी के आश्रयदाता प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीजीतसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह थे।

दासजी के आचार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सब अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़े आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौलिक भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है।

कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उठतीं। रीति-काल के पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लेकर स्वतंत्र विषय खड़ा करने में यद्यपि वे बड़े पटु थे, पर भावों के निर्वाह की मौलिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अवध में रहकर शुद्ध चलती ब्रज भाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है; पर दासजी की भाषा सामान्यतः शुद्ध और

साहित्यिक है। इससे उनके व्रज भाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है।

समीक्षा बुद्धि के अभाव के कारण रीति की लीक पर चलने-वाले अनेक कवियों से भिखारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कभी स्थान नहीं दिया गया।

पद्माकर

रीति-काल के अंतिम चरण के ये सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पिता की प्रसिद्धि के कारण अनेक राजदरबारों में इनका सम्मान हुआ था। अवध के तत्कालीन सेनाध्यक्ष हिम्मतबहादुर की स्तुति में इन्होंने हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक पुस्तक लिखी। इनके मुख्य आश्रयदाता जयपुराधीश जगतसिंह थे जिनको इन्होंने अपना जगद्विनोद ग्रंथ समर्पित किया था। इनका अलंकारग्रंथ पद्माभरण भी जयपुर में ही लिखा गया था। प्रबोधपचासा और गंगालहरी इनकी अंतिम रचनाएँ थीं। मृत्यु के कुछ काल पहले से ये कानपुर में गंगातट पर निवास करने लगे थे।

पद्माकर की शृंगार रस की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इनके नाम पर कितने ही कविनामधारियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं से सने उद्गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी पद्माकर के नाम की ओट लेकर बहुत सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में यदि थोड़ा अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दसगुना।

पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहाँ भावों का

नैसर्गिक प्रवाह अवश्य भंग होगा और भाषा में अवश्य तोड़ मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भावधारा को सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं। शृंगार की ओर अतिशयता से प्रवृत्त रहने के कारण इनका रामरसायन नामक वाल्मीकि रामायण का अनुवाद-ग्रंथ अच्छा नहीं बन पड़ा। वह युग प्रबंधकाव्य की पड़ती का था। मुक्तक रचनाओं में पद्माकर ने अच्छा चमत्कार प्रदर्शित किया है। आधुनिक हिंदी के कुछ कवियों तथा समीक्षकों की दृष्टि में पद्माकर रीति-काल के सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। जगद्विनोद और पद्माभरण रीति का अध्ययन करनेवालों के लिये सरल ग्रंथ हैं। इनकी भाषा का प्रवाह बड़ा ही सुंदर और चमत्कारयुक्त है।

प्रतापसाहि

चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के आश्रय में अनेक सुंदर ग्रंथों की रचना करनेवाले प्रतापसाहि हिंदी के रीतिकाल के अंतिम आचार्य और कवि हुए। इनके "व्यंग्यार्थ-कौमुदी", "काव्य-विलास" आदि ग्रंथों से इनके पांडित्य तथा कवित्व दोनों का पता चलता है। व्रज की शुद्ध भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। वे पद्माकर की भाँति अनुप्रासप्रिय नहीं थे। व्यंग्यार्थ-कौमुदी में रीति-परंपरा की अत्यंत प्रौढ़ अवस्था के अनुरूप अनेक रूढ़िगत रचनाएँ हैं, फिर भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उसमें उत्कृष्ट स्थलों की कमी नहीं है। आचार्यत्व और काव्यत्व का ऐसा सुंदर संयोग बहुत थोड़े कवियों में देख पड़ता है। समस्यापूर्ति करने के अभ्यासी

कवियों का सा भावशैथिल्य प्रतापसाहि में बहुत कम पाया जाता है, जिससे उनके सच्चे कवि-हृदय का पता चलता है। रीति-काल की कविता में प्रतापसाहि के उपरांत कोई बड़ा कवि नहीं हुआ, हाँ शृंगाररस के फुटकर पद्यों की रचना द्विजदेव आदि कुछ कवियों ने उनके बाद भी सफलतापूर्वक की।

रीति की परिपाटी के बाहर प्रेमसंबंधी सुंदर मुक्तक छंदों की रचना करनेवालों में इन तीन कवियों का प्रमुख स्थान है।

घनानंद, बोधा, ठाकुर

रीति के भीतर रहकर बँधे बँधाए विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से, और परंपरा-प्रचलित उपमानों की योजना से काव्य का ढाँचा खड़ा करना कवि कर्म को विशेष ऊँचे नहीं पहुँचाता। प्रकृति के रम्य रूपों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उन पर मुग्ध होना एक बात है और नायक-नायिका की विहारस्थली को उद्दी-पन के रूप में दिखाना दूसरी बात है। एक में निसर्गसिद्ध काव्यत्व है, दूसरे में काव्याभास मात्र। इसी भाँति अनेक नायक-नायिकाओं के विभेद दिखाते हुए, हावों आदि को जोड़-जाड़कर खड़ा कर देने में कवि की सहृदयता का वैसा पता नहीं लग सकता जैसा तल्लीनता की अवस्था में प्रेम के मार्मिक उद्गारों और स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध के रमणीय प्रसंगों का स्वाभाविक चित्रण करने में। घनानंद, बोधा और ठाकुर (बुंदेलखंडी) तीनों ही प्रेम की उमंग में मस्त सच्चे कवि हुए। यह ठीक है कि प्रेम का लौकिक पक्ष न ग्रहण करने के कारण उनकी कविता ऐकांतिक प्रेमसंबंधिनी अतः अलोकोपयोगी हो गई है; परंतु उस काल की बँधी परिपाटी

से स्वतंत्र होकर मनोहर रचना करने के कारण ये तीनों ही कवि हिंदी में आदर की दृष्टि से देखे जायँगे। घनानंद की भाषा भी व्रज की टकसाली भाषा थी। उनकी जैसी भाषा रीति-काल के कम कवियों ने व्यवहृत की है।

रीति-काल में कवियों की ऐसी बाढ़ आई थी कि ऊपर के पृष्ठों में केवल प्रधान प्रधान धारावाही कवियों का उल्लेख ही हो सका है। जिस देश में, जिस काल में कविकर्म शृंखलित, नियमित और रीतिबद्ध हो जाता है वहाँ उस काल में मध्यम श्रेणी के अलंकारप्रिय कवियों की स्वभावतः अधिक संख्या हुआ करती है। कविता जब प्रतिभासापेक्ष न रहकर बहुत कुछ अध्ययनसापेक्ष हो जाती और बुद्धिवाद की ओर झुकती है तब कविगण पांडित्य-प्रदर्शन को काव्य का मुख्य उद्देश्य समझने लगते हैं। कविता अपना वास्तविक सौंदर्य खो देती और कृत्रिम बन जाती है। अँगरेजी साहित्य के इतिहास में पोप और ड्राइडेन की कविता बहुत कुछ ऐसी ही है। हिंदी में श्रीपति, कुलपति, सुखदेव मिश्र और महाराज जसवंतसिंह कवि नहीं कहे जा सकते, अलंकार-ग्रंथ-निर्माता ही कहे जायँगे। साहित्यिक विश्लेषण के अनुसार इन्हें साहित्य-समालोचकों की श्रेणी में स्थान मिलना चाहिए, कवियों की श्रेणी में नहीं। कविताकारों में उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त वेणीप्रवीण, द्विज-देव आदि के नाम भी किसी प्रकार आ जायँगे। तत्कालीन मुसलमान कवियों में आलम शेख का जोड़ा प्रसिद्ध है। रस-लीन और अलीमुहिब खाँ की रचनाएँ भी थोड़ा बहुत मूल्य अवश्य रखती हैं।

फुटकर कविगण

यद्यपि रीति-काल में हिंदी कविता की अंगपुष्टि बहुलता से हुई, पर साथ ही कलापक्ष की ओर जितना अधिक ध्यान दिया गया उतना भावपक्ष की ओर नहीं दिया गया। आचार्यत्व तथा कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ठ होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गई और वह नकल भी एकांगी हुई। सिद्धांतों को लेकर उनपर विवेचनापूर्ण ग्रंथों के निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया गया और केवल पुरानी लकीर को ही पीटते रहने की रुचि ने साहित्य के इस अंग की यथेष्ट पुष्टि न होने दी।

दसवाँ अध्याय

आधुनिक काल

पद्य

रीति-धारा का अंत

कविता का जो प्रवाह केशवदास और चिंतामणि आदि ने बहाया, देव और बिहारी के समय में वह पूर्णता को पहुँच-कर क्षीण होने लगा; तथा पद्माकर और प्रतापसाहि तक पहुँचते पहुँचते उसकी गति प्रायः मंद पड़ गई। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि संपूर्ण रीति-काल में अधिकांश निम्न कोटि का साहित्य तैयार होता रहा, जिसका कारण तत्कालीन जनता तथा रईसों की अभिरुचि थी। कविता का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया था। जीवनसंबंधिनी स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्त हो गई थीं और कविता गंदी वासनाओं की साधिका मात्र बन रही थी। यह ठीक है कि इस काल के कुछ प्रतिभाशाली कवियों ने कहीं कहीं गार्हस्थ्य जीवन के मधुर संबंधों की बड़ी ही सुंदर अभिव्यंजना की है तथा प्रेम और सौंदर्य के छोटे छोटे रमणीक दृश्य मुक्तकों में दिखाए हैं; पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत अधिक न थी। अधिकांश कवि अलंकारों के पीछे पागल होकर घूम रहे थे और रीति के संकीर्ण घेरे के बाहर निकलने में असमर्थ थे। जिस देश की जिस काल में ऐसी साहित्यिक प्रगति होती है, वह देश उस काल में सामा-जिक, राजनीतिक तथा नैतिक आदि सभी दृष्टियों से पतित

हो जाता है और कुछ समय के उपरांत उच्च लक्ष्य के संपन्न साहित्यकारों के प्रसाद से उसकी दशा का सुधार और संस्कार हुआ करता है।

शृंगार काल के अंतिम चरण में पद्माकर से बढ़कर कोई कवि नहीं हुआ। उन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि कवि मान सकते हैं। शृंगारिक कविता में अश्लीलता का समावेश करके, अनुप्रासों की भरमार करके और समस्यापूर्ति की परंपरा का बीजारोपण करके उन्होंने जिस परिपाटी की पुष्टि की थी, आज भी वह थोड़ी बहुत देखी जाती है। देहातों में कहीं चले जाइए, पद्माकर के सबसे अधिक कवित्त लोगों को कंठाग्र मिलेंगे, नव सिखुए कवियों को उनका ही सहारा देख पड़ेगा, और समस्यापूर्तियों का प्रचलन भी खूब मिलेगा। अर्थालंकारों की ओर उतना ध्यान न भी हो, पर अनुप्रासों की योजना तो देहाती कवियों की विशेषता हो रही है। यह केवल एक श्रेणी के लोगों की बात है। जो लोग अभी सनातन परंपरा का पालन करते जा रहे हैं, जिन लोगों ने कविता को मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन का साधन बना लिया है, जिन्हें अब भी देहातों के बाहर निकलकर प्रगतिशील समाज की कृतियों को देखने का अवसर नहीं मिला है, और जो अब भी देश के कुछ कोनों में छिपे हुए विलासी रईसों से यथासमय थोड़ा बहुत झटक लेने के फेर में रहते हैं, उनके लिये कविता कामिनी का वही रूप अब भी बना है जो भारतीय जन समाज के उस अवनत युग में था। परंतु संतोष की बात इतनी ही है कि ऐसे लोगों की संख्या प्रति दिन घटती जा रही है और अब साहित्य-संबंधी व्यापक और उच्च विचारों का भी प्रचार होने लगा है।

कुछ लोगों का कथन है कि हिंदी की शृंगार-परंपरा का अंत करके उसमें नवीन युग का आविर्भाव करनेवाले कारणों में सबसे प्रधान कारण अँगरेजों का भारतवर्ष में आगमन है। उनके मत से अँगरेजों ने इस देश में आकर यहाँ के लोगों को शिक्षित किया और उन्हें देशप्रेम करना सिखलाया। यहीं से देशप्रेम की भावना से समन्वित साहित्य की सृष्टि हुई। इस बात को हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी राज्य के भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने पर हमारे हृदयों में जातिप्रेम देशप्रेम आदि के भाव बढ़े; पर इसके लिये हम अँगरेजों के कृतज्ञ नहीं, उनकी कूट नीति के कृतज्ञ हों तो हों। विदेशीय शासन के प्रतिष्ठित होने पर विजयी देश की रीति-नीति और आचार-व्यवहार की छाप विजित देश पर अवश्य पड़ती है, पर जब विजेता अपने साहित्य और धर्म का प्रच्छन्न या प्रकट रीति से प्रचार करता और विजित के साहित्य आदि को अनुन्नत बतलाता है, तब थोड़े समय के लिये उसकी यह प्रपंच नीति भले ही सफल हो, पर जब उसकी पोल खुल जाती है और जब विजित देश अपने पूर्व-गौरव का स्मरण कर जाग उठता है तब सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिघात की प्रबल लहरें उठने लगती हैं, जिसके सामने विदेशीय आक्रमणकारियों की प्रवंचना नहीं चल सकती। वह काल सर्वतोमुखी हलचल का होता है, क्योंकि उस काल में पराधीन देश अपनी संपूर्ण शक्ति से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की चेष्टा करता है और रूढ़ियों के प्रतिकूल प्रबल आंदोलन करके सफलता प्राप्त करता है।
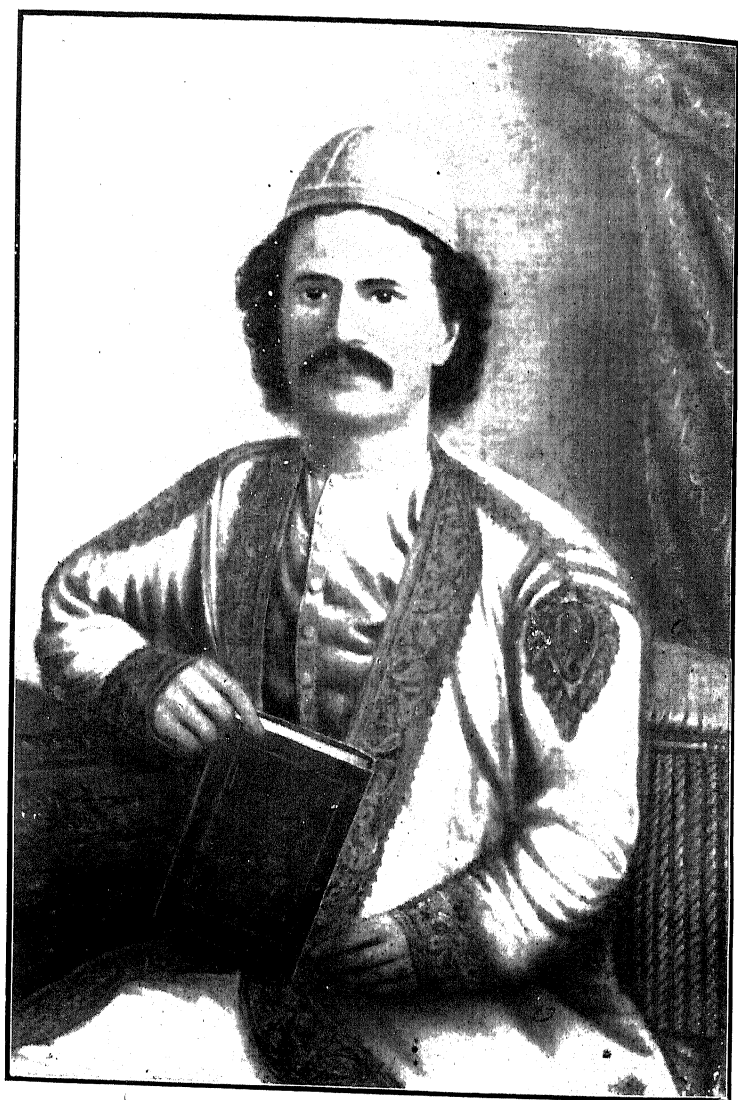
भारतेंदु हरिश्चंद्र

हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आंदोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक के प्रारंभ में समस्त देश-वासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था। इस देश के और यहाँ के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जयंती-दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी, उस दिन छिन्न भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था, उस दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई थी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनो-वृत्तियों का अंत करने के लिये स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्व-सित की थी। मुक्तकेशिनी, शुभ्रवसना, परवशा भारत-माता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक गंभीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था। वह दिवस निश्चय ही परम मंगलमय था, क्योंकि आज भी उसका स्मरण कर हम अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। यदि सच पूछा जाय तो उसी दिन से साहित्य में एक नवीन चेतना हुई और उसी दिन से उसके दिन फिरे। आज हम जिस साहित्यिक

भारतेंदु हरिश्चंद्र

प्रगति पर गर्व करते हैं, उसका बीजारोपण इसी शुभ दिवस में हुआ था।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के उद्योग से सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची, उसके परिणामस्वरूप सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई जनता में शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू-फारसी की ओर प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणा स्वामी दयानंद से अधिक मिली, और हिंदी अँगरेजी की पढ़ाई तो कुछ पहले से ही प्रारंभ हो चुकी थी। पड़ोस में होने के कारण उन्नतिशील बँगला भाषा की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान लगभग उसी समय से खिंचा। इस प्रबल शिक्षाप्रचार का जो प्रभाव राजनीतिक अभिज्ञता, सामाजिक जागर्ति और धार्मिक चेतना आदि के रूप में पड़ा, वह तो पड़ा ही, हिंदी साहित्य-क्षेत्र भी उसके शुभ-परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो गया। सारा साहित्य नवीन प्रकाश से परिपूर्ण होकर ज्योति की शत सहस्र किरणें विकीर्ण करने लगा। हमारी कविता भी सजग हो उठी। वह अपनी स्थविरता का परित्याग कर आगे बढ़ी और सामयिक प्रवृत्तियों के अनुकूल रूप-रंग बदलकर शिक्षित जनता के साहचर्य में आ गई। स्वयं देवी सरस्वती ने अपने अलौकिक करस्पर्श से कविता-कामिनी को सुवर्णमयी बना दिया था। फिर भला भक्ति-गद्गद भाव से घर घर उसकी आरती क्यों न उतारी जाती, क्यों न उसकी यश-प्रशस्ति अमिट अक्षरों से हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर दी जाती। उस काल की हिंदी कविता मुख्यतः देश-प्रेम और जातीयता की भावना को लेकर उदित

हुई थी, यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाएँ भी थोड़ी बहुत होती रहती थीं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता हिंदी में नवीन प्रगति की पताका लेकर आई थी, उस समय के अन्य कवियों ने सच्चे सैनिकों की भाँति अपने सेनापति का अनुगमन किया था। उन सभी कवियों पर भारतेंदु का प्रभाव स्पष्टत: देख पड़ता है। यहाँ हम हरिश्चंद्र की फुटकर रचनाओं की बात नहीं कहते जो चली आती हुई शृंगारिक कविता की श्रेणी की ही मानी जायँगी। उनकी जो रचनाएँ जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखी गईं, जिनमें देश की अवस्था और समाज की अवस्था आदि का वर्णन है, यहाँ उसी का विवेचन अभीष्ट है। हम यह स्वीकार करते हैं कि भारतेंदु में उत्कट देश-प्रेम और प्रगाढ़ समाज-हितैषिता के भाव थे, परंतु साथ ही हम यह भी मान लेते हैं कि उनका देशानुराग, जातिप्रेम आदि बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप थे, उन्हें उन्होंने जीवन के प्रवाह के भीतर से नहीं देखा था। अनेक अवसरों पर तो राजा शिवप्रसाद आदि के विरोध में इन्होंने स्वदेशप्रेम का व्रत धारण किया था। इसी कारण उनकी तत्संबंधिनी रचनाएँ विशेष तन्मयता की सूचना नहीं देतीं, कहीं कहीं तो बँगला आदि के अनुवादों के रूप में ही व्यक्त हुई हैं। क्षणिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित साहित्य के मूल में भावना की वह तीव्रता और स्थिरता नहीं होती जो स्थायी साहित्य के लिये अपेक्षित है। राजनीति और समाजनीति को जीवन के अविच्छिन्न अंग बनाकर जो रचनाएँ होंगी, काव्य की दृष्टि से उनका ही महत्त्व होगा,

उन्हें प्रचारक या उपदेशक की दृष्टि से देखने से कविकर्म में अवश्य बाधा पड़ेगी।

प्राकृतिक वर्णनों की जो परिपाटी रीति-ग्रंथकारों ने चला रखी थी, वह बहुत अधिक संकुचित थी। कवियों ने प्रकृति के नाना रूपों को विविध अलंकारों की योजना के लिये ही रख छोड़ा था, वे भावों का आलंबन न बनकर उद्दीपन मात्र रह गए थे। वाल्मीकि रामायण के वर्षा और शरद्-ऋतु के वर्णनों में प्रकृति के विविध दृश्य जिस संश्लिष्ट रूप में खींचे गए हैं, उससे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तो भासित होता ही है, साथ ही उसका प्रकृति के प्रति निसर्गसिद्ध अनुराग भी लक्षित होता है। उन वर्णनों में प्रकृति आलंबन है, और कवि आश्रय। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सिद्धि के लिये अलंकार-वस्तुओं का उल्लेखमात्र करनेवाले कवियों और प्रकृति को सजीव सत्ता मानकर उससे अंत:करण की आत्मीयता स्थापित करनेवाले कवियों में बड़ा अंतर होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रकृति-वर्णन यद्यपि विविध वस्तुओं की योजना की दृष्टि से रीतिकाल के कवियों से अधिक सुंदर और हृदयग्राही हुआ है; पर उसके साथ उनके भावों का संबंध विशेष गहन और अविच्छिन्न नहीं जान पड़ता। हरिश्चंद्र स्वयं नागरिक थे, प्रकृति की मुक्त विभूति का जो अनंत प्रसार नगरों के बाहर व्याप्त है, उसका साक्षात्कार उन्होंने कम किया था। इसके अतिरिक्त वे समाज-सुधारक आदि भी थे, जिसके कारण उन्हें अपनी दृष्टि मनुष्य के बनाए हुए सामाजिक घेरे में ही रख छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था।

परंतु हिंदी कविता के उस परिवर्तनकाल में हरिश्चंद्र जैसे महान् व्यक्ति को देखकर हम चकित हुए बिना नहीं रह सकते। यह ठीक है कि शुद्ध काव्यसमीक्षा की दृष्टि से उनकी रचनाएँ सूर और तुलसी की कोटि को नहीं पहुँचतीं. और यह भी ठीक है कि कबीर, जायसी आदि कवियों की वाणी की समता भी वे नहीं कर सकते; पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। रीति-कविता की शताब्दियों से चली आती हुई गंदी गली से निकल शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चंद्र को पूरा पूरा प्राप्त है। वे और उनके साथी बड़े ही सहृदय व्यक्ति थे जिन्हें अपनी धुन में मस्त रहना आता था। मौलिक साहित्यकारों में हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी में बराबर ऊँचा रहेगा। वे प्रेमी जीव थे, पर उनका देशप्रेम भी अतिशय प्रबल था। यह स्वीकार करते हुए भी कि व्यापकता और स्थायित्व की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्य की उन्होंने सृष्टि नहीं की, हमको यह मानना पड़ेगा कि मुक्तक रचना में जातीयता के भावों को सफलतापूर्वक भरकर उन्होंने हिंदी कविता का अपार उपकार किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र का वास्तविक महत्त्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग से ले चलने में है, उच्च कोटि की काव्यरचना करने में उतना नहीं है। परिवर्तन उपस्थित करने का महत्त्व कितना अधिक होता है और इस दृष्टि से हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी साहित्य में कितना ऊँचा है इसका अनुमान हम तभी कर सकेंगे जब उनके पीछे की साहित्यिक प्रगति में हम उनके प्रभाव का साक्षात्कार करेंगे और उनके समसामयिक सभी

कवियों में उनकी अमिट छाप देखेंगे। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण समर्थ नहीं हुए थे, भारतेंदु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे भी उनके उच्च पद का पता लग सकता है।

हरिश्चंद्र के समकालीन व्यक्ति

हरिश्चंद्र के उपरांत हिंदी के कवियों की प्रवृत्ति अँगरेजी की लीरिक कविता के अनुकरण में छोटे छोटे गेय पद बनाने और उन्हें पत्रों में प्रकाशित करने की ओर हुई। लीरिक कविता में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता रहनी चाहिए; पर हिंदी के तत्कालीन कविताकारों में यह बात कम देखी जाती है। न तो विषयों के उपयुक्त चुनाव की दृष्टि से और न तन्मयता की दृष्टि से उनकी रचनाएँ श्रेष्ठ लीरिक कविताओं में गिनी जा सकती हैं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि शिक्षा आदि विषयों पर कविता लिखनेवाले व्यक्ति में काव्य की सच्ची प्रेरणा कम होती है, निबंधरचना का भाव अधिक होता है। हिंदी के उस काल के कवियों ने ऐसे ही विषयों पर कविता की, जिससे जनसमाज में जागर्ति तो फैली, पर कविता का विशेष कल्याण न हो सका। काव्य के लिये निबंधों की सी बुद्धिगम्य विचारप्रणाली की आवश्यकता नहीं होती, भावों को उच्छ्वसित करना आवश्यक होता है। अनेक प्रमाणों को एकत्र कर पद्य का ढाँचा खड़ा करना कविता नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। उस काल की हिंदी कविता में समाजसुधार और जातीयता का इतना दृढ़ प्रभाव पड़ चुका था कि उनके प्रभाव से मुक्त होकर रचना करना किसी कवि के लिये संभव नहीं था।

अब तक ब्रज भाषा ही कविता का माध्यम थी और कवित्त सवैया आदि छंदों का ही अधिक प्रयोग होता था। पर इस समय के लगभग भाषा के माध्यम में परिवर्तन किया गया, ब्रज भाषा के बदले खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। इस समय तक खड़ी बोली हिंदी गद्य की प्रचलित भाषा हो चुकी थी, पर पद्य में अपनी कोमलता और सौंदर्य के कारण ब्रज भाषा ही व्यवहार में लाई जा रही थी। खड़ी बोली के पक्षपातियों का सबसे बड़ा तर्क यही था कि बोलचाल की जो भाषा हो उससे विभिन्न भाषा का प्रयोग कविता में न होना चाहिए। यहाँ हम इस तर्क की उपयुक्तता पर कुछ भी नहीं कहेंगे। पर पढ़ी लिखी जनता की प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर अधिक हो रही थी, इसमें संदेह नहीं। छंदों में भी अनेकरूपता आने लगी थी। नए नए छंदों का इस काल में अच्छा आविष्कार हुआ। परंतु इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है व्याकरण की प्रतिष्ठा। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समसामयिक कवियों को जो मार्ग प्रशस्त करना था, उसमें व्याकरण के जटिल नियमों को स्थान नहीं दिया जा सकता था। हिंदी के उस क्रांति-युग में व्याकरण की व्यवस्था संभव भी नहीं थी। उस समय तो कविता को रीति की संकीर्णता से निकालना था, उसे खुली हवा में लाकर स्वस्थ करना था, पर कुछ काल के उपरांत जब हिंदी गद्य कुछ उन्नत हुआ, तब भाषा-संस्कार आदि की ओर भी ध्यान दिया गया। यह सब होते हुए भी हमको इतना तो अवश्य स्वीकृत करना पड़ेगा कि उस काल की खड़ी बोली बड़ी कर्कशता लेकर आई थी, उसमें काव्योपयुक्त कोमलता नहीं थी। परंतु

कर्कशता में कोमलता का समावेश करने और व्याकरण के नियमों से भाषा को शृंखलित करने की चेष्टा उस काल में अवश्य हुई थी।

स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली की कविता के प्रथम लेखक और आचार्य हुए। पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की कवितापुस्तकों का अनुवाद "ऊजड़ गाँव", "एकांतवासी योगी" और "श्रांत पथिक" के नाम से किया और कुछ मौलिक कविताएँ भी कीं। द्विवेदीजी ने मराठी साहित्य की प्रगति से परिचित होकर हिंदी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका सरस्वती में छोटी छोटी रचनाएँ कीं और अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। यदि पाठकजी में कवित्व द्विवेदीजी से अधिक है तो द्विवेदीजी में भाषा का मार्जन पाठकजी की अपेक्षा अधिक है। उस समय खड़ी बोली का जो अनिश्चित रूप प्रचलित था उसे सुधारकर काव्योपयुक्त बनाने की चेष्टा करने के कारण द्विवेदीजी का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जायगा; परंतु मराठी कविता की कर्कशता द्विवेदीजी की रचनाओं में भी देख पड़ी। कुछ काल उपरांत द्विवेदीजी ने कुमारसंभव आदि संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद कविता में किए, जो अपने ढंग के अनुपम हुए। पाठकजी ने ब्रज भाषा का पल्ला भी पकड़ा और बड़ी ही मधुर कविता का सृजन किया। द्विवेदीजी के अनुयायियों में आगे चलकर अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक यशस्वी हैं। पाठकजी को प्रकृति की रम्य क्रीड़ाभूमि काश्मीर में तथा अन्य मनोहर पहाड़ी

पाठकजी और द्विवेदीजी

श्रीधर पाठक

अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

प्रदेशों में रहने का सुअवसर मिला था, जिसके फलस्वरूप उनके रसिक हृदय ने प्राकृतिक दृश्यों के साथ आंतरिक अनुराग प्राप्त कर लिया था। इस अनुराग की स्पष्ट झलक उनकी रचनाओं में देख पड़ती है।

उपाध्यायजी और नाथूरामजी

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय और पंडित नाथूराम शंकर शर्मा हिंदी के उन प्रसिद्ध कवियों में हैं जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर रहकर काव्य-रचना की। अपने प्रारंभिक कविताकाल में उपाध्यायजी व्रज भाषा में कविता करते थे; पर आगे चलकर उन्होंने संस्कृत पदावली का आश्रय लेकर संस्कृत वृत्तों में प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास में उपाध्यायजी की कवित्व-शक्ति बड़ी सुंदर देख पड़ी थी और उसके कुछ स्थलों में काव्यत्व उच्च कोटि का मिलता था, जिसे देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की गई थी, परंतु प्रियप्रवास की रचना के उपरांत उन्हें काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उपदेशों और व्यंग्यों द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार हुई। कवि न बनकर वे समाज-सुधारक, उपदेशक और शब्द-संग्रहकार बन गए। यह ठीक है कि उनकी ढेर की ढेर रचनाओं में कुछ छोटी छोटी कृतियाँ अंत:करण की अकृत्रिम प्रेरणा से लिखी जाने के कारण अच्छी बन पड़ी हैं, पर अधिकांश कविताएँ बनावटी और परिश्रमपूर्वक गढ़ी हुई जान पड़ती हैं। प्रियप्रवास में भी संस्कृत छंदों का आश्रय लेने के कारण उनको भाषा और उसके व्याकरण की तोड़ मरोड़ करनी पड़ी है। इससे प्रसाद गुण का अभाव हो गया है। अब भी यदि उपाध्यायजी कविता

के उच्च लक्ष्य की ओर ध्यान देकर प्रियप्रवास की ओर फिरें तो उनसे हिंदी का गौरव बढ़ सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि प्रौढ़ता की ओर अग्रसर होते हुए लेखक या कवि में भावों की प्रचुरता तथा शब्दों की संकीर्णता हो जाती है। इसके कहने का यह तात्पर्य है कि थोड़े थोड़े शब्दों में गूढ़ से गूढ़ भावों का व्यंजन किया जाता है। उपाध्यायजी इस नियम के अपवाद देख पड़ते हैं। पंडित नाथूरामजी शर्मा विलक्षण शब्दनिर्माता और कवि हैं। आर्यसमाजी होते हुए भी उनकी सब कविताएँ सांप्रदायिक नहीं हो गई हैं और कुछ में तो उत्तम कोटि के कवित्व की झलक मिलती है। शृंगार रस के पद्माकरी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर वे उनके योग्य नहीं कही जा सकतीं।

बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आधुनिक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदीजी की ही भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है पर "प्रियप्रवास" की भाँति वह अतिशय संस्कृतगर्भित नहीं होता। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद "सनेही" जी की उर्दूमिश्रित कविताशैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। उनकी पहली रचना भारतभारती अब भी अनेक देशप्रेमी नवयुवकों का कंठहार हो रही है, और कितने

मैथिलीशरणजी गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त

नव-सिखिए कवि अब भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं। पर काव्य की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका जयद्रथवध खंड-काव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीर रस का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में करुण रस के सुंदर छींटे देखकर मन रसमग्न हो जाता है। अपनी "हिंदू" शीर्षक कविता-पुस्तक में गुप्तजी उपदेशक बनकर "गीता" का अनुकरण करते देखे जाते हैं; पर सामयिक प्रवाह में पड़कर ऐसी कविता की सृष्टि करने के लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। आधुनिक रचनाओं में पंचवटी सर्वश्रेष्ठ है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल चित्रित हुआ है, और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी छटा देख पड़ती है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद के ढंग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्तजी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती। उन्होंने साकेत नामक एक महाकाव्य भी लिखा है जिसका कुछ अंश सामयिक मासिक पत्रों में निकला है। उसे देखकर अनुमान होता है कि गुप्तजी की यह रचना उन्हें हिंदी के आधुनिक कवियों में उच्च आसन प्रदान करेगी। इन्होंने बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के "मेघनादवध", "वीरांगना", "विरहिणी व्रजांगना" तथा नवीन चंद्रसेन के "पलासीर युद्ध" का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्तजी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ी बोली की शब्दशक्ति भी प्रकट होती है।

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और लाला भगवानदीन उर्दू-मिली भाषा में कविता करते हैं। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव को लेकर आए हैं और दोनों की रचनाएँ ओजस्विनी हुई हैं। अंतर इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नृपतियों की प्रशस्तियाँ लिखने में लगे रहे। राष्ट्रीय कवियों को साहित्य की क्लिष्ट भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और दीनजी दोनों ने ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। राष्ट्रीय कवियों को पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब वे राष्ट्रीय आंदोलनों में स्वयं सम्मिलित हों और उत्साहपूर्वक जनता को मुक्ति का पथ दिखलावें। चंद, भूषण आदि वीर कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित बालकृष्ण शर्मा का कार्य इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा। सनेहीजी की कुछ शृंगारिक रचनाएँ अच्छी नहीं हुई हैं, पर वे उनकी प्रारंभिक कृतियाँ हैं।

सनेहीजी और दीनजी

पंडित रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्यलेखक और समालोचक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। बुद्ध-चरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इधर उधर बिखरी पड़ी हैं, संगृहीत नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनकी सहृदयता भी विशेष उल्लेखनीय है। वन्य प्रकृति के उजाड़

शुक्लजी

और सूने स्वरूप के प्रति भी उनका जितना अनुराग है उतना बागीचों में खिले हुए गुलाब के फूल के प्रति नहीं। सौंदर्य को बड़े ही व्यापक रूप में देखने की अंतर्दृष्टि हिंदी में शुक्लजी को मिली है। उनके प्राकृतिक वर्णन बुद्धचरित के सर्व-श्रेष्ठ अंश हैं, उनसे उनका सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभासित होता है। "हृदय के मधुरभार" शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न रूप दिखाया गया है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी में "मिलन", "पथिक" तथा "स्वप्न" नामक तीन खंड-काव्यों की रचना की है।

त्रिपाठीजी

उनकी भाषा में संस्कृत का सौंदर्य दर्शनीय है। यद्यपि उनमें भावों की प्रचुरता नहीं है, पर एक ही वस्तु को बड़ी सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में भरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, यद्यपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक हो गई है। "विधवा का दर्पण" शीर्षक उनकी एक मुक्तक रचना, हिंदी में उनकी अब तक की कृतियों में उच्च स्थान की अधिकारिणी है। त्रिपाठी-जी की "अन्वेषण" आदि अन्य छोटी छोटी रचनाएँ भी बड़ी ही सुंदर बन पड़ी हैं।

ब्रज भाषा में कविता करनेवालों में हरिश्चंद्र के उपरांत

ब्रज भाषा के आधुनिक कवि

प्रेमघन और श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके उपरांत पंडित सत्यनारायण शर्मा कविरत्न और

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का नाम उल्लेखनीय है। कविरत्नजी व्रजमंडल के रहनेवाले व्रजपति के अनन्य भक्त, बड़े ही रसिक और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में व्रज की माधुरी लबालब भरी है। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक दिखलानेवाले थोड़े कवियों में इनकी गणना होगी। "रत्नाकरजी" व्रज भाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका "हरिश्चंद्र काव्य" सुंदर हुआ है, पर "गंगावतरण" नामक नवीन रचना में इनकी सच्ची काव्य-प्रतिभा चमक उठी है। इस ग्रंथ में रत्नाकरजी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखा दिया है। रत्नाकरजी की भाषा-शैली पद्माकरी कही जा सकती है और अनुभावों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग किया है। व्रज भाषा के आधुनिक कवियों में वियोगी हरिजी की भी अच्छी प्रसिद्धि है। ये भक्त हैं, दार्शनिक हैं और वीर रस की कविता करनेवाले हैं। यद्यपि यह युग व्रज भाषा का नहीं है तथापि उपर्युक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और पठित जनता में उनका प्रचार भी हुआ है। आधुनिक काल के व्रज भाषा के कवियों में रत्नाकरजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

अन्य कविगण

इस युग के अन्य कवियों में पंडित रूपनारायण पांडेय, बाबू सियारामशरण गुप्त, पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित कामताप्रसाद गुरु, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय आदि भी उल्लेख योग्य हैं। रूपनारायणजी की भाषा चलती हुई खड़ी बोली है, उनकी कविता में पूरी
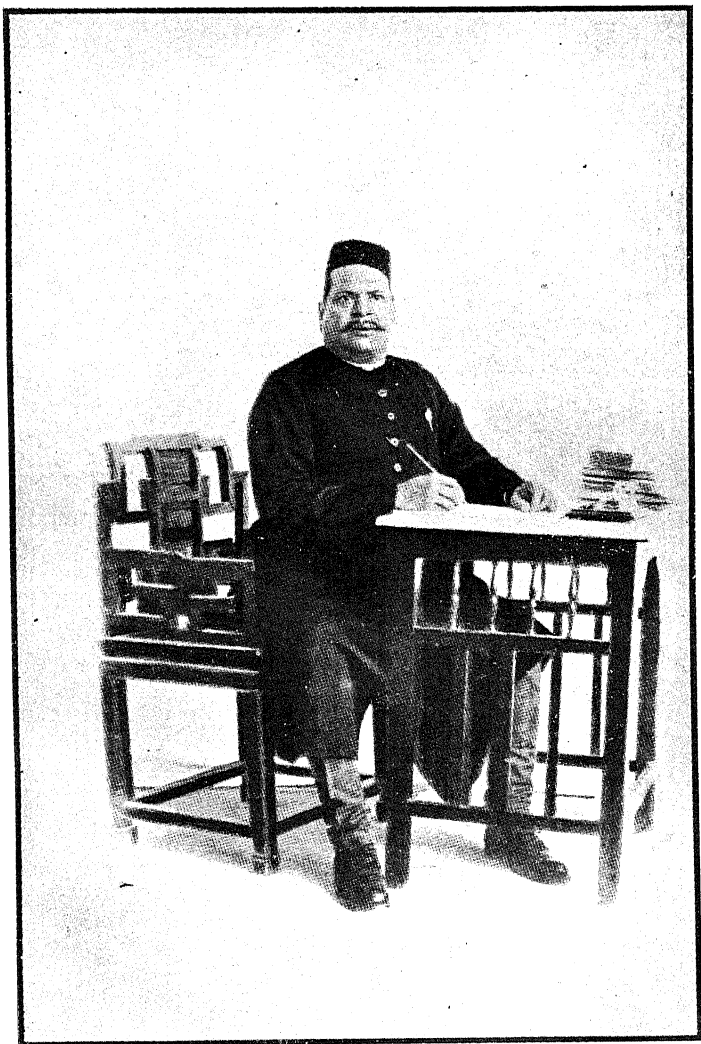
जगन्नाथदास रत्नाकर

रसात्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन-विहंगम' शीर्षक रचना उत्कृष्ट है। सियारामशरणजी ने सामाजिक कुरीतियों पर इतनी तीव्र व्यंग्यमयी और करुण-कविता की है कि चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाज नीति को काव्योपयोगी बनाने की विधि हिंदी में सियारामशरणजी को सबसे अधिक आती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता प्रायः अद्वितीय है। वीररस की फड़कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा को कुछ लोग आधुनिक भूषण कहते हैं, वास्तव में उनकी अनेक रचनाएँ अपूर्व ओजस्विनी हुई हैं। पंडित गिरिधर शर्मा "नवरत्न" संस्कृत के विद्वान् और हिंदी के अच्छे कवि हैं। इन्हें गुजराती और बँगला की कविता-पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी सफलता मिली है। गुरुजी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रक्षा हुई है। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने प्रोत्साहित कर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की राम-चरितचिंतामणि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पांडेयजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। इन कवियों के अति-रिक्त स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी और पंडित माखनलाल चतु-र्वेदी आदि की कविताएँ भी महत्त्व रखती हैं।

हिंदी की काव्यधारा का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है।

छायावाद

कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं और पाश्चात्य देशों

के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। इँग्लैंड के अनेक रहस्यवादी कवि सांप्रदायिक कवियों की श्रेणी में आवेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोकसामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचारपरंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता सांप्रदायिक आधार को ग्रहण किए बिना भी लिखी जा सकती है। इँग्लैंड के ब्लेक, फारस के उमर खैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह ठीक है कि उनकी काव्यगत अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियों से विभिन्न हैं; पर वे सत्य हैं, अतः उनमें रसात्मकता पूरी मात्रा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत विच्छेद और अनंत संयोग की जो झलक दिखलाई है, उसका उन्होंने स्वतः अनुभव किया था, केवल सूफी संप्रदाय की किंवदंती के आधार पर वह अवलंबित नहीं है। हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में थोड़ी बहुत सांप्रदायिकता अवश्य घुस आई है। छायावाद की कविता में सबसे खटकनेवाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। यह मान लेना कि जो सुगमता से दूसरों की समझ में न आ सके अथवा जिसमें विभिन्न या विपरीत भावों के द्योतक शब्दों का साहचर्य स्थापित किया जाय ऐसी कविता प्रतिभा की एकमात्र द्योतक है, कहाँ तक अनुचित या असंभव

है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। समय के प्रभाव और विद्या के प्रसार से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिंदी कविता का यह नया विकास बड़ा ही मनोरम होगा।

छायावाद के कवि

यहाँ पर यह कह देना भी बहुत आवश्यक जान॰पड़ता है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सबके सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी। अँगरेजी लीरिक कविता के ढंग पर रचना करनेवाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं, बाबू जयशंकर प्रसाद कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में सूफी कवियों का ढंग अधिकतर पाया जाता है, यद्यपि अँगरेजी कविता की पालिश भी उनमें कम नहीं है। प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है और उनकी कविता की भाषा संस्कृतप्रधान होती है। भारतीय अद्वैतवाद को लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाले कवियों में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी मुख्य हैं। उन्होंने तथा पंडित सुमित्रानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रश्रय लिया है और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है। उनकी रचनाओं में खड़ी बोली बहुत कुछ कोमल होकर आई है। इनके अतिरिक्त पंडित मोहनलाल महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ को काव्यगुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रवींद्र की कविता की थोड़ी बहुत नकल सबने की है।

अब तक की कविता का ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकमुखी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अंतर्दृष्टि-संपन्न महान् कवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिंदी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का ग्रहण इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्यरचना करना प्रायः असंभव होता है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परंतु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्यक्षेत्र से अलग काम करते हैं। अब तक साहित्य जीवन की गहनता के बाहर का दिखलाऊ नंदन-निकुंज बना हुआ है। इसलिये सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं। साहित्य के लिये यह दुर्भाग्य की बात है। रूस और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रबल क्रांतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, तमाशा देखनेवालों के अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का वैसा ही युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस सर्वतोव्याप्त हलचल के बीच में किसी दिव्यात्मा का उदय होगा जिससे हिंदी कविता की कल्याण-

हिंदी कविता का भविष्य

साधना होगी और जिससे अखिल भारतीय जनसमाज को श्रेयमार्ग मिलेगा।

समस्यापूर्ति की प्रथा बहुत पुरानी है पर उसका इतना बाहुल्य कभी नहीं हुआ था जितना आजकल है। पहले पहल किसी भाषा में कविता करने की अभिरुचि उत्पन्न करने के लिये समस्यापूर्ति का सहारा लेना लाभकारक हो सकता है। यह साधनमात्र है, इसे साध्य का स्थान देना उचित नहीं।

समस्यापूर्ति

"समस्यापूर्ति से पूर्तिकारों की कवित्व-दर्प की वृत्ति भले ही तुष्ट हो जाय और कविसम्मेलनों के सभापतियों की यशोलिप्सा की पूर्ति भले ही हो जाय, पर उससे कविता का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि समस्यापूर्ति की प्रथा नई कविता को जन्म नहीं दे सकती। किसी पदांश या चरण को लेकर उस पर जोड़ तोड़ लगाकर एक ढाँचा खड़ा कर देना कविता की अधूरी नकल हो सकती है, पर कविता नहीं। कविता हृदय का व्यापार है; दिमाग़ को खुजलाकर उसका आह्वान नहीं किया जा सकता। जब तक किसी विषय में कवि की वृत्ति न रमेगी, वह उसमें तल्लीन न होगा, तब तक उसके उद्गार नहीं निकल सकते। सृष्टि के सौंदर्य का अनुभव करके कवि जो आनंद पाता है, उसका विस्तार जब इतना हो जाता है कि वह उसे अपने हृदय में नहीं रोक सकता तब उसका अजस्र प्रवाह फूट पड़ता है। बिना इस प्रवाह को रास्ता दिए उसके हृदय को चैन नहीं मिलता। तुलसीदासजी के 'स्वांत:सुखाय' का अर्थ इसी बेचैनी को दूर करना है। रामचंद्रजी के रूप, शक्ति और

शील के जिस सौंदर्य को वे अनुभव कर रहे थे उसका आनंद दूसरों को बाँटकर देने के लिये वे विह्वल हो रहे थे, कवि बनने के सुख की प्राप्ति के लिये नहीं। यह विह्वलता क्या कभी उस समस्यापूर्तिकार में हो सकती है, जिसे कल किसी कविसम्मेलन में जाकर कविता सुनाने की बड़ी उत्कंठा है और जो इसी लिये आधी रात तक सिर पर हाथ रखे बैठा है और यशप्राप्ति के लिये विह्वल है। कविता की जननी स्वार्थ नहीं, त्याग है। कविता में त्याग ही स्वार्थ है। रीतिकाल के केशव आदि कवि क्यों नहीं सफल हुए ? इसी लिये कि उनमें यह त्याग नहीं था, यह विह्वलता नहीं थी; उन्होंने पैसे के लिये, अपने आश्रयदाताओं की रुचि की तुष्टि के लिये, उनकी चाटुकारी के लिये काव्य लिखे थे; आजकल के समस्यापूर्तिकार पैसे की इच्छा से नहीं, अपने कवित्व-दर्प की तुष्टि के लिये काव्य करते हैं।

इस विह्वलता के मूल में कवि का संदेश है। कवि अपने जीवन की अनुभूतियों के निष्कर्ष को संसार के सम्मुख रखना चाहता है, चाहे उससे कोई लाभ उठावे या न उठावे। क्या यह संदेश समस्यापूर्तिकार दे सकता है ? उसके पास वह अनुभूति से भरा हृदय कहाँ ? उसे तो अपनी दिमागी कसरत का भरोसा रहता है, वह पद्योत्पादक हृदयहीन मशीन है जो बाहर से कोई पेच दबाने से चलती है, उसका परिचालन भीतर से नहीं होता। इसी से उसका काव्य भी निष्प्राण होता है। वह दूसरे के हृदय में सीधे पहुँचकर वह उथल पुथल नहीं मचा सकता जो हृदय से निकली हुई सजीव स्पंदन करती हुई कविता कर सकती है।

यही नहीं, उसका काव्य जाति के सामने कोई आदर्श भी नहीं रख सकता। नीति का तो उसके लिये प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतएव उसका मूल्य कितना हो सकता है, यह स्पष्ट ही है।

कविता चरित्र-निर्माण के लिये सबसे अधिक प्रभावोत्पादक साधन है, क्योंकि वह मस्तिष्क के द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा शिक्षा देती है। कवि अपने ही आप शिक्षक और शिष्य तथा नेता और अनुयायी होता है; वह लोगों के ऊपर खुदा के कहर की तरह नहीं गिर पड़ता, वह उनको गालियाँ नहीं देता, उनके आगे नरक का भय नहीं रखता, प्रत्युत उनके मन में बुरे कार्यों से ग्लानि उत्पन्न करता है और भले कार्यों के लिये प्रेम। सारांश यह कि कवि का बहुत बड़ा महत्त्व है। अब यदि यह काम ऐसे लोगों के हाथ पड़ गया जिनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है, केवल पाषंड है, यशोलिप्सा है, दिखावट है, तो जाति का क्या उपकार हो सकता है?

हिंदी भाषा की कविता के भविष्य को सुधारने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें इस प्रकार के काँच की नकली मणियों का आदर न हो और उसका प्रवाह झूठे छायावाद, पाषंड और समस्यापूर्ति की प्रवृत्ति की ओर से हटाकर किसी नए उद्देश्य की ओर मोड़ा जाय। हिंदी भाषा के भारतीय राष्ट्रभाषा होने के कारण यह और भी आवश्यक हो जाता है।"

[एक अप्रकाशित लेख से

गद्य

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है खड़ी बोली में गद्य का विकास। इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक

है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ा बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँ वालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनता होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का मार्ग निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले शुद्ध, अशुद्ध बोलनेवालों से सही गलत बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तौ ह्यशुद्धो गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँग-कर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख

गद्य का विकास

उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने ओजवेक का उजबक, कुतका का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे, एवं ये लोग बेरहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ो हिंदी, बुंदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी और बाबू इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू हिंदी कहलाती थी, पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस तरह संस्कृत वाक् के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, वल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके पर व्याकरण का संघटन हिंदी के ही अनुसार रखकर, अँगरेज़ों ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय खड़ी बोली के तीन रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है, (२) उर्दू जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है, और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका बहुत से लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं।

इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

भ्रमवश हिंदी में खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता लल्लूजी लाल माने जाते हैं। यह भ्रम उन अँगरेजों के कारण फैला है जो अपने आने के पहले गद्य का अस्तित्व हिंदी में स्वीकार ही नहीं करते। परंतु यह बात असत्य है। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। "उसने चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखो है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोलो का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार १६८० में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है। लल्लूजी लाल हिंदवी को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद सुखसागर वर्तमान है। इसके अनंतर इंशाउल्ला खाँ, लल्लू-जी लाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। इंशाउल्ला खाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। लल्लूजी लाल के प्रेम-सागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलाय कर, आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। सारांश यह है कि
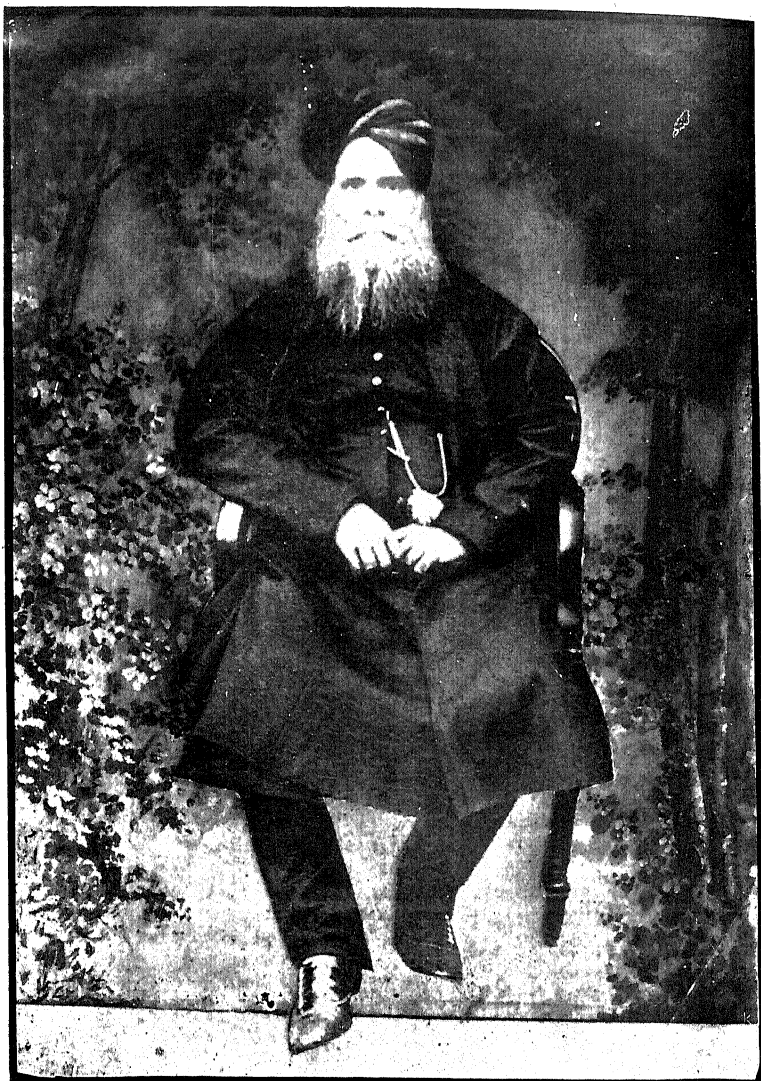
राजा लक्ष्मणसिंह

यद्यपि फोर्टविलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट, की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया पर लल्लूजी लाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी का प्रचार और प्रसार बढ़ा उसी प्रकार अँगरेज़ों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उपर्युक्त चार लेखकों ने हिंदी की पहले पहल प्रतिष्ठा की और उसमें ग्रंथरचना की चेष्टा की। इनमें मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इनमें सदासुख को अधिक सम्मान मिलना चाहिए, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इन्होंने कुछ अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करनेवाली धर्मसंस्थाओं अथवा मिशनों ने हिंदी में अपने कुछ धर्मग्रंथों, विशेषकर बाइबिल का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह देश के विस्तृत भू-भाग में फैली हुई खड़ी बोली की सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। पता चलता है कि राजनीतिक दाँवपेच को पहले से ही जानने और प्रयोग करनेवाले अँगरेजों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर वे यह भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहाँ के जनसमाज की भाषा कदापि नहीं; नहीं तो बाइबिल के अनुवाद के शुद्ध हिंदी में होने का कोई कारण नहीं। उर्दूपन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप

सदासुख और लल्लूजी लाल की भाषा की ही भाँति है, पर विदेशीय रचनाशैली के कारण थोड़ा बहुत अंतर अवश्य देख पड़ता है। लल्लूजी लाल की भाषा में व्रज की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद ग्रंथों में उसका बहिष्कार कर मानों खड़ी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व सूचना सी दी गई है। जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, जिससे पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखानों के फैल जाने पर हिंदी की पुस्तकें शीघ्रता से बढ़ चलीं। इसी समय सरकारी अँगरेजी स्कूल भी खुले और उनमें हिंदी, उर्दू का झगड़ा खड़ा किया गया। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि उर्दू को छोड़-कर दूसरी भाषा संयुक्त प्रांत में है ही नहीं। कचहरियों में उर्दू का प्रयोग होता है, मदरसों में भी होना चाहिए। परंतु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। देवनागरी लिपि की सरलता और उसका देशव्यापी प्रचार अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के विचार से उर्दू की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता भी आँखों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ किया जा सकता है। अँगरेज समझकर भी नहीं समझना चाहते थे। इसी समय युक्त प्रांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पक्षपाती काशी के राजा शिवप्रसाद नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी हुई

राजा शिवप्रसाद

बालकृष्ण भट्ट

कुछ पुस्तकों में अच्छी हिंदी मिलती है, पर अधिकांश में उर्दू प्रधान भाषा ही उन्होंने लिखी। ऐसा उन्होंने समय और नीति को देखते हुए अच्छा ही किया। इसी समय के लगभग हिंदी में संस्कृत के शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह हुए जिनकी कृतियों में सर्वत्र शुद्ध संस्कृत विशिष्ट खड़ी बोली प्रयुक्त हुई है। दोनों राजा साहबों ने अपने अपने ढंग से हिंदी का महान् उपकार किया था इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन

भारतेंदु हरिश्चंद्र के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिंदी में समुन्नति का युग आया। अब तक तो खड़ी बोली गद्य का विकास होता रहा और पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं, पर अब साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरांत बँगला के नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटकों की रचना की। कविता में देशप्रेम के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। हरिश्चंद्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका भारतेंदु जी के पत्र थे। छोटे छोटे निबंध भी लिखे जाने लगे। उनके लिखनेवालों में हरिश्चंद्र के अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि थे। नाटककारों में श्रीनिवास दास और राधाकृष्णदास का नाम उल्लेखनीय है। "परीक्षागुरु" नामक एक अच्छा उपन्यास भी उस समय लिखा गया। आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं में स्वामी दयानंद के उपरांत सबसे प्रसिद्ध

पंडित भीमसेन शर्मा हुए जिन्होंने आर्यसमाज का अच्छा साहित्य तैयार किया। पंडित अंबिकादत्त व्यास भी उस काल के मौलिक लेखकों में से थे। अखबार-नवीसों में बाबू बाल-मुकुंद गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करनेवाले हिंदी के ये उन्नायक बड़े ही शुभ अवसर पर उदय हुए थे। इनकी वाणी में हिंदी के बाल्यकाल की झलक है, पर यौवनागम की सूचना भी मिलती है। देशप्रेम और जातिप्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने के कारण इन सबकी रचनाएँ हिंदी में अपने ढंग की अनोखी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना शैली में भारतीय शैली और पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय शैली के अंकों और गर्भांकों तथा विष्कंभक आदि को बदलकर बँगला के ढंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी चली, पर संस्कृत के सूत्र-धार नटी प्रस्तावना आदि ज्यों के त्यों बने रहे। चरित्रों का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गीकरणों का अनुसरण किया, पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उनके अनेक नाटक अनुवादित नाटक ही हैं और उनके मौलिक अधिकांश नाटकों में भी कथानक का निर्माण उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक-निर्माण की शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। सत्य हरिश्चंद्र में सत्य का उच्च आदर्श दिखाया गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की पवित्र धारा बही है। भारत-दुर्दशा में स्वदेशानुराग चमक उठा है। भारतेंदु की परिमार्जित

बालमुकुन्द गुप्त
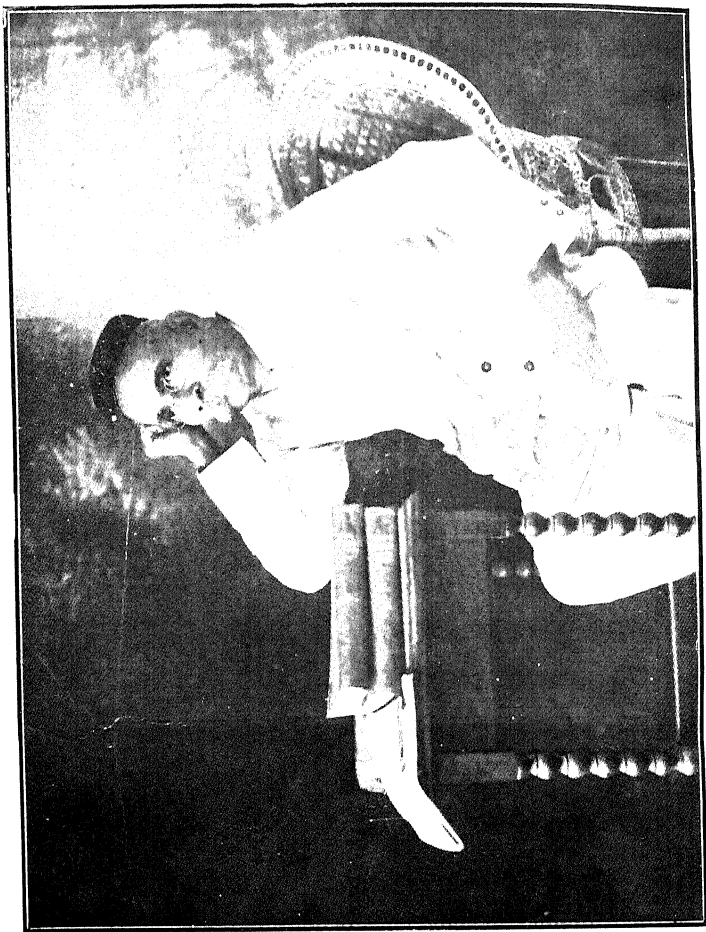
महावीरप्रसाद द्विवेदी

गद्य शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देख पड़ता है, हाँ विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा सरल अथवा जटिल हो गई है। लाला श्रीनिवासदास के "रणधीर प्रेममोहिनी", "संयोगता स्वयंवर" आदि नाटक तथा बाबू राधाकृष्ण दास का "महाराणा प्रताप नाटक" साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रंगशाला के उपयुक्त नहीं। प्रेमघनजी का "भारत सौभाग्य" नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। राय देवीप्रसाद पूर्ण का "चंद्रकला भानुकुमार नाटक" गद्य काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

नागरी-प्रचारिणी सभा और सरस्वती

हिंदी साहित्य का यह विकास बड़ा ही आशाप्रद और उत्साहवर्द्धक था। थोड़े समय की यह साहित्यिक प्रगति उस काल के लेखकों के मनोयोग और कृतिशीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपरांत साहित्य के सभी अंगों की बड़ी सुंदर उन्नति हो चली और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का अभ्युदय हुआ। साहित्य के सौभाग्य से उसी समय काशी नागरीप्रचारिणी सभा की नींव डाली गई और सरस्वती जैसी उच्च कोटि की मासिक पत्रिका निकली। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे श्रेष्ठ पत्रकार और व्याकरणविद् विद्वान् के हाथों में जाकर "सरस्वती" ने भाषासंस्कार का जो अभूतपूर्व कार्य किया उसका सब श्रेय उसके संपादक को है। भाषा को काट छाँटकर दुरुस्त करने, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा करने, नवीन लेखकों में उत्साह बढ़ाने और अँगरेजी की ओर झुके हुए अनेक नवयुवकों को हिंदी की ओर खींचने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य द्विवेदीजी ने किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के गोलोकवास के आठ वर्ष के उपरांत हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार तथा उन्नति के उद्देश से संवत् १९५० में काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने अब तक हिंदी भाषा और नागरी लिपि की अमूल्य और गौरवप्रद सेवा की है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करने और उन्हें छापकर प्रकाशित करने का मूल्यवान् कार्य इस संस्था की प्रसिद्धि का कारण हुआ है। प्राचीन साहित्यिक खोज संबंधिनी "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" में बड़े ही मार्मिक और गंभीर लेखों की शृंखला चली। यह पत्रिका विद्वन्मंडली में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। हिंदी में विज्ञानसंबंधी शब्दों की रचना कर वैज्ञानिक कोष का निर्माण सभा ने कराया और पारितोषिक देकर उच्च साहित्य के निर्माण की प्रेरणा की। हिंदी शब्दसागर से प्रामाणिक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कोश का प्रकाशन कर सभा धन्य हुई है।

"काशी नागरीप्रचारिणी सभा से हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहास का नया परिच्छेद प्रारंभ होता है। हिंदी संसार में आज सर्वत्र जो स्पष्ट युगांतर दिखाई दे रहा है उसके श्रेय की सबसे अधिक अधिकारिणी यह सभा ही है। विगत ३०—३५ वर्षों के बीच हिंदी की उन्नति के जितने बड़े बड़े काम हुए हैं या तो खुद उसके अपने प्रयत्न से हुए हैं, या उसकी प्रेरणा, प्रभाव अथवा उदाहरण से हुए हैं। कार्यों के महत्त्व का ऐसे लोगों के लिये ठीक अनुमान करना भी कठिन है जिन्हें सभा के कार्यक्षेत्र में आने के पहले की हिंदी की अवस्था की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं

है। उस समय हिंदी हर तरह दीन-हीन थी। उस समय उसके पास न अपना कोई इतिहास था, न कोश, न व्याकरण; साहित्य का खजाना खाली पड़ा था। बाहर की कौन कहे खास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था। कचहरियों में वह अछूत थी, कालेज में घुसने न पाती थी, स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थी, हिंदू विद्यार्थी भी उससे दूर दूर रहते थे, अँगरेजी उर्दू को शुद्ध लिखने बोलने में असमर्थ हिंदी-भाषी भी उसे अपनाने में अपनी छुटाई समझते थे। सभा समाजों की कौन कहे घर के काम काज, हिसाब-किताब, चिट्ठी पत्री में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था। पर आज इन सभी बातों में बिलकुल दूसरा ही युग दिखाई दे रहा है। आज की हिंदी उस समय की हिंदी से हर बात में भिन्न है और इतनी भिन्न है कि पुराने परिचितों के लिये भी उसका पहचानना कठिन हो गया है। जिस भाषा को २५—३० साल पहले, बहुतों के विचार से, भाषा का पद भी प्राप्त न था आज उसका राष्ट्रभाषा पद प्रायः सर्वमान्य है। जिस भाषा में बातचीत और पत्र-व्यवहार करने में मिडिल के विद्यार्थी की भी हेठी होती थी उसे न बोल सकने के लिये आज बड़े बड़े अहिंदी-भाषी नेता तथा विद्वान् भी लज्जित होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने के लिये आज हिंदी का ज्ञान एक आवश्यक गुण समझा जाता है। प्रचार का यह हाल है कि मद्रास और आसाम जैसे प्रांतों में भी आज हिंदी का डंका बज रहा है। साहित्य की भी आज कम से कम ऐसी स्थिति अवश्य है कि अन्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं से हिंदी मजे से नजर मिला सके, बल्कि उसके एकाध अंग में वह उनसे आगे

भी निकल गई है। हिंदी भाषा की यह प्रगति संभवतः भाषाओं के विकास के इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। इतने काल में इतनी दिशाओं में इतनी अधिक उन्नति शायद ही किसी और भाषा की हुई हो और जो संस्था इस संपूर्ण प्रगति का अप्रत्यक्ष तथा आंशिक कारण भी मानी जा सकती हो वह निःसंदेह धन्य है।" ["आज" ६-११-८५

सारांश यह कि 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन और काशी की नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के उपरांत हिंदी गद्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। भाषा में प्रौढ़ता और शक्ति आई तथा कितनी ही सुंदर शैलियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के दो केंद्र माने जाते थे, और उनकी अलग अलग शैली चली थी, उस प्रकार हिंदी में स्थानभेद के अनुसार शैलीभेद तो नहीं हुआ पर व्यक्तिगत कितनी ही शैलियाँ निकलीं जो आगे चलकर वर्गबद्ध शैलियाँ बन गई। स्थान का भी प्रभाव पड़ा। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत-प्रधान भाषा लिखते हैं, कानपुर और लखनऊ के साहित्यिकों पर द्विवेदीजी की भाषा का प्रभाव पड़ा है। प्रयाग में दोनों श्रेणी के लेखक मिलते हैं। देहली केंद्र के लेखकों में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपनी चटपटी शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। हास्य-विनोद, बहस मुबाहसा, व्यंग्य, व्याख्यान आदि के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का आविर्भाव हुआ और हो रहा है। अँगरेजी के विद्वानों के हिंदी की ओर झुकने के कारण अँगरेजी रचनाप्रणाली का प्रभाव भी विशेष पड़ा। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का जन्म और विकास हुआ। मासिक

पत्रिकाओं के निकलने से सामयिक साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि हुई। राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी के प्रचार में अच्छा योग दिया है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग भर रहे हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

पहले हम हिंदी कविता की अब तक की प्रगति का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं, गद्य के विविध अंगों का आधुनिक-काल में जो विकास हुआ है अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

समालोचना

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होने लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिकांश निर्णयात्मक होती थीं। सरस्वती में पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब तक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के सम-कालीन समालोचकों में मिश्रबंधुओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास ग्रंथ अपने ढंग की

पहली रचना होने के कारण बड़ी मूल्यवान् वस्तु हुई। हिंदी-नवरत्न में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिश्रबंधुओं का हिंदी साहित्य पर ऋण है और उसे स्वीकार न करना कृतघ्नता माना जायगा। यह सच है कि अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके हिंदी नवरत्न तथा मिश्रबंधुविनोद की आलोचना की, पर मतभेद का होना जीवन का लक्षण और उन्नति का सूचक है और इसलिये हम उसका स्वागत करते हैं। इस बात का बिना ध्यान रखे कि सब बातों में क्रमिक विकास होता है, पूर्व कृतियों को तुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विद्यार्थियों, समालोचकों तथा निर्माताओं का अपने अपने मतों को वेदवाक्य मान बैठना, नवाविष्कृत तथ्यों की अवहेलना करना तथा भिन्न मत रखनेवालों को हेय समझना साहित्य के भावी विकास और उन्नति के लिये हित-कर न सिद्ध होगा।

मिश्रबंधुओं के उपरांत हिंदी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तकें लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित कृष्णविहारी मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। मिश्रजी की भाषा शर्माजी की भाषा से अधिक साधु और शिष्ट है और उनकी विवेचन-पद्धति भी अधिक गंभीर है। शर्माजी की समालोचनाशैली, बड़ी ही व्यंग्य-मयी हो गई है और उसमें कवियों की प्रशंसा में वाह वाह

रामचन्द्र शुक्ल

कहने का उर्दू ढंग पकड़ा गया है। यदि शर्माजी कुछ अधिक गंभीरता और शिष्टता साथ लिए रहते तो अच्छा होता। कदाचित् उनकी उछलती, कूदती, फुदकती हुई भाषा-शैली के लिये यह संभव न था।

अँगरेजी ढंग की गंभीर आलोचनाएँ लिखनेवालों में पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं। जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों पर उनके निबंध सुंदर विश्लेषणात्मक आलोचना के रूप में लिखे गए हैं, जिनसे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में पढ़ाई जाने योग्य समालोचनाओं में शुक्लजी की समालोचनाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हुई हैं। बाबू पदुम-लाल बख्शी ने भी दो एक समालोचनात्मक पुस्तकें लिखकर हिंदी के विकासक्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मासिक पत्रिकाओं में समालोचनाएँ लिखने का ढंग अधिक उपयुक्त और प्रशंसनीय होता जा रहा है। पहले की अपेक्षा व्यक्तिगत आक्षेपों की बहुत कुछ कमी हो गई है। कदाचित् यह कह देना अनुचित न होगा कि समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलतापूर्वक करना सबका काम नहीं है।

नाटक

अन्य सभी साहित्यों में नाटकों का विवेचन रंगशाला के नियमों प्रतिबंधों आदि को लेकर होता है। अँगरेजी के अनेक विद्वान् समालोचक तो रंगशाला के अनुपयुक्त नाटकों को नाटक कहते ही नहीं। उन देशों में रंगशालाएँ बहुत अधिक विकसित हो चुकी हैं, और प्रत्येक नाटककार उनके नवीनतम विकास

से परिचित होना आवश्यक समझता है। नवीन विकास के कारण जो पुरानी नाटकीय रचनाएँ आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त हो गई हैं, अथवा पिछड़ी हुई देख पड़ने लगी हैं, उनको निम्न स्थान दिया जाता है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से पुराने हो गए हैं अतः कम खेले जाते हैं, अथवा सुधारकर खेले जाते हैं। हिंदी के लिये यह बड़ी लज्जा की बात है कि अब तक वह पारसी रंगमंच के ही हाथों में पड़ी है, उसकी अपनी रंगशालाएँ या तो हैं ही नहीं, अथवा मृतक सी हैं। व्यावसायिक रंगमंच तो हिंदी में कदाचित् एक भी नहीं। हम लोग अब तक नाटक खेलने को तुच्छ नटों का काम समझते हैं। अनेक आधुनिक नाटककार घर पर कल्पना के द्वारा नाटकीय प्रतिबंधों पर विचार करते हैं, रंगशालाओं में जाकर नाटक देखकर या खेलकर अपने अनुभव की वृद्धि नहीं कर पाते। पारसी रंगमंच अपने पुराने अवगुणों को लिए हुए चला जा रहा है। वही अलंकरणाधिक्य, वही अस्वाभाविक भाषा और वही अस्वाभाविक भाषण! हिंदी की जो दो एक नाटकमंडलियाँ हैं, वे तिथि-त्योहारों पर कुछ खेल खेलाकर ही संतोष कर लेती हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के रंगमंच विशेष उन्नत हैं और प्रतिदिन उन्नति करते जाते हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व करनेवालों का मस्तक अवश्य नीचा होता है। हिंदीभाषी रईसों को चाहिए कि यथासंभव शीघ्र नाट्यमंडलियों को सहायता दें, और हिंदीभाषी विद्वानों को चाहिए कि वे यथासंभव शीघ्र अभिनय-कार्य को अपने हाथ में लें, उसे
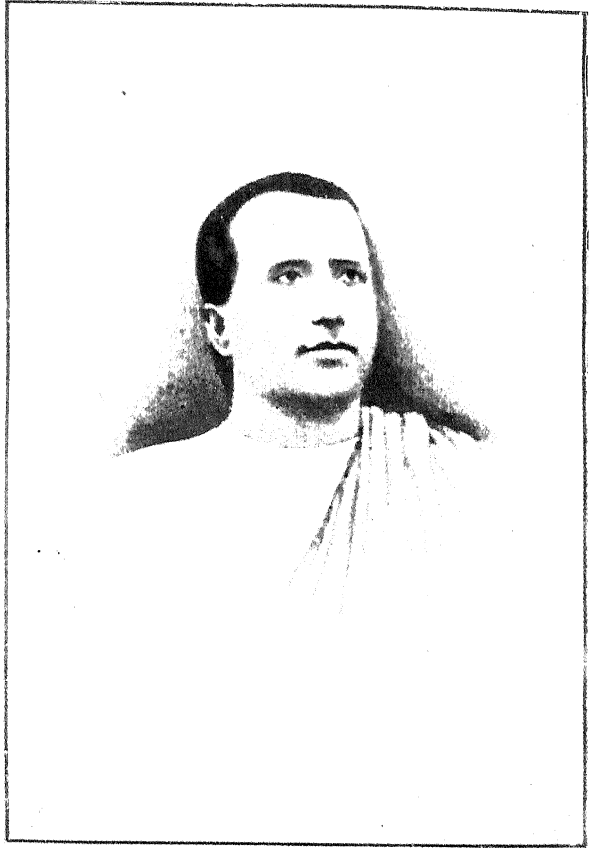
जयशंकरप्रसाद

नटों का काम ही न समझे रहें। साथ ही हिंदीभाषी जनता को चाहिए कि वह हिंदी नाट्यमंडलियों के नाटक देखकर उन्हें प्रोत्साहन दे।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयशंकर प्रसाद, पंडित बदरीनाथ भट्ट, पंडित गोविंदवल्लभ पंत आदि प्रसिद्ध हैं। बाबू प्रेमचंद्रजी ने संग्राम और कर्बला नाम के दो नाटक लिखे हैं जिनमें उन्हें सफलता नहीं हुई। पंडित गोविंदवल्लभ पंत को रंगमंच का अच्छा अनुभव है और उनकी "वरमाला" हिंदी नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। पौराणिक आधार पर लिखी गई प्रेम की वह कथा पंतजी की कवित्व शक्ति से चमक उठी है और नाटक के उपयुक्त हो गई है। पंडित बदरीनाथ भट्ट के नाटक व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से हिंदी में अपने ढंग के अच्छे हैं, पर जहाँ व्यंग्य और विनोद नहीं है वहाँ का कथोपकथन शिथिल और उखड़ा हुआ जान पड़ता है और कहीं कहीं हास्य और विनोद भी निम्न श्रेणी का हो गया है। श्रीवास्तवजी के प्रहसनों की बड़ी धूम है, पर हमारी दृष्टि में वे कुरुचि उत्पन्न करनेवाले हैं और उनका प्रभाव नवयुवकों पर अच्छा नहीं पड़ता। बाबू जयशंकर प्रसाद ने अब तक आठ दस नाटक लिखे हैं। उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और प्राचीन भारतीय-समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में उनकी क्षमता प्रशंसनीय है। देश और काल के उपयुक्त वस्तु निर्माण करना प्रसादजी की विशेषता है। मानसिक वृत्तियों को पात्रों का स्वरूप देकर लिखा हुआ उनका "कामना" नाटक हिंदी में अपने ढंग का

अद्वितीय है। हमारी सम्मति में चित्तवृत्तियाँ इतनी जटिल और एक दूसरी से ऐसी अविच्छिन्न भाव से मिली हुई होती हैं कि उन्हें अलग करके दिखाने में कृत्रिमता आ ही जाती है। उनका "एक घूँट" नाम का एकांकी नाटक सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी नाटकीय दृष्टि से इसी कारण उत्तम नहीं हुआ। सिद्धांतों को अग्रस्थान मिल गया है, कथोपकथन में नाटकीय प्रभाव कम रह गया है। फिर भी इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि नाटकों के क्षेत्र में प्रसादजी की रचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं, और अब तक के नाटककारों में वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रसादजी के नाटकों में एक बात बहुत खटकती है। वह उनकी रंगमंच पर खेले जाने की अनुपयुक्तता है। दूसरी बात जो उनकी कृतियों में खटकनेवाली है वह उनका सांसारिक बातों में एकपक्षीय ध्येय है। सांसारिक जीवन में सभी कुछ कलुषित और गर्हित नहीं है, उसका एक अंश उज्ज्वल और प्रशंसनीय भी है। प्रसादजी की रुचि पहले पक्ष की ओर अधिक देख पड़ती है। कदाचित् इसी कारण उनके नाटकों का प्रभाव अधिक स्थायी हो सकता हो, पर आनंद देने, मन बहलाने और आदर्श को ऊँचा उठाने के जो साधन हैं उनकी ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, इसलिये दूसरे अंश की उपेक्षा खटकती है। तीसरी बात उनका रहस्यमय उक्तियों का अनावश्यक प्रयोग है। इस कारण एक भाव स्पष्ट नहीं होने पाता कि दूसरा उसे अपूर्ण छोड़कर हटा देता है, और फिर उसकी भी वही अवस्था होती है। इस प्रकार भाव अस्पष्ट और अपूर्ण रह जाते हैं।

"परीक्षागुरु" के उपरांत हिंदी के उपन्यासों में "चंद्रकांता संतति" का नाम आता है। बाबू देवकीनंदन खत्री की इस रचना का उस समय इतना अधिक स्वागत किया गया कि अब हमारे लिये वह आश्चर्य की बात हो गई है। लाखों निरक्षरों और उर्दूदाँ लोगों ने चंद्रकांता संतति पढ़ने के लिये हिंदी सीखी। चंद्रकांता के अनुसरण में हिंदी में अनेक उपन्यास लिखे गए। इनके अनंतर गहमरी जी के जासूसी उपन्यासों का युग आया। उनके अनेक उपन्यास अनुवादित हैं, कुछ मौलिक भी हैं। घटनाओं की ओर बड़ा आकर्षण रहता है, चरित्र के विकास का कहीं पता नहीं रहता, भाषा भी प्रायः देहाती रहती है। इसी समय के लगभग बँगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ जिससे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने इस ओर पहले पहल प्रयत्न किया। उनकी रचनाएँ साहित्यिक हैं, पर भाषा की दृष्टि से सफल नहीं हुई हैं। गोस्वामीजी ने अब तक पचासों उपन्यास लिखे होंगे और उनका थोड़ा बहुत प्रचार भी है। उनके उपन्यास अधिकांश घटनाविशिष्ट हैं, पात्रों के चरित्र-विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं कालदोष भी खटकता है। अँगरेजी की आधुनिक उपन्यास-समीक्षा के अनुसार गोस्वामीजी के उपन्यासों का बहुत कम साहित्यिक मूल्य है। उनका विनोद और हँसी कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती है।

उपन्यास

हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंदजी की रचनाओं ने युगांतर उपस्थित कर दिया। हिंदीवालों ने उनके पहले मौलिक

उपन्यास "सेवासदन" का उतावली के साथ स्वागत किया और "प्रेमाश्रम" के निकलते ही वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-कार कहलाने लगे। सामाजिक भावों का प्रतिबिंब इनकी सफलता का मूल कारण है। रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा आदि उनके कितने ही छोटे बड़े उपन्यास निकल चुके और निकलते जाते हैं। प्रेमचंदजी ने देहाती समाज का अच्छा अनुभव प्राप्त किया है और उनके सुख-दुःखों को वे समझते हैं। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उद्देश से उन्होंने व्यंग्य शैली स्वीकृत नहीं की, मीठी चुटकियों का प्रयोग किया है। मानसिक वृत्तियों के उत्थान पतन का सुंदर चित्र अंकित करने में प्रेमचंदजी की प्रसिद्धि है। वर्णन की अपूर्व शक्ति प्रेम-चंदजी को मिली है, इस कार्य में वे संसार के बड़े बड़े उप-न्यासकारों के समकक्ष हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में आदर्शवाद की ओर अधिक ध्यान दिया गया, तथ्यवाद का उतना विचार नहीं रखा गया। दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण कदाचित् उनके उपन्यासों के महत्त्व को और भी बढ़ा देता। कहीं कहीं विशेषकर रंगभूमि में आवश्यकता से अधिक विस्तार किया गया है। यह उपन्यास दो भागों में न होकर एक ही भाग में समाप्त हो जाता तो अधिक रुचिकर होता। दूसरा भाग तो जबरदस्ती बढ़ाया गया जान पड़ता है।

हम नहीं कह सकते कि उपन्यास लिखने के कार्य में जय-शंकर प्रसादजी को कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी। "कंकाल" नामक उपन्यास का निर्माण उसके नाम के अनुकूल हुआ है। समस्त उपन्यास के पढ़ जाने पर हमें उसके समाज के नंगे चित्र का उद्घाटन रुचिकर नहीं हुआ। चरित्रचित्रण में
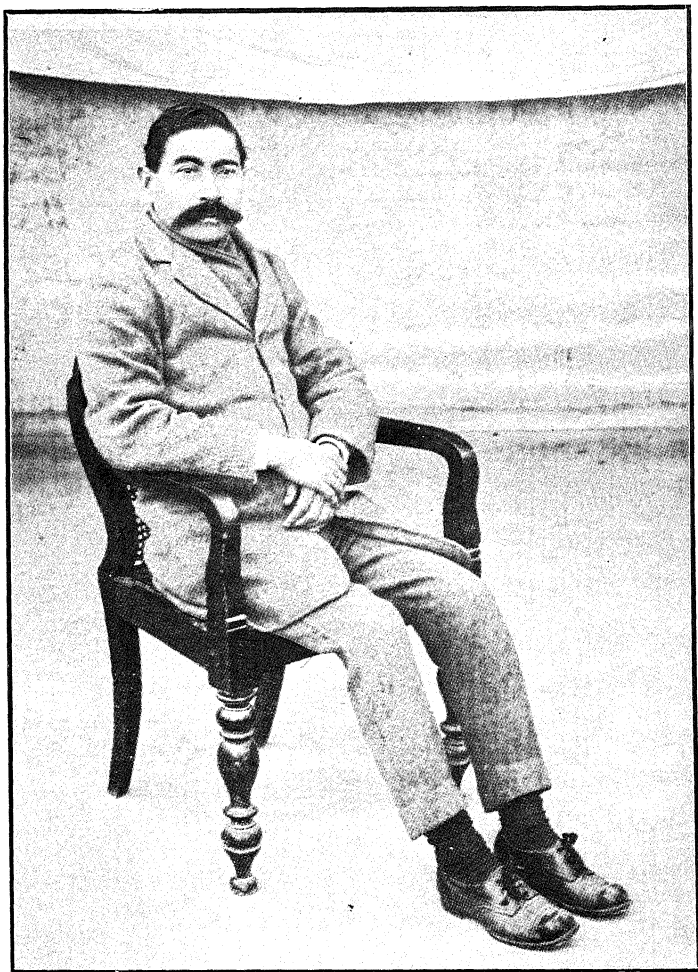
प्रेमचंद

प्रसादजी ने अच्छा कौशल दिखाया है। इनमें मंगलदेव और यमुना (तारा) के चित्र बड़ी निपुणता से चित्रित किए गए हैं। पढ़ते पढ़ते एक के प्रति आंतरिक घृणा और दूसरी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। एक यदि रँगा हुआ सियार है तो दूसरी युवावस्था के उद्वेग से मार्गच्युत होकर जन्म भर आत्मसंयम से काम लेकर अपने निर्दिष्ट पथ पर दृढ़ रहनेवाली है।

आधुनिक हिंदी की आख्यायिकाएँ संस्कृत के हितोपदेश अथवा राजतरंगिणी के ढंग पर नहीं लिखी गईं, अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। घटनाओं की सहायता से पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आजकल की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुरीतियों के प्रदर्शनार्थ भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक तत्त्वों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, और दार्शनिक कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानियों में न तो घटनाओं का क्रम अधिक जटिल होता है और न जीवन के बड़े बड़े चित्र दिखाए जाते हैं। हिंदी में आख्यायिकाओं का आरंभ करनेवाले गिरिजाकुमार घोष नामक सज्जन थे। उनके उपरांत बाबू जयशंकर प्रसाद, श्रीज्वालादत्त, श्रीप्रेमचंदजी, कौशिकजी, सुदर्शनजी, हृदयेशजी आदि कहानी-लेखक हुए। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ कवित्वपूर्ण होती हैं, उन्हें एक बार पढ़कर कई बार पढ़ने की इच्छा होती है। उनकी कुछ कहानियों में प्राचीन इतिहास की खोई हुई बातों की खोज की गई है, कुछ में मन-

आख्यायिका

स्तत्त्व की सूक्ष्म समस्याएँ समझाई गई हैं और कुछ में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट किया गया है। प्रेमचंदजी की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी भाषा-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है, और उनके विचार भी सब पढ़े लिखे लोगों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंदजी की कहानियाँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। प्रेमचंदजी और जयशंकर प्रसादजी की आख्यायिकाओं में बड़ा भारी अंतर यह है कि एक में घटनाओं की प्रधानता रहती है और दूसरी में भावों की। प्रेमचंदजी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और जय-शंकर प्रसादजी की घटनाएँ भावों के आश्रित रहती हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि एक घटनात्मक हैं और दूसरी भावात्मक हैं। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन के बड़े ही मार्मिक और सच्चे चित्र हैं। उनका क्षेत्र सीमित है, पर अपनी सीमा के भीतर वे अद्वितीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सुदर्शनजी ने पाश्चात्य कथा-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की उनकी चेष्टा प्रशंसनीय है। हृदयेशजी की कहानियों में कवित्व है पर उनकी भाषा अत्यधिक अलंकृत तथा उनके भाव कहीं कहीं नितांत कल्पित हो गए हैं। उनकी कल्पना में वास्तवि-कता कम मिलती है। अन्य कहानी-लेखकों में "अंतस्तल" के लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री राय कृष्णदास, श्री विनोद-शंकर व्यास आदि हैं। उग्रजी की वे कहानियाँ अच्छी हैं जिनमें उन्होंने अश्लीलता नहीं आने दी है। उनकी भाषा बड़ी सुंदर होती है। हिंदी की छोटी कहानियों या

गल्पों का भविष्य बड़ा उज्ज्वल जान पड़ता है, थोड़े ही समय में इस क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई है।

हिंदी में अब तक निबंधों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं हो सकते। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों में विचारों की योजना कहीं कहीं विशृंखल हो गई है। द्विवेदीजी को संपादन कार्य में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतंत्र निबंधों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भावात्मक निबंध लिखनेवालों में सरदार पूर्णसिंह का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है, पर अब तो सरदारजी हिंदी को छोड़कर अँगरेजी की ओर झुक गए हैं। श्रीयुत गुलाबराय और श्रीयुत कन्नोमल के दार्शनिक निबंध भी साधारणतः अच्छे हुए हैं। निबंधों के क्षेत्र में पंडित रामचंद्र शुक्ल का सबसे अलग स्थान है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों पर अनेक अच्छे निबंध लिखे हैं। विवरणात्मक निबंधलेखकों ने यात्रा, भ्रमण आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम श्रेणी का है। सारांश यह कि निबंधों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना चाहिए।

निबंध

यों तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु तारतम्य उस समय से आरंभ हुआ जिस समय मुंशी

सदासुखलाल, इंशाउल्ला खाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने अपनी रचनाएँ कीं। उस समय की शैली की अवस्था वही थी जो वस्तुतः आरंभिक काल में होनी चाहिए। जिन लोगों ने वस्तु का आधार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग गई। इस काल में कथा कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह आरंभिक काल था। न तो भाषाशैली में बल का संचार हुआ, न उसका कोई संयत रूप स्थिर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लेखकों में भी दो दल स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रतिज्ञा कर ली थी कि उर्दूपन—उर्दू ढंग की वाक्य-रचना एवं शब्द-योजना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय; और दूसरे ने उर्दूपन लेकर शैली को चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शब्दों का रूप ही स्थिर हुआ था और न भाषा का परिमार्जन ही हो सका था। व्याकरण की ओर तो आँख उठाना ही अस्वाभाविक या अनावश्यक ज्ञात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों ने मुहावरों और उर्दूपन का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा गंभीर भले ही रही हो परंतु उसका आकर्षण और चमत्कार अवश्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्रांतीयता स्पष्ट झलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह आरंभिक काल था तो वे सभी अवस्थाएँ रचना-शैली में उपस्थित थीं जो स्वाभाविक रूप में उस समय होनी चाहिए थीं।

गद्य शैली का विकास

इसके उपरांत लगभग पचास वर्षों तक हिंदी का कार्य भारतवर्ष के धर्म-प्रचारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन ईसाइयों ने उर्दूपन का घोर विरोध किया और सभी रचनाओं में पूर्ण रूप से हिंदीपन का ही निर्वाह किया। न तो शब्द-योजना ही में उर्दूपन दिखाई पड़ता है और न वाक्य-विन्यास ही में। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों ने ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार किया परंतु उर्दू के शब्दों का नहीं। यह स्पष्ट विदित होता है कि इन लोगों ने सचेष्ट होकर, उर्दूपन को दूर रखकर, भाषा का रूप शुद्ध रखा।

इधर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य-क्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था और पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं। हिंदी-गद्य का रूप कुछ व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भाव-द्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें

भावद्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में, अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरसता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है। बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भावव्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब

भाषा में किसी प्रकार केवल भावप्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है परंतु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परंतु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुई और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परंतु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सतर्कता एवं चेष्टा से व्याकरण संबंधी त्रुटियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का अभ्यास हो चुका था; परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की शैलियों का रूप ही निश्चित हुआ था और न भली भाँति उनमें सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का

ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। फलस्वरूप शैली में भी भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की शैली में चरित्र-चित्रण की मननशील और गंभीर योजना इस बात की साची है। क्रमशः जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार भाषा में भी भावव्यंजनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जितने प्रकार की शैलियाँ उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गूढ़ से गूढ़ भावनाओं के प्रकाशन में भाषा समर्थ है।

भाव और भाषा की तादात्म्य-प्राप्ति शैली के उत्कर्ष की परम सीमा है। लेखक इस दिशा में भी पदन्यास कर रहे हैं। राय कृष्णदास की 'साधना' में इसी प्रकार के तादात्म्य का उन्मेष स्थान स्थान पर हुआ है। इनके 'सुधांशु' की अधखिली कहानियाँ उक्त शैली के गोचर रूप प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सफल हुई हैं।

घटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विचित्रता-पूर्ण और व्यावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर भावात्मक तथा उन्मादपूर्ण भाव-व्यंजना का एक रूप-विशेष "प्रसाद" जी की शैली में दिखाई पड़ता है। वाद विवाद और तार्किक कथन का ओजपूर्ण रूप भी इस काल में विशेषतः प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की शैलियाँ आज देखने में आ रही हैं जिनमें भाषण के गुणों की प्रधानता रहती है। एक ही विषय को बार बार दुहराकर कहना और भाव-भंगी की एक विचित्रतापूर्ण और

चमत्कारयुक्त शैली का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। यों तो इने गिने आलोचनात्मक लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा से इस विषय का अधिक प्रचार बढ़ा और क्रमशः इधर लोगों की प्रवृत्ति भी होने लगी। फलतः आज पंडित रामचंद्र शुक्ल सरीखे गौरवपूर्ण आलोचना-लेखक उपस्थित हैं। आलोचना का सौष्ठवपूर्ण गंभीर विवेचन जो शुक्लजी ने आरंभ किया है उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह चमत्कारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कनायुक्त शैली दृढ़ होकर एक विशेष रूप स्थिर करेगी।

तुलनात्मक आलोचना की शैली का पंडित पद्मसिंह शर्मा ने आविष्कार किया। वह वस्तुतः एक नई चीज थी। पंडित कृष्णविहारी मिश्र प्रभृति ने इस विषय को आगे बढ़ाया। शर्मा जी की शैली का अनुसरण अन्य लोगों ने न किया हो यह दूसरी बात है, परंतु यह शैली दृढ़ हो रही है। अभी तक गंभीर तुलनात्मक आलोचना पर कोई ऐसा सुंदर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसे आधार माना जा सके। इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की शैलियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त हुई हैं।

उपसंहार

सारांश यह है कि क्या कला पक्ष और क्या भाव पक्ष दोनों में अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रही है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा और

साहित्य का वर्तमान रूप बड़ा चमत्कारपूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तन काल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, उमंग है, और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण वर्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं।

विषयानुक्रमणिका

अ

आ

ग

च

छ

न

प

ल

व